UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182907

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 480.9 Accession No. P.G H 1510

Author I25V

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

आलोचना व निबन्ध

उर्दू साहित्य
का
इतिहास

आलोचना व निबन्ध

उर्दू साहित्य का इतिहास

लेखक
सैय्यद एहतिशाम हुसैन
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
अनजुमने-तरक़्क़ीए-उर्दू (हिन्द),
अलीगढ़

प्रथम संस्करण दिसम्बर १९५४ ई०

दानिश महल लखनऊ के प्रबन्ध में छपी
मुद्रक:—नवभारत प्रेस, नादान महल रोड, लखनऊ

उर्दू के हिन्दी-दोस्तों और हिन्दी के उर्दू-प्रेमियों
के नाम

—स० एहतिशाम हुसैन

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	प्रस्तावना—	८
१	—उर्दू भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक विकास	१३
२	—दक्षिण में उर्दू साहित्य	३३
३	—दिल्ली—१८ वीं शताब्दी में	५६
४	—अवध और उर्दू साहित्य	८६
५	—नज़ीर अकबराबादी और एक विशेष परम्परा	१२५
६	—दिल्ली की अन्तिम प्रतिभा	१३७
७	—उर्दू गद्य का विकास	१५५
८	—नई धारा से पहिले—पद्य और गद्य	१७७
९	—नवजागृति और नया साहित्य—(१)पद्य	२०५
१०	—नवजागृति और नया साहित्य—(२)गद्य	२५७
११	—नई दिशाएँ और भविष्य	२९५
१२	परिशिष्ठ (१) कुल पारिभाषिक शब्द	३५५
१३	परिशिष्ठ (२) सहायक पुस्तकें	३५८

प्रस्तावना

हिन्दी भाषा में उर्दू साहित्य के जो इतिहास लिखे गयेहैं उन्हें पढ़ कर बार-बार यह विचार होता था कि उर्दू साहित्य का एक ऐसा संक्षिप्त इतिहास लिखा जाना चाहिये जो वर्तमान विवेचनों पर आधारित हो और जिसमें साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से किया गया हो। इसमें देर होते देख कर जी चाहता था कि बाधाओं और त्रुटियों के होते हुए भी मैं स्वयं इस काम में लग जाऊँ, पर साहस न हुआ। मैंने सोचा, हिन्दी से प्रेम एक बात है और उसमें उत्तरदायित्व की भावना के साथ एक महत्वपूर्ण विषय पर पुस्तक लिखना दूसरी बात। पर यह सोचकर कि यह कार्य आवश्यक है मैंने एक निबन्ध की रूपरेखा तैय्यार करली। अभी उसके कुछ ही पन्ने लिखने की नौबत आई थी कि वर्धा की राष्ट्र भाषा प्रचार समिति ने उर्दू साहित्य का एक संक्षिप्त इतिहास लिखने के लिये मेरा निर्वाचन किया और संकोच के बावजूद मैंने इसका लिखना स्वीकार भी कर लिया। जैसा होना चाहिए था वही हुआ। मैं जिन कठिनाइयों का अनुभव कर रहा था उनसे अधिक सामने आईं। परन्तु एक बार इसे शुरू करके मैंने इसका समाप्त करना ही उचित समझा। अब यह रचना जैसी भी है आप के हाथ में है।

राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के साहित्य निर्माण विभाग ने मुझ पर विश्वास करते हुए केवल इतना ही लिखा कि यह इतिहास न तो बहुत गूढ़ हो और न बहुत साधारण, और लगभग तीन सौ पृष्ठों में समा जाय, इसलिये यह निर्णय मेरे लिये कठिन था कि इसकी सीमाएँ क्या हों। मेरी दृष्टि में उर्दू भाषा में भी उर्दू साहित्य का कोई ऐसा इतिहास नहीं था जिसे मैं नमूना बनाता, इसलिये मैंने सारे साहित्य को एक विशेष आलोचनात्मक सिद्धान्त पर अध्यायों में विभाजित

किया है और मेरा विचार है कि इससे उर्दू साहित्य की प्रगति के समझने में सुविधा होगी। इस पुस्तक का अङ्क न तो इतना उँचा रक्खा गया है कि इससे केवल उर्दू साहित्य के विद्वान ही आनन्द उठा सकें और न इतना नीचा है कि पाठक को ठीक से उर्दू साहित्य का परिचय भी प्राप्त न हो। इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कम से कम पृष्ठों में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त हो सके। इस प्रकार का काम करने वाले जानते हैं कि इन सीमाओं के अन्दर सरल, रोचक और सतुंलित इतिहास लिखना कितना कठिन काम है। मैं नहीं कह सकता कि इसमें मुझे कितनी सफलता प्राप्त हुई है। मुझे इस बात का अच्छी तरह अनुभव है कि इस किताब से विद्वानों को अधिक लाभ नहीं पहुँचेगा पर विद्यार्थी इसे अवश्य लाभदायक पाएँगे।

इस पुस्तक के लेखक का विचार है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और एक देश की सामाजिक चेतना और उसके आर्थिक विकास ही से विचार की सीमाएँ नियुक्त होती हैं। जीवन के लौकिक और भौतिक साधनों पर अधिकार रखने और न रखने के कारण समाज वर्गों में बट जाता है और वर्गों के अन्दर कभी स्पष्ट और कभी गुप्त रूप से संघर्ष जारी रहता है। अच्छा साहित्य सदैव जीवन के उच्च तत्वों और मानवता की उदार नीतों का साथ देता है, इसलिये इस इतिहास में साहित्य को जीवन और सांस्कृति, राजनीति और आदर्शों की पृष्ठ भूमि में रख कर देखने की चेष्ठा की गई है। इस प्रकार से, अगरचे यह संक्षिप्त पुस्तक आलोचनात्मक रूप ग्रहण कर गई है परन्तु इसमें केवल प्रसिद्ध लेखकों का परिचय दिया जा सका है, उनकी कृत्यों की आलोचना भी थोड़ी है क्योंकि विस्तार में जाना असम्भव था। कहीं-कहीं उदाहरण भी दे दिये गये है, जो और पढ़ना चाहेगा उसे काव्य-संग्रहों और अन्य पुस्तकों का अध्ययन करना होगा।

मुझे कठिनाई का सबसे अधिक अनुभव आधुनिक काल के विश्लेषण में हुआ क्योंकि इस युग में बहुत सी लहरें एक दूसरे को काटती हुई चल रही हैं, समय की गति तेज़ है, बहुत से प्रभाव एक साथ काम करते देख पड़ते हैं, साहित्य का क्षेत्र बहुत फैल गया है, परम्पराओं के बंधन टूट रहे हैं और जिस प्रकार जीवन नई दिशाओं में अग्रसर है उसी प्रकार साहित्य भी नये रूप धारण कर रहा है। इसलिये कम जगह में इसका परिचय देना नदी को बूँद में सीमित

करने के समान है। फिर भी इसका प्रयास किया गया है कि कोई महत्व पूर्ण बात छूटने न पाए। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि वर्तमान काल में भारतवर्ष की सभी भाषाओं के साहित्यकार बहुत कुछ एक ही दिशा में बढ़ रहे हैं और अपनी भूतकाल की परिपाटियों को सम्मुख रखते हुए भी एक ही आदर्श को अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं और वह आदर्श है मानव जीवन को अधिक से अधिक सम्पूर्ण बनाने के संघर्ष में उन शक्तियों का साथ देना जो इसका प्रयास कर रही हैं।

साहित्य विभिन्न रूपों में प्रगट होता है। गद्य और पद्य दो मोटी-मोटी शाखाएँ हैं और यह भी अन्य रूपों में विभाजित हैं। इन के अतिरिक्त साहित्यिक आन्दोलन भी चलते रहते हैं और क्षेत्र बड़ा होता चला जाता है। हर रूप और हर आन्दोलन आरम्भ से लेकर अपनी उन्नति या पतन तक एक इतिहास रखता है। एक विस्तृत पुस्तक में उन पर अलग-अलग लिखना उचित होगा पर यहाँ यह असम्भव था इसलिये उनका उल्लेख संक्षिप्त में किया गया है। जो आगे पढ़ना चाहेगा उसे उर्दू में पुस्तकें मिल जाएँगी। इस इतिहास को तो केवल एक प्रकार का परिचय ही समझ कर पढ़ना चाहिये। जो लोग उर्दू साहित्य के इतिहास का गवेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये अन्त में ऐसी पुस्तकों की एक संक्षिप्त सूची दे दी गई है जिनका अध्ययन लाभदायक होगा।

इस पुस्तक के लिखने में मेरे लिये सबसे कठिन प्रश्न भाषा का था क्योंकि मैं जो थोड़ी बहुत हिन्दी भाषा जानता हूँ वह किसी गंभीर विषय पर पूरी किताब लिखने के लिये काफ़ी नहीं कही जा सकती। इसी के साथ मेरा यह विचार भी है कि भाषा सरल होनी चाहिये। मैं हिन्दी और उर्दू को दो साहित्य और एक भाषा मानता हूँ। ऐतिहासिक कारणों से उनकी शैलियाँ और उन्नति की परम्पराएँ इतनी बदल गईं कि अब वह दो भावनाएँ मालूम होती हैं और बहुत से लोग जानकारी न रखने या संकीर्णता के कारण इसे ठीक भी समझते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। मैं समझता हूँ कि अगर हम अपने विचारों को ऐसी भाषा में प्रगट न कर सकें जो साधारण लोगों की समझ में आ जाय तो यह हमारी अयोग्यता और त्रुटि है और मैं अपनी इस त्रुटि को स्वीकार करता हूँ क्योंकि कहीं-कहीं मेरी भाषा कठिन हो गई है।

लिखने के बीच में यह अनुमान लगा कि कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है, जैसे ग़ज़ल, क़सीदा, तज़किरा, शेर इत्यादि। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनका अनुवाद हो सकता है पर मैं ने इसे आवश्यक नहीं समझा और उन्हें उसी प्रकार रहने दिया है। अन्त में एक परिशिष्ट बढ़ाकर ऐसे शब्दों की व्याख्या लिख दी है जो उपयोगी होगी।

हिन्दी के पाठकों में (और यही हाल दूसरी भाषाओं के पाठकों का भी है) दूसरी भाषाओं और विशेष कर उर्दू भाषा के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की ग़लतफ़हमियाँ फैली हुई हैं। मैंने इस पुस्तक में उन्हें दूर करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, न किसी लेखक की ग़लती निकाली है और न इस प्रकार अपने विचार प्रगट किये हैं कि किसी की ओर संकेत हो, फिर भी कहीं-कहीं बातों को शुद्ध रूप से प्रस्तुत करने में वह ग़लतियाँ स्वयं ठीक हो गई हैं। स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के इस युग में—इस वैज्ञानिक और सुन्दर युग में—भी हमारे सामने बड़ी कठिनाइयाँ हैं परन्तु अगर हम उदार हृदय से घृणा और संकीर्णता को त्याग कर दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्ठा करें तो हमारी उलझनें अवश्य कम हो जाएँगी। मैंने यह पुस्तक इसी आशा पर लिखी है कि इससे साम्प्रदायिकता और अन्धे देश-प्रेम की भावनाओं को चोट पहुँचेगी और ज्ञात होगा कि भारतवर्ष की सभी प्रगतिशील भाषाओं ने देश-भक्ति और मानवता की भावनाओं को अपने ढँग से बढ़ावा दिया है और उर्दू इसमें किसी से पीछे नहीं है।

यह पुस्तक १९५१ ई० के अन्त में लिखी जा चुकी थी पर किसी कारण से प्रकाशन के लिए नहीं दी जा सकी। फिर मैं अमरीका और यूरप चला गया, जब लौट कर आया तो इसके प्रकाशित करने की चिन्ता हुई। कई दोस्तों के आग्रह पर मुझे भी यही ठीक जान पड़ा कि मैं इसे अनजुमन तरक्क़ी-ए-उर्दू (हिन्दी) को दे दूँ जो उर्दू भाषा और साहित्य के विकास और उन्नति के लिए बड़े महत्वपूर्ण काम कर रही है। मेरा विचार है कि उर्दू के हितों की रक्षा के लिए उसको देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करना भी आवश्यक है,

लखनऊ विश्वविद्यालय
१-११-१९५४

स० एहातिशाम हुसैन

अध्याय १

उर्दू भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक विकास

भाषा विज्ञान के कई जानकारों ने भारतवर्ष को भाषाओं का "अजायबघर" कहा है। ग्रियरसन (Grierson) के अनुमान के अनुसार यहाँ १७६ भाषाएं और ५४४ बोलियाँ पाई जाती हैं। इस संख्या में बहुत सी वे भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जिनके बोलने वाले या तो किसी छोटे से क्षेत्र में सीमित हैं या इतने कम हैं कि वे भारतवर्ष के भाषा-इतिहास में कोई महत्व नहीं रखते। इसी प्रकार अधिकतर बोलियाँ ऐसी हैं जो अन्य भाषाओं के अधीन हैं, इसीलिये जब किसी ऐसी भाषा का इतिहास लिखने का आयोजन किया जाए जिसने देश की सांस्कृतिक उन्नति में प्रभावशाली भाग लिया है, उस समय यहाँ की उन सभी बड़ी बड़ी भाषाओं और बोलियों को दृष्टि में रखना होगा, जिनसे उसका सम्पर्क हुआ।

उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते हुए उत्तरी भारत की भाषाओं की उन्नति और विकास को भी सामने रखना इसलिये आवश्यक है जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उर्दू भाषा के उद्भव और उसके साहित्य के विकास को प्रभावित किया वे ही साधारणतः दूसरी भाषाओं के बनने और विकसित होने में सहायक रहीं। उर्दू भाषा का इतिहास एक प्रकार से भारतवर्ष के १,००० वर्षों का इतिहास है। उसी समय में भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का विकास भी हुआ। इस १,००० वर्ष में भारतीय समाज उन्नति और अवनति के जिन युगों से गुजरा उसका

प्रभाव यहाँ कि प्रत्येक भाषा और साहित्य पर पड़ा, किसी पर कम और किसी पर अधिक। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों ने किसी बोली या भाषा को आगे बढ़ा दिया और किसी की बाढ़ रोक दी। चुनानचे १० वीं शदी के बाद से कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ ऐसी एकत्र हो गई कि भारतीय आर्य भाषाओं के समूह में एक नई भाषा ने जन्म लिया, जिसको आज उर्दू कहा जाता है। अब यह देखना चाहिए कि इसका उद्घाटन और विकास किस प्रकार हुआ, उसे एक नई भाषा किस दृष्टिकोण से कह सकते हैं और भारतवर्ष की संस्कृति में उसका क्या स्थान है। विस्तार में न जाकर उसकी उत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण उसकी साहित्यिक परम्पराओं के समझने में बहुत सहायक होगा।

भारतवर्ष का इतिहास देखा जाय तो यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है कि यहाँ की भाषाओं में उसी समय कोई बड़ा परिवर्तन हुआ है जब देश के धार्मिक या राजनीतिक जीवन में कोई बड़ा अन्दोलन हुआ है। आर्य भाषाओं के प्रवेश से पहिले यहाँ द्राविड़ भाषा और संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई जिसमें आस्ट्रिक (Austric) और दूसरी जातियों की बोलियों और सभ्यताओं की लहरें भी देखी जा सकती हैं। कदाचित यह कहना ठीक होगा कि द्राविड़ संस्कृति ने पहिले की सांस्कृतियों को अपने अन्दर समेट लिया था। जो कुछ उसके बाहर था वह बहुत महत्व नहीं रखता था। आर्यों के आने के बाद उत्तरी भारत और मध्यदेश में आर्य बोलियों ने पहिले की भाषाओं की जगह ले ली। यह एक क्रान्तिजनक घटना थी कि उत्तरी भारत से वह भाषा लुप्त हो गई जो मोहनजदारो और हड़प्पा की सभ्यता की जन्मदाता थी। इसका सब से बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि अपने धार्मिक और सांस्कृतिक भेद भावों के कारण आर्य जाति के लोग द्राविड़ों में पूरी तरह मिल न सके। द्राविड़ों ने बाद में आर्य संस्कृति से बहुत कुछ लिया किन्तु आरम्भ में पूर्णतः अलगाव रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि द्राविड़ भाषा और संस्कृति ने आर्यभाषा और संस्कृति को प्रभावित नहीं किया, चर्चा केवल मात्रा की है। इस मनोरँजक विषय के वर्णन का यह अवसर नहीं है।

तो भारतवर्ष के भाषा सम्बन्धी इतिहास में यह पहिला महत्वपूर्ण परिवर्तन था जब आर्य यहाँ आए। इनके आने के पश्चात् वैदिक संस्कृति ने महत्ता प्राप्त कर ली। इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष में आर्य जाति ने

हिन्दुस्तानी समाज को वर्णों में इस प्रकार विभाजित कर दिया कि उच्च जाति की बोली और निम्न लोगों की बोलियों में बड़ा अन्तर पैदा हो गया। संस्कृत के प्राचीन नाटकों में ब्राह्मण, राजा और उसके मंत्री संस्कृत बोलते हैं तो निम्न वर्ग के लोग, जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं, प्राकृत बोलते दिखाए गए हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संस्कृत के साथ साथ प्राकृत भी मौजूद थीं। ब्राह्मण सभ्यता धार्मिक बन्धनों में फँसकर जितना अपने को ऊपर उठाती चली गई और अपनी भाषा को पवित्र बनाने के विचार से व्याकरण और शुद्ध उच्चारण के बन्धनों में कसती चली गई उतना ही निम्न वर्ग के लोग उससे दूर होते चले गए। कहने को तो संस्कृत आज भी भारतवर्ष की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भाषा है किन्तु इस पर सबसे बड़ी चोट उस समय लगी जब बौद्ध और जैन धर्म ने जन्म लिया और दूसरी बार हिन्दुस्तानी भाषा के इतिहास में वह महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, जिसको भारतीय आर्य भाषाओं का द्वितीय युग कहा जाता है और जिसमें संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत को बढ़ने और फैलने का अवसर मिला।

बौद्ध और जैन धर्म आर्य धर्म के ढाँचे के अन्दर ही एक ऐसे नए मोर्चे का विकास था जो ब्राह्मणों के अधिकारों के विरुद्ध स्थापित किया गया था क्योंकि उन्होंने धर्म को केवल विशेष संस्कारों का संग्रह बना रक्खा था। धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध मत एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था पर भारतीय संस्कृति के सामूहिक विकास में उसको आर्य संस्कृति के सामूहिक विकास में उसको आर्य संस्कृति के विरोध में कोई नई धारा नहीं कहा जा सकता। इसमें भी संदेह नहीं कि निम्न वर्ग जातियों को बौद्ध धर्म से बड़ी प्रेरणा मिली परन्तु वर्गों का वह आधार जो ब्राह्मण प्रतिष्ठा पर अवलम्बित था एक दम से नहीं टूटा। इस सम्बन्ध में हमें और बातों को छोड़ कर भाषा की दृष्टि से उस महान आन्दोलन का अनुमान लगाना है जो इस धार्मिक परिवर्तन के बहाव में पैदा हुआ था। बुद्ध ने जब अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया और बहुत से लोग उसमें जीवन के नए उद्देश्य देख कर सम्मिलित होने लगे तो उनके कई बड़े-बड़े शिष्यों ने, जो वैदिक धर्म और संस्कृत भाषा से भली भाँति परिचित थे, गौतम बुद्ध से कहा कि वह इस समय तक अपनी शिक्षा को स्थानीय बोलियों में प्रस्तुत करते रहे हैं, अब समय आ गया है कि उन्हें देश की पवित्र और सभ्य भाषा अर्थात् संस्कृत

में संग्रहित कर लिया जाए, परन्तु बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में डाक्टर सुनीति कूमार चटरजी ने जो शब्द लिखे हैं वह याद रखने योग्य हैं :—

"·····But Buddha refused and gave his great charter to all the languages of man. He recommended that man should study his words, 'each in his own language'. This gave great impetus to the literary employment of the spoken languages and it was indeed a movement of revolutionary character for the freedom of spirit, the full implication of which was not wholly grasped nor taken advantage of at the time."

(—Indo-Aryan and Hindi by Dr. S. K. Chatterji—1942)

इस प्रकार प्राकृतों को फलने फूलने का अवसर मिला। भारतवर्ष में भाषा सम्बन्धी यह दूसरा महान परिवर्तन था जो ६०० ई० पू० आरम्भ हुआ। इस युग में पाली, मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी और अन्य भाषाएँ भारत के विभिन्न भागों में अपनी जड़ें फैलाने लगीं। अभी यह दूसरा युग समाप्त भी नहीं हुआ था कि आर्य भाषाओं में फिर कुछ परिवर्तन होने लगे और प्राकृत में संस्कृत तत्सम कम होकर उनकी जगह तद्भव शब्दों का विकास हुआ। भाषा विज्ञान के जानकार इसको अपभ्रंशों का युग कहते हैं। अपभ्रंशों को परिवर्तन काल की बिगड़ी हुई भाषा भी कह सकते हैं। इनका उद्भव ८ वीं शताब्दी ईसवी ही में हो गया था। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी भारत की धार्मिक सभ्यता में उथल-पुथल हुआ और केन्द्रीय शक्ति टूट कर छोटे छोटे राज्यों में बटी तब भाषा पर भी उसका प्रभाव पड़ा। उस समय तक बौद्ध मत का ज़ोर भी घट चुका था और ब्राह्मण फिर अपने दार्शनिक तर्कों को संभाल कर आगे बढ़ रहे थे। भाषा विज्ञानकों ने अपभ्रंश को भारतीय आर्य भाषाओं के द्वितीय और तृतीय या आधुनिक युग को मिलाने वाली कड़ी कहा है। अपभ्रंशों का सिलसिला वैसे तो चौदहवीं शताब्दी तक चलता रहा परन्तु १,००० ई० के लगभग भारत

की आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हुआ और उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते हुए हमको इसी युग को सम्मुख रखना है।

भाषा विज्ञान के विद्वानों का विचार है कि भारत की वर्तमान आर्यभाषाओं का डौल अपभ्रंशों के अन्दर ही पड़ा और इस दफ़ा भी यह परिवर्तन एक महान एतिहासिक और सामाजिक क्रम का परिणाम था। दो बड़े-बड़े भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों की भाँति १,००० ई० के निकट यह नया आन्दोलन उस समय हुआ जब हिन्दुस्तान में मुसलमान बड़ी संख्या में आये। वैसे तो अरब और मुसलमान यहाँ बहुत पहिले से आ-जा रहे थे परंतु दसवीं शताब्दी के अंत से उनका आना एतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व रखता है। इस बात को न भूलना चाहिए कि यदि मुसलमान यहाँ न आते तो भी भाषाओं में परिवर्तन अवश्य होता परन्तु उसका रूप कुछ और होता। मुसलमानों के आने से भाषा परिवर्तन का प्रवाह बढ़ गया और वे जो बोलियाँ बोलते हुए भारत में आए थे उन बोलियों ने भी स्वाभाविक रूप से यहाँ की बोलियों पर प्रभाव डाला। इस परिस्थिति को भली भाँति समझने के लिए भारत के सामाजिक जीवन को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

जब दो राष्ट्र अथवा दो जातियों के लोग एक दूसरे से इस प्रकार घुलमिल जाते हैं जैसे बाहर से आनेवाले मुसलमान और हिन्दुस्तान के वासी, तो उनका प्रभाव एक दूसरे पर इतने असंख्य रूपों में पड़ता है जिनको अलग-अलग व्यक्त करना या उन्हें पूर्णतः समझना बहुत कठिन हो जाता है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक भावों को अलग अलग और मिला-जुलाकर देखना बहुत सी उलझी हुई समस्याओं पर प्रकाश डालेगा। भाषा को मनुष्यों के सामाजिक व्यवहारों ने ही जन्म दिया है और उसी व्यवहार के बदल देने से उसमें परिवर्तन होता रहता है। मुसलमानों के आने से भारत का वह सामाजिक जीवन एक नई राह पर चल पड़ा जिसमें बहुत दिनों से कोई महान घटना नहीं हुई थी। इसलिए भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण में बड़ी सहायता करती है और साथ ही साथ अपने विकास का मर्म भी खोलती जाती है। भाषा न तो निर्जन स्थान में पैदा होती है और न उन्नति कर सकती है। मुसलमानों के आने के पूर्व जो भाषाएँ भारतवर्ष में प्रचलित थीं उनमें की कई भाषाओं में मुसलमानों के आने के कारण वैसा ही

परिवर्तन हुआ जैसा संगीत, चित्रकला और भक्ति आदि में हुआ था। यदि ऐसा न होता तो भाषा-विज्ञान और भौतिक घटनाओं के प्रभाव के विचार बिल्कुल अशुद्ध हो जाते।

पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक अरब व्यापारी दक्षिणी भारत में मलाबार के तट पर आते रहे परन्तु उनकी अरबी भाषा का प्रभाव वहाँ की भाषाओं पर अधिक नहीं पड़ा। इसी प्रकार अरब के मुसलमान आठवीं शताब्दी के आरम्भ में सिन्ध में आए किन्तु उन्होंने भी भारतवर्ष के भाषा सम्बन्धी जीवन पर कोई गहरा चिह्न नहीं छोड़ा। परन्तु इसके पश्चात् जो मुसलमान ईरान की ओर से दसवीं शताब्दी के अन्त से यहाँ आने लगे उनका आना एतिहासिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्व रखता है। जो मुसलमान दो सौ वर्षों से ईरान में रहते थे उनमें कई सांस्कृतिक धाराएँ मिलती हैं। उनका धर्म तो अवश्य सामी(Semetic) था पर उनकी सभ्यता में ज़ोरो-आष्ट्रीयन (Zoroastrian) बौद्ध और मसीही धर्मों के तत्व भी देख पड़ते हैं। उनमें से अधिकतर की बोलचाल की भाषा फ़ारसी थी जो स्वयं एक बड़ी प्रभावशाली आर्य भाषा है। जब हम भारत की, और विशेष कर पंजाब और मध्यभारत की भाषाओं के विकास का वृतान्त पढ़ें तो ऊपर लिखी हुई बातों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। नई हिन्दुस्तानी भाषाएँ जिस युग में विकसित हुईं, सभ्यताओं के मेल-जोल का भी वही समय था। जब कोई व्यक्ति भाषाओं का सामाजिक रूप से पाठ करना चाहे तो उसे हिन्दुस्तानी समाज के परिवर्तनों और ऐतिहासिक घटनाओं को देखना ही पड़ेगा।

हर्षवर्धन के बाद से भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और ऐसी स्थिति पैदा होगई जब कि किसी प्रकार की राजनैतिक एकता का विचार भी नहीं किया जा सकता था कि उसी समय अर्थात् १,००० ई० के लगभग मुसलमानों ने पंजाब के बड़े भाग को अपने आधीन कर लिया। जब तक मुहम्मद ग़ोरी ने अपनी स्वाधीनता स्थापित नहीं कर ली उस समय तक वहाँ ग़ज़नवी राज्य करता रहा। मुहम्मद ग़ोरी के समय में राज्य की सीमा पंजाब से बढ़कर मध्य भारत तक पहुँच गई और मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु के पश्चात् सन् १२०६ ई० में ग़ुलाम घराने ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस समय मध्य एशिया में चंगेज़ खाँ ने ऐसी हलचल मचा रक्खी थी कि बहुत से ईरानी हिन्दुस्तान में भाग आए। फिर

खिलजियों का राज्य स्थापित हुआ जिसकी सीमा थोड़े ही समय में पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैल गई। मलिक काफूर के विजयी आक्रमणों ने उत्तरी और दक्षिणी भारत को एक कर दिया और वाह्य रूप से सारा देश एक केन्द्र के आधीन संगठित हो गया। तुग़लक़ों के समय में एक याद रखने योग्य घटना यह हुई कि मुहम्मद तुग़लक़ ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर दक्षिणी भारत में देवगिरि कर दी और सारे दिल्ली निवासियों को आदेश दिया कि एक-एक करके वहाँ जाएँ और जब यह आदेश उचित मालूम न हुआ तो साल भर के बाद ही दिल्ली वापस लौटने का हुक्म दे दिया। बहुत से लोग पलट न सके और वहीं रह गए। अभी आगे चलकर जब हम उर्दू के उद्भव और उसके प्रारम्भिक विकास का विश्लेषण करेंगे तो इस घटना की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकेगा। दिल्ली को केन्द्र बनाकर कई वंश के नरेशों ने भारतवर्ष पर राज्य किया। सैनिक और प्रबन्धकर्त्ता इधर उधर आते जाते रहे, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी में मुग़ल आए, एक दफ़ा फिर सबल शासन प्रबन्ध स्थापित हुआ और हिन्दुस्तान के वे भाग जो पिछले राज्यों को निर्बल पाकर स्वाधीन हो गए थे, फिर मुग़ल राज्य के आधीन आगए। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में जीवन के प्रत्येक विभाग में असाधारण उन्नति हुई और जब मुग़ल राज्य का पतन होने लगा तो मराठों, सिक्खों और सबसे बढ़कर ईस्ट इन्डिया कम्पनी का उत्थान हुआ।

इस एतिहासिक पृष्ठ-भूमि में उर्दू भाषा और साहित्य का जन्म भलीभाँति हमारी समझ में आ सकेगा। पंजाब में ग़ज़नवी सम्राटों के पौने दो सौ वर्ष के शासन काल में अच्छा ख़ासा सांस्कृतिक लेन देन हुआ। महमूद ग़ज़नवी में चाहे जो त्रुटियाँ रही हों पर वह बड़ा विद्या प्रेमी था और संस्कृत भाषा की महत्ता को स्वीकार करता था। भारत से अपना सम्बन्ध प्रकट करने के लिए उसने अपनी मुद्रा पर संस्कृत शब्दों को भी जगह दी थी। बेरुनी,[1] जो उस समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान था और जिसे भारत के धर्म, गणित और सामाजिक समस्याओं से बड़ा प्रेम था, इस मेल-जोल की सबसे बड़ी यादगार है।

१—अबू रैहान बेरुनी (९७०—१०३८ ई०) बड़ा विद्वान था। भारत पर उसकी "किताबुल-हिन्द" प्रसिद्ध है।

इसने भी लिखा है कि उस समय संस्कृत की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद अरबी और फ़ारसी में हुए। इस युग के बड़े-बड़े फ़ारसी कवियों की रचनाओं में भी एक-आध शब्द हिन्दुस्तान की भाषाओं के मिलते हैं। इतिहासकारों ने ख्वाजा मसऊद साद सलमान को हिन्दी का पहिला कवि माना है जिसने अपनी हिन्दी कविताओं का पूरा संग्रह तैय्यार कर लिया था और १०६६ ई० के लगभग वह फ़ारसी अरबी में कविताएँ लिखता था। लाहौर का रहने वाला था। उसके हिन्दी-संग्रह की चर्चा अमीर खुसरो और मुहम्मद औफ़ी ने की है, पर अब वह नहीं मिलता है। इसका अर्थ यह है कि हिंदू और मुसलमानों का मेल-जोल व्यर्थ नहीं जा रहा था बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में दिव्य रूप से प्रकट हो रहा था। यहाँ तक की राजपूत राजसभाओं के कवि नरपति नाल्ह और चन्द बरदाई ने भी फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग किया है। फिर जब दिल्ली मुसलमानों की राजधानी बनी तो मेल-जोल की यह आवश्यकता और बढ़ गई और भाषा सम्बन्धी घनिष्ठता का केन्द्र पंजाब से दिल्ली आ गया जहाँ की भाषाओं में मिलावट आरम्भ हुई।

इस अवसर पर भाषा से दिलचस्पी लेने वालों को यह बात नहीं भूलना चाहिए कि जब कोई देश या राष्ट्र किसी दूसरे देश या राष्ट्र पर विजय पाता है तो विजय पाने वाला अपनी भाषा को विजित राष्ट्र के लोगों पर नहीं लादता बल्कि अपनी भाषा के कुछ जरूरी और काम देने वाले शब्द उस देश की भाषा में मिलाकर स्वयं वही भाषा बोलने और उसी को अपनाने लगता है। जो मुसलमान यहाँ आए वे तुर्की, अरबी, फ़ारसी और दूसरी मध्य एशियाई भाषाएँ बोलते थे किन्तु उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यवहार का माध्यम फ़ारसी थी। जब ये लोग यहाँ आए तो उनको अधिकतर आर्य-भाषाओं से ही काम पड़ा, जिनका रूप बदला हुआ था पर मूल एक ही थी। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचार अलग थे परन्तु राजसिंहासन पर बैठकर हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाह, मुसलमान बनने से अधिक बादशाह बनने की भावना रखते थे और अपने राज्य की स्थापना और पुष्टता के लिए केवल हिन्दुओं से ही नहीं, मुसलमानों से भी लड़ते थे। जिस किसी ने भारतवर्ष का इतिहास पढ़ा है वह इसे भली-भाँति

जानता है कि ग़ज़नवियों के समय से लेकर मुग़लों के अन्तिम दिनों तक यही होता रहा। मुसलमान नरेश दुनिया के और नरेशों की तरह आन-बान से राज करने को अपना प्रथम कर्तव्य समझते थे। धर्म फैलाना उनका लक्ष्य नहीं था। वे जिस साम्राज्यवादी श्रेणी और राजसी परम्परा से सम्बन्ध रखते थे उसमें किसी रुकावट के बिना राज्य करना उनका लक्ष्य था। धार्मिक बाधाओं को तोड़ने में उन्हें बस उतना ही समय लगता था जितना सामाजिक या दूसरी बाधाओं के तोड़ने में। यह मुसलमान बादशाह यहीं के हो गए थे। यहीं की मिट्टी से जन्म लेकर और यहीं की धर्ती में सोकर वे यहाँ के लोगों में घुल-मिल जाना चाहते थे। उन्होंने यहाँ की बहुत सी रस्मों और रीतों को अपना लिया था और भारतीय जीवन में आनन्द प्राप्त करने लगे थे। उन्होंने जो कुछ यहाँ से लिया और यहाँ की संस्कृति को जो कुछ दिया, उसके विवरण का अवसर नहीं है।

जब लड़ाइयों, चढ़ाइयों, आक्रमणों और संग्रामों से उत्पन्न होने वाली घृणा की लहर उठी तो हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय में मेल मुहब्बत के सोते फूट पड़े, जिन्होंने कला और धर्म सबको लपेट में ले लिया और उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक दूसरे के समीप कर दिया। भक्ति को एक लोक-प्रिय और उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आन्दोलन बनाने में, हिन्दू और मुसलमान दोनों भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएँ इस प्रकार निकट आ गई हों तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की सम्भावना दूर नहीं रह जाती जो मिले जुले सामाजिक जीवन का चिह्न हो। ऐसे सामाजिक जीवन के विकास के लिए उसका निखर कर ऊपर आ जाना आवश्यक है।

इस बात पर लगभग सभी वैज्ञानिकों का मत एक है कि वर्तमान आर्य भाषाएँ १,००० ई० के निकट भाषा का रूप ग्रहण करने लगीं और उसके बनने में, विशेष कर मध्य भारत और पंजाब की भाषाओं के बनने में फ़ारसी भाषा और मेल जोल ने बड़ी सहायता की। अभी हम ऊपर देख आए हैं कि प्राकृत के दूसरे युग के अन्त में अपभ्रंश का आरम्भ हो गया और शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश बोली जाने लगी थी। उसका क्षेत्र पंजाब, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में सीमित किया जा सकता है। मुसलमान पहले पहल

पंजाब ही में बसे इसलिए वे वहीं की भाषा काम में लाते होंगे और वहीं फ़ारसी, अरबी और भारतवर्ष की बोलियों में पहिले पहल मेल जोल हुआ होगा। अगर आज ख़्वाजा मऊसद साद सलमान की हिन्दी रचनाएँ मौजूद होतीं तो हम उस समय के मेल-जोल का कुछ अनुमान कर सकते। परन्तु लगभग ढाई सौ वर्ष बीतने के बाद दिल्ली में अमीर ख़ुसरो ने जन्म लिया और अन्य सूफ़ी महापुरुषों ने भारतीय बोलियों में भक्ति और प्रेम के संदेश सुनाए, जिनके कुछ भाग प्राचीन पुस्तकों में अब भी मिल जाते हैं। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि से उर्दू भाषा की जन्म कथा लिखना चाहें तो हमें शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली आधुनिक आर्य भाषाओं का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। उर्दू का जन्म स्थान पंजाब और दिल्ली है। दिल्ली उत्तरी भारत के मध्य में एक ऐसे स्थान पर है जहाँ शौरसेनी प्राकृत के गर्भ से पैदा होने वाली कई भाषाएँ आकर मिलती हैं। यह भाषाएँ अलग अलग होते हुए भी अपने आधार में एक थीं। दिल्ली के एक ओर हरियानी और बाँगरु थीं, दूसरी ओर खड़ी बोली, पश्चिम में पंजाबी का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है, दक्षिण-पूर्व में ब्रजभाषा का। दो तीन सौ साल तक तो इन भाषाओं में कहने योग्य कोई साहित्य पैदा नहीं हुआ परन्तु इनकी नींव दृढ़ होती रही। फिर कृष्ण भक्ति के ज़ोर से ब्रज-भाषा में कविगण अपनी कला दिखाने लगे। राजस्थानी और उसकी बोलियों में थोड़ा बहुत साहित्य पैदा होने लगा परन्तु खड़ी बोली केवल बोल चाल ही की भाषा बनी रही। इसका सबसे बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि ऊपरी श्रेणी के लोग जो लिखने पढ़ने से दिलचस्पी रखते थे अपना काम फ़ारसी से चलाते थे और केन्द्र में ऐसा होना सम्भव भी था। क्लासिकल (Classical) भाषाएँ अपने गहरे प्रभाव से प्राकृत की उन्नति में सदैव बाधक होती हैं। यही हाल फ़ारसी के होते हुए दिल्ली के आस पास की बोलियों का था। फिर भी खड़ी बोली में, जो दिल्ली के बाज़ारों की भाषा थी, अरबी फ़ारसी के वे शब्द प्रवेश करते रहे जिनका प्रयोग राजनैतिक एकता के लिए आवश्यक था। इस खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ उससे वह भाषा बनी जिसको साधारणतः हिन्दुस्तानी कहा जाता है। इस हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं:— उर्दू, जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्द अधिक होते हैं और जिसे फ़ारसी लिपि में लिखा जाता है और हिन्दी, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग

होता है और जिसे देवनागरी में लिखते हैं। यह भी न भूलना चाहिए कि खड़ी बोली का यह रूप पहिले उर्दू ही की शक्ल में निखरा और जिसने भी हिन्दुस्तानी को साहित्य के काम में लाना चाहा उसने उर्दू ही को अपनाया। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि शौरसेनी अपभ्रंश से विकास पाने वाली अन्य भाषाओं में एक उर्दू भी है, यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियानी के व्याकरणों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। आगे चल कर हम देखेंगे कि कई विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के इस सिद्धान्त को समझने में कितनी ग़लती की है।

१,००० ई० के बाद से भारतवर्ष में कई नई भाषाएँ दिखाई देने लगती हैं। २०० वर्ष बीत जाने के बाद हम यह बात बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि जो मुसलमान भारतवर्ष में पैदा हुए और यहाँ के लोगों में घुलमिल गए उनकी मातृ भाषा फ़ारसी नहीं हो सकती थी। पर धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रयोग अनिवार्य रहा होगा और वे जिस भाषा के क्षेत्र में रहते होंगे उसी क्षेत्र की भाषा का प्रयोग करते होंगे। सच यह है कि भाषा का कोई धर्म नहीं होता, सामाजिक आवश्यकताएँ उसको प्रचलित करती हैं। यदि हम भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं का इतिहास पढ़ें तो हमें ज्ञात होगा कि भाषा से काम लेने के सम्बन्ध में हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं था, मुसलमानों ने ब्रजभाषा और अवधी में उसी प्रकार रचनाएँ की हैं जिस प्रकार हिन्दुओं ने। इस सम्बन्ध में क़ुतबन, रसखान, जायसी और रहीम के नाम उसी आदर से लिए जाते हैं जैसे तुलसीदास, सूर और मीरा के। इसलिए उर्दू साहित्य के इतिहास को इसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए, नहीं तो उसका सांस्कृतिक महत्व सामने नहीं आ सकेगा।

उर्दू की उत्पत्ति के विषय में हिन्दी के कई लेखकों ने बहुत ग़लत विचार प्रकट किए हैं। उर्दू के लेखकों से भी बड़ी बड़ी ग़लतियाँ हुई हैं, उनकी छानबीन और आलोचना इस स्थान पर नहीं हो सकती पर इतना कहना आवश्यक है कि उर्दू न तो विदेशी भाषा है, न वह सिन्ध में पैदा हुई और न दक्षिणी[1] भारत में, न पंजाबी[2] से निकली न

१—यह विचार अब कोई प्रकट नहीं करता, १५-२० वर्ष पूर्व कई लेखकों ने यह बात कही थी।

२—देखो 'पंजाब में उर्दू' लेखक महमूद शीरानी।

ब्रजभाषा[1] से, वरन् जैसा कि ऊपर कहा गया दिल्ली के चारों ओर बोली जाने वाली कई बोलियों में फ़ारसी अरबी के शब्दों के मिलने और पश्चिमी हिन्दी की उस बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, रूप ग्रहण करने से एक नई भाषा का विकास हुआ। आरम्भ में उस पर पंजाबी का प्रभाव अधिक रहा पर धीरे-धीरे खड़ी बोली ही उर्दू के रूप में निरखती गई।[2]

इससे पहिले कि उर्दू साहित्य के प्रारम्भिक चिह्न की खोज की जाए, यह भी देख लेना चाहिये कि प्राचीन इतिहासों में उर्दू के क्या क्या नाम मिलते हैं, क्योंकि इसका प्रभाव उसके साहित्य के इतिहास पर पड़ता है। आरम्भ में जिन लोगों ने फ़ारसी में भारतवर्ष के इतिहास लिखे या हिन्दुस्तान में सैर करने के लिये आए और अपनी यात्रा का वर्णन लिखा, उन्होंने यहाँ की भाषाओं को साधारणतः 'ज़बाने हिन्द' 'हिन्दी' या 'हिन्दुई' लिखा है। इन लोगों की पहुँच अधिकतर पंजाब, गुजरात और उत्तरी भारत तक थी। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उन्होंने यहीं की भाषाओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया होगा। अमीर खुसरो ने भी जहाँ भारत की भाषाओं का वर्णन किया है वहाँ 'हिन्दी' और हिन्दुई के अतिरिक्त "ज़बाने देहली" भी लिखा है। मुहम्मद तुग़लक़ और फ़ीरोज़ तुग़लक़ के राज्यकाल में जो इतिहास की पुस्तकें लिखी गईं उनमें भी उत्तरी भारत की बोल चाल की भाषा के लिये "हिन्दुई', लिखा गया है। १४ वीं और १५ वीं शताब्दियों में दक्षिण में उसको "ज़बाने हिन्दुस्तान", "हिन्दी" अथवा "हिन्दुस्तानी" कहा जा रहा था, कभी-कभी उसी को "दकनी" या "दखनी" भी कहते थे। १६ वीं शती में अबुल फ़ज़ल ने अपनी प्रसिद्ध रचना, "आइने अकबरी" में हर प्रान्त की भाषा का अलग-अलग वर्णन किया है और उसमें भी "हिन्दुई" शब्द का प्रयोग किया है। गुजरात में इसे "हिन्दी" "हिन्दुई" और "गुजरी" तीनों नामों से सम्बोधित किया गया है। लगभग १८ वीं शदी के अन्त तक "उर्दू" शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं मिलता, उसकी जगह "रेख़ता" या

१—देखो 'आबे-हयात" लेखक मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद'।

२—इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है। लेखक ने भी अपनी रचना 'हिन्दुस्तानी लिसानियात का खाका' में इस विषय पर लिखा है।

"हिन्दी" दो ही शब्द कवियों की ज़बान पर चढ़े हुए थे। "रेख़्ता", संगीत का एक पारिभाषिक शब्द था, इसमें राग-रागनियाँ मिलाई जाती थीं। अधिकतर यह शब्द पद्य के लिए काम में लाया जाता था, गद्य के लिए हिन्दी ही बोलते और लिखते थे। इस प्रकार उर्दू के कई नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ तो किसी विशेष प्रान्त या क्षेत्र में बोले जाते थे और कुछ किसी विशेष समय में। मुग़लों की उन्नति के समय में महल और सेना से सम्बन्धित बाज़ार होते थे, वहाँ मिली जुली बोलियाँ बोली जाती थीं, उसके लिए कभी-कभी "ज़बाने उर्दू" या "ज़बाने उर्दूए मुअल्ला"का प्रयोग किया जाता था। १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से कुछ पहिले उर्दू का शब्द भी भाषा के अर्थ में बोला जाने लगा। उसी समय से युरोपियन लेखकों ने इसे हिन्दुस्तानी कहना भी आरम्भ किया।[1]

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि १२ वीं सदी इसवी में ख़्वाजा मसऊद ने हिन्दी में कविताएँ लिखी थीं पर उनका पता नहीं चलता। आगे बढ़ते हैं तो १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों में कई सूफ़ी फ़क़ीर देश के कोने-कोने में फिरते दिखाई देते हैं। यह बात बिना किसी संकोच के मानी जा सकती है कि वे साधारण लोगों के सामने फ़ारसी और अरबी न बोलते होंगे बल्कि किसी ऐसी भाषा से काम लेते होंगे जो उनकी समझ में आ सके। हम यह भी समझते हैं कि उस समय कोई ऐसी बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी जिसमें वह धर्म और भक्ति के गहरे विचार सरलता से प्रगट कर सकें इसलिए उनको मजबूरन बहुत से फ़ारसी अरबी के शब्द बोलचाल की भाषा में मिलाने पड़ते होंगे। इस प्रकार के बहुत से वाक्य और कई कविताएँ मिलती हैं जिनमें हम उस उर्दू की खोज लगा सकते हैं जो बन रही थी। इस सम्बन्ध में सबसे पहला नाम बाबा फ़रीद शकरगंज का मिलता है। भाषाविज्ञान के जानकारों ने कई दोहों को उनका नहीं माना है पर प्राचीन पुस्तकों में उनके बहुत से कथन और शेर मिलते हैं। इसी प्रकार शेख़ हमीदुद्दीन नागोरी (मृ० १२७४ ई०), शेख़ शर्फ़ुद्दीनबूअली क़लन्दर (मृ० १३२३ ई०), अमीर

---

१. इस पुस्तक में हम भ्रम से बचने के लिए उर्दू ही शब्द का प्रयोग करेंगे।

ख़ुसरो (मृ० १३२४ ई०), शेख़ सिराजुद्दीन (मृ० १३५६ ई०), शेख़ शरफ़ुद्दीन मनेरी (मृ० १३७० ई०), मख़दूम अशरफ़ जहाँगीर (मृ० १३५५ ई०) शेख़ अब्दुलहक़ रुदौलवी (मृ० १४३३ ई०), हज़रत गेसूदराज़ (मृ० १४२१ ई०), सैय्यद मुहम्मद जौनपूरी (मृ० १५०४ ई०), शेख़ बहाउद्दीन बाजन (मृ० १५०६ ई०) शाह हाशिम अलवी (मृ० १६४६ ई०) इत्यादि के बोल और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि १३ वीं शताब्दी से फ़ारसी अरबी शब्दों के मेल से एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जन साधारण की समझ में आ सकती थी और जिसको सूफ़ी फ़क़ीर प्रचार के काम में लाते थे।

इन नामों में अमीर ख़ुसरो और गेसूदराज़[1] साहित्य इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अमीर ख़ुसरो फ़ारसी के महान लेखक थे और उनकी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं जो ईरान और भारत दोनों में समान रूप से आदरणीय समझी जाती हैं। उनकी पुस्तकों में भारत की बोलियों, त्योहारों, ऋतुओं, फलों, फूलों की चर्चा की गई है, यहाँ की जल-वायु, सुन्दरता और जीवन के विभिन्न रूपों को सराहा गया है। यहाँ की संगीत कला में वह केवल निपुण ही नहीं थे बल्कि अपनी ओर से भी उन्होने उसे बहुत कुछ दिया है। वे अमीर भी थे और फ़क़ीर भी। एक ओर उनकी पहुँच राजदरबार तक थी, दूसरी ओर वह जनता से बिल्कुल निकट थे, इसीलिये फ़ारसी के अतिरिक्त उन्होने जन भाषा में भी बहुत सी कविताएँ, दोहे, पहेलियाँ और मुकरनियाँ लिखी हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनमें से सभी चीज़ें उनकी नहीं हैं पर जो कुछ उनका जान पड़ता है उसका अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि उन्होंने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, मिली जुली खड़ी और ब्रज का प्रयोग किया है। गीतों में वह अधिकतर ब्रज ही से काम लेते थे। उनके नाम से एक कविता 'ख़ालिक़बारी' भी मिलती है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि वह खुसरो लिखित है भी या नहीं। परन्तु ठीक यह मालूम होता है कि जो खालिकबारी हमको आज मिलती है उसका बहुत सा भाग बाद में दूसरों ने जोड़ दिया है और जो कुछ ख़ुसरो ने लिखा था वह उसी में खो गया है। ख़ालिक़बारी में प्रचलित अरबी, फ़ारसी शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्द कविता के रूप में लिखे गए हैं। मध्य एशिया में

१—गेसूदराज़ का उल्लेख दूसरे अध्याय में होगा।

चंगेज़ खाँ और तातारी लुटेरों के आक्रमणों से डरकर बहुत से ईरानी विद्वान और व्यापारी भारत में प्रवेश कर आए थे। उनको यहाँ के शब्द और बोलचाल के वाक्य जानने की आवश्यकता रही होगी और यदि अमीर खुसरो ने उनके लिए एक ऐसा शब्द-कोश तैयार कर दिया तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम पूरे विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि ख़ालिक़बारी अमीर खुसरो की रचना नहीं है। ख़ुसरो की कविताओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

गोरी सोवै सेज पर, और मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, रैन भई सब देस॥

× × ×

जब यार देखा नैन भर दिल की गई चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाए कर॥
तूँ तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है।
तुझ दोस्ती बिसयार[1] हैं, इक शब[2] मिलो तुम आय कर॥
ख़ुसरो कहे बातें गजब, दिल में न लावे कुछ अजब।
क़ुदरत ख़ुदा की है अजब, जब जिव दिया गिल[3] लाय कर॥

× × ×

ज़े हाले-मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल,[4] दुराए नैनां बनाए बतियाँ।
कि ताबे-हिजरां न दारम ऐ जाँ,[5] न लीहो काहे लगाए छतियाँ॥
शबाने-हिजरां दराज़ चूँ ज़ुल्फ़-व-रोज़े-वस्लत चूँ उम्र कोताह।[6]
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥
चु शमअ सोज़ाँ, चु ज़र्रा हैराँ, ज़े मेहरे आँ मह बगशतम आख़िर।[7]
न नींद नैनां न अंग चैनां, न आप आवें, न भेजें पतियाँ॥

अमीर खुसरो की पहेलियाँ भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व रखती हैं। ये पहेलियाँ देखिए:—

१—अधिक २—रात ३—मिट्टी ४—दीन की दशा से आँखें न चुराओ। ५—हे मेरे प्राण! विरह सहने की शक्ति मुझमें नहीं है। ६—विरह की रातें तेरे केश की भाँति लम्बी और मिलन का दिन आयु की तरह छोटा है। ७—इस चंद्रमा के प्रेम में जलकर अन्त में मैं दीप की भाँति जलने और कण के समान परेशान रहने लगा।

बाला था जब मनको भाया,
बड़ा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाँव,
बूझै, नहीं तो छोड़ै गाँव ॥

—(दीप)

× × ×

एक थाल मोती से भरा,
सबके सर पर औधा धरा।
चारों ओर वो थाल फिरै,
मोती उससे एक ना गिरै ॥

—(आकाश)

यह बात हम विश्वास से न कह सके कि खुसरो ने कितनी रचनाएँ कीं, पर इसमें तो बिल्कुल संदेह नहीं कि उन्होंने दिल्ली के आस पास बोली जाने वाली बोली का प्रयोग अपनी कविताओं में किया। वह एक फ़ारसी शेर में लिखते हैं।

चु मन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुर्सी।
ज़े मन हिन्दुई पुर्स, ता नग़्ज़ गोयम ॥

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)

अमीर खुसरो ने जिस भाषा को हिन्दुई कहा है, सच यह है कि हम उसी से हिन्दी भाषा का इतिहास आरम्भ कर सकते हैं। ऊपर इस बात की ओर सँकेत किया जा चुका है कि भाषा सामाजिक जीवन के आधार पर बनती है, उसका कोई धर्म नहीं होता। विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले जब एक दूसरे के निकट आते हैं तो शब्दों का लेन देन आवश्यक होता है। जिस प्रकार पृथ्वीराज रासों में चन्द बरदाई ने फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रयोग किया था उसी प्रकार फ़ारसी कवियों ने भी यहाँ के शब्द लिए। चन्द बरदाई ने जो शब्द लिए हैं अगर उन पर विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि अधिकतर वही शब्द हैं जिनका कुछ सामाजिक महत्व था।

अमीर ख़ुसरो का युग ख़िलजियों और तुग़लक़ों का युग था। फ़ीरोज़ तुग़लक़ के समय में जो ऐतिहासिक ग्रंथ फ़ारसी में लिखे गए उनमें न जाने कितने शब्द भारतीय भाषाओं से लिए गए हैं जैसे ठग, लौंडी, मण्डल, ढोलक, मण्डी, चौधरी, राज, घड़ियाल, चूना इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त समयकालीन इतिहासों से यह भी मालूम होता है कि पाठशालाओं में जो फ़ारसी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं उनका अर्थ भारतीय भाषाओं में समझाया जाता था। इससे भी पता चलता है कि हिन्दुओं मुसलमानों के मेल जोल से भारतवर्ष की नवीन आर्य भाषाएँ प्रभावित हो रही थीं और जिस प्रकार राजस्थानी बुन्देली, व्रज, अवधी इत्यादि का विकास हो रहा था उसी प्रकार उर्दू भी अपनी जड़ें भारतवर्ष की भूमि और समाज में फैला रही थी। उत्तरी भारत में यह भाषा बन तो रही थी पर साहित्य में इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा था। इसके विपरीत दक्षिणी भारत में उसे साहित्य के काम में भी लाया जा रहा था। इसका विस्तृत उल्लेख दूसरे अध्याय में किया जाएगा।

यदि हम इस भाषा के इस तेज़ी से बढ़ने पर विचार करें तो उसका एक बड़ा और स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि दिल्ली की फ़ौजों में हर स्थान के लोग होते थे, उनमें हिन्दू भी होते थे, और मुसलमान भी, वे एक जगह से दूसरी जगह आते जाते रहते थे, उनमें से अधिकतर, राज्य-भाषा से, जो फ़ारसी थी, अनभिज्ञ थे और संस्कृत से जो यहाँ के अधिकतर लोगों की धर्म-भाषा थी, अपरिचित थे। इसलिए उनके आपसी व्यवहार का माध्यम बोलचाल की कोई ऐसी ही भाषा हो सकती थी जिसमें आवश्यकता के अनुसार फ़ारसी, अरबी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी होता हो किन्तु जिसका आधार केन्द्रीय इलाक़े की बोलचाल की भाषा हो। दिल्ली के राजधानी होने के कारण खड़ी बोली के सिवा और कोई नहीं हो सकती थी। उस पर पँजाबी, हरियानी और व्रज का प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य था और जब हम आगे बढ़कर दक्षिणी उर्दू का वृतान्त पढ़ेंगे तो उन प्रभावों की खोज लगाने का अवसर भी मिलेगा।

उर्दू के बनने और फैलने का दूसरा बड़ा कारण यह था कि मुसलमान नरेशों ने यहाँ के प्राचीन ग्रामीण जीवन और भूमिकर के नियमों को साधारणतः वैसा ही रहने दिया। कुछ नए कर तो अवश्य बढ़ा दिए पर जन समूह की आर्थिक स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं

हुआ। इसका मतलब यह है कि शासन प्रबन्ध चलाने और कर वसूल करने के लिए उन्हें गाँव के मुखिया और स्थानीय कर्मचारियों पर निर्भर होना पड़ा। ये लोग राजदरबार की फ़ारसी भाषा और जनता की स्थानीय भाषाओं के बीच में एक कड़ी का काम करते थे और अगर एक ओर वह कभी कभी फ़ारसी पारिभाषिक शब्दों से काम लेते थे तो दूसरी ओर स्थानीय शब्दों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे। इस प्रकार वे सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं जो एक नई भाषा में शक्ति पैदा करती हैं और उसके क्षेत्र को विस्तृत करके उसका स्वभाव इस प्रकार का बनाती हैं कि वह अपनी आवश्यकताओं को देखते हुए दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर अपना काम चलाए।

इससे पहिले कि हम उर्दू साहित्य की खोज में दक्षिण और गुजरात की ओर जाएँ, भारतवर्ष की नवीन आर्य भाषाओं पर एक दृष्टि डाल लेना लाभदायक होगा। उर्दू के क्षेत्र से निकट पंजाबी थी जिसमें बहुत दिनों तक थोड़ी सी कहावतों और दोहों को छोड़ किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चलता। यही हाल हरियानी का भी था। राजस्थानी बोलियों में अवश्य राजपूत राजाओं के दरबार में काफ़ी साहित्य इकट्ठा हो गया था, पर दूसरी भाषाओं की उन्नति के सामने वह दब सा गया। ब्रजभाषा ने १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में महत्वपूर्ण उन्नति की और उसकी चलाई हुई परम्पराओं ने २० वीं शताब्दी के आरम्भ तक कवियों को प्रभावित किया। बुन्देली में बहुत सा प्रबन्ध काव्य मिलता है जिनके समय के बारे में मतभेद है। अवधी ने ब्रजभाषा ही के समान १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में असाधारण प्रगति की। बंगाली और उड़िया में भी उसी समय से साहित्य मिलने लगता है। मराठी में १३ वीं और १४ वीं शताब्दी में भक्तों ने काव्य का एक प्रभावशाली भंडार एकत्र कर दिया। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि जिन आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव ११ वीं शताब्दी में हुआ था उनमें साहित्य उस समय पैदा होना आरम्भ हुआ जब मुसलमान यहाँ कई सौ वर्ष तक रह चुके थे। इनमें से कई भाषाओं में उनकी रचनाएँ भी मिलती हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फ़ारसी के अतिरिक्त वे स्थानीय भाषाओं में भी लिखते थे और यद्यपि वे धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से फ़ारसी और अरबी जानने की चेष्टा भी करते थे पर यह बात सब के लिए सम्भव न थी।

इस सारे वाद-विवाद से यह परिणाम निकलता है कि जो नवीन भाषा उर्दू के रूप में निर्माणित हो रही थी वह उस समय तक लोगों को अपनी ओर न खींच सकी जब तक वह फ़ारसी या उत्तरी भारत की किसी दूसरी भाषा में अपने हार्दिक भावों को साहित्य के रूप में प्रस्तुत करते रहे। दक्षिण की बात अलग थी और अब हम उर्दू साहित्य के विकास का अध्ययन उसी क्षेत्र में करेंगे।

अध्याय २

दक्षिण में उर्दू साहित्य

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि दक्षिण भारत की स्थिति उत्तरी भारत से बहुत विभिन्न रही है। चिरकाल से ऐसे युग आए हैं जब दक्षिण थोड़े थोड़े समय के लिए उत्तर के आधीन होगया है, पर ज़रा सा अवसर मिलते ही उसने फिर अपने जीवन को उत्तरी भारत की पराधीनता से मुक्त कर लिया है। उर्दू साहित्य का अध्ययन करनेवालों को भी इतिहास के इस विशेष पहलू को सामने रखना चाहिए।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि दक्षिणी भारत सदैव उत्तरी भारत से अलग रहा। इसलिए इनमें यह विभिन्नता पाई जाती है क्योंकि प्रारम्भिक आर्य प्रभाव के बाद बुद्ध मत का आक्रमण भी उत्तर ही की ओर से हुआ और छठवीं सातवीं शताब्दी से दक्षिण भारत के बड़े भाग में जो राज्य स्थापित हुए उनकी जड़ भी उत्तरी भारत ही में मिलती है। प्रसिद्ध चालुक्य वंश वाले उत्तर ही से वहाँ पहुँचे थे। यही बात यादव वंश के लिए भी कही जाती है। इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि मुसलमानों के आने से पहिले भी दक्षिणी भारत के निवासी उत्तरी भारत की बोलियों से अपरिचित नहीं थे। जब आधुनिक आर्य भाषाओं का युग आरम्भ हुआ उसी समय मुसलमान उत्तर दक्षिण में फैले और उस पुराने सम्बन्ध ने एक नया रूप धारण कर लिया।

मुसलमान बादशाहों में सबसे पहिले अलाउद्दीन ख़िलजी की सेनाएँ दक्षिणी भारत में पहुँचीं और दिल्ली के केन्द्रीय राज का क्षेत्र नीचे दूर तक फैल गया। यह १३ वीं शताब्दी थी। मुसलमान सेनाएँ, कर्मचारी, पेशेवाले और उत्तरी भारत के लोग अपने साथ वह मिली

जुली भाषा भी दक्षिण ले गए जो अभी भली भाँति बन भी नहीं पाई थी। यह तो सभी जानते हैं कि महाराष्ट्र को छोड़कर (जहाँ एक आर्य भाषा बोली जाती थी) सारे दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ प्रचलित थीं। उन प्राचीन भाषाओं में साहित्य भी था। ये भाषाएं आर्य भाषाओं से इतनी विभिन्न थीं कि इनके सम्पर्क से कोई नई भाषा जन्म नहीं ले सकती थी इसलिए उत्तरी भारत के जो सैनिक, कर्मचारी, उनके परिवार, व्यापारी, सूफ़ी, फ़क़ीर वहाँ बस गए थे, अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए या तो किसी द्राविड़ भाषा का प्रयोग कर सकते थे या उसी मिली जुली नवीन भाषा का जिसे वे दिल्ली से अपने साथ लाए थे। इस भाषा में पंजाबी, हरियानी और खड़ी बोली का मेल था, यह ब्रज भाषा के प्रभाव से भी बची नहीं थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसमें फ़ारसी अरबी शब्द भी सम्मिलित हो गए थे। इतिहास से पता चलता है कि आरम्भ में उन्होंने उसी भाषा से काम चलाया, यहाँ तक कि वह उन्नति करके साहित्य की भाषा बन गई। साहित्यकारों ने उसको कभी हिन्दी, कभी "ज़बाने-हिन्दुस्तान" कहा और कभी 'दकनी" कहकर पुकारा। (इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि इस शब्द के कई उच्चारण मिलते हैं पर इस अध्याय में अपनी सुविधा के लिए हम इसको दक्षिणी या दकनी लिखेंगे)।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना जिसने दक्षिणी भारत में उर्दू के फैलने में सहायता की और जिसकी ओर पहिले अध्याय में संकेत किया भी जा चुका है, चौदहवीं शताब्दी में हुई, अर्थात् मुहम्मद तुग़लक़ ने देवगिरी को (जिसे बाद में दौलताबाद कहा गया) अपनी राजधानी बनाया और दिल्ली के सभी निवासियों को वहां जाना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से यह घटना जैसी भी हो, भाषा निर्माण की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि महाराष्ट्री और द्राविड़ी भाषाओं के बीच में उत्तरी भारत की एक बोली धार्मिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से साहित्यिक रूप धारण कर रही थी। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि उस समय तक उत्तरी भारत में, जहाँ उस भाषा ने जन्म लिया था, उसका अपना कोई साहित्य नहीं था। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि यह हिन्दुस्तानी भाषा अधिकतर शहरों और क़सबों तक ही सीमित थी। दक्षिण में मुसलमानों के बस जाने से यह भी हुआ कि महाराष्ट्री

पर फ़ारसी का गहरा प्रभाव पड़ा और वहाँ के सन्तों और मुसलमान सूफ़ियों की प्रेममार्गी भक्ति में भी एक प्रकार का सामंजस्य दिखाई देने लगा परन्तु द्राविड़ी बोलियां न तो उर्दू फ़ारसी से प्रभावित हुईं और न उन्होंने विशेष रूप से इस विकसित होती हुई उर्दू, या 'दकनी उर्दू" ही को प्रभावित किया। यह प्रभाव अधिकतर शब्दों के उच्चारणों में देखा जा सकता है, भाषा के साहित्यिक रूप में बहुत कम दिखाई देता है।

१४ वीं शताब्दी के मध्य में जब तुग़लक़ बादशाह निर्बल हो रहे थे, दक्षिणी भारत में फिर जान आई और वह उत्तर के केन्द्रीय राज्य से अलग हो गया और वहाँ बहमनी राज्य स्थापित हुआ। यह राज्य उत्तरी भारत के राज्यों को देखते हुए बहुत कुछ भारतीय रंग रखता था। उत्तरी भारत, ईरानी और अरबी संस्कृति से प्रभावित था, पर दक्षिण इससे बहुत कुछ मुक्त था, इसीलिये यहाँ एक आर्य भाषा को विकास का अच्छा अवसर मिला। अगर प्रसिद्ध इतिहास, "तारीख़े फ़िरिश्ता" की बात ठीक मानो जाय तो यह मानना पड़ेगा कि बहमनी बादशाहों के राज कार्यालयों में हिसाब किताब हिन्दी भाषा में रखा जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि १४ वीं शताब्दी का अन्त होते होते वहाँ उर्दू भाषा प्रचलित हो गई थी। इसके फैलने के जहाँ और कारण थे वहाँ एक बड़ा कारण यह भी था कि कई सूफ़ी फ़क़ीरों ने अपने विचार इसी भाषा में प्रकट किए, जिससे कि उनके मानने वाले, जो अरबी और फ़ारसी से अनभिज्ञ थे, उनके विचारों को समझ सकें। साहित्य के रूप में उस समय जो कुछ मिला है वह इन्हीं सूफ़ियों की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में पद्य भी है और गद्य भी।

दक्षिणी उर्दू में साहित्य के विकास को भली भाँति समझने के लिए हम उसको कई युगों में विभाजित कर सकते हैं। पहिला युग जो पूर्णतः धार्मिक साहित्य से भरा हुआ है, भाषाविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है और उसका समय बहमनी राज्य के अन्त तक फैला हुआ है। जो व्यक्ति भारतवर्ष का थोड़ा बहुत इतिहास भी जानता है उसे ज्ञात होगा कि १५वीं शताब्दी का अन्त होने के पहिले ही बहमनी राज्य टूट फूट कर पाँच भागों में विभाजित हो गया था। साहित्य निर्माण की दृष्टि से उनमें से बीजापुर और गोलकुण्डा को बड़ी महत्ता प्राप्त है। बीजापुर में आदिलशाही राज्य स्थापित हुआ और गोलकुण्डा में कुतुबशाही। इन दोनों राज्यों में साहित्य

और अन्य कलाओं की बड़ी उन्नति हुई। बादशाहों से लेकर साधारण लोगों तक में कविता और साहित्य की रुचि देख पड़ती है। इस प्रकार हम बीजापूर और गोलकुण्डा में विकसित होने वाले उर्दू साहित्य को उसकी उन्नति का दूसरा युग कह सकते हैं। यह दोनों राज्य जिस प्रकार एक साथ स्थापित हुए थे उसी प्रकार एक साथ ही मुग़ल सम्राट औरँगज़ेब के हाथों सदैव के लिए नष्ट हो गए। इनके पश्चात् तीसरा युग वह कहा जा सकता है जिसमें मुग़ल राज्य के प्रभुत्व में उर्दू साहित्य का एक बड़ा कोश एकत्र हो गया। इन तीनों युगों की कहानी यदि विस्तार में कही जाए तो बहुत फैल जाएगी और एक साधारण पाठक के लिये नीरस भी होगी। परन्तु जो कोई भी उसका अध्ययन करेगा उसे केवल उर्दू साहित्य के भविष्य की रूपरेखा का अनुमान लगाने ही में मदद नहीं मिलेगी बल्कि इस बात का अनुभव भी होगा कि एक भाषा में सांस्कृतिक प्रभाव के कारण किस प्रकार परिवर्तन होते हैं। यह भी देखा जा सकेगा कि भाषा के प्रारम्भिक काल में जो सरलता पाई जाती है वह किस प्रकार धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं और विचार की जटिलतायें उसे कैसे दूसरे मार्ग पर डाल देती हैं। जो लोग इस परिवर्तन को आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं देखते वे यह समझते हैं कि ऐसा जानबूझ कर किया गया है। परन्तु सच यह है कि लेखक जिन साहित्यिक परम्पराओं से प्रेरणा लेते हैं उन्हीं का प्रभाव भाषा और साहित्य के रूपों पर भी पड़ने लगता है।

उर्दू के लिए भी यही हुआ। भाषा जब बोलचाल की सीमाओं से बाहर निकलकर साहित्य के क्षेत्र में घुसी तो उसे प्रचलित साहित्यों को भी दृष्टि में रखना पड़ा। इसी प्रकार भाषा में परिवर्तन होता है, कुछ शब्द निकल जाते हैं, कुछ का रूप बदल जाता है और कुछ का अर्थ। बदलती हुई अवस्था में नए शब्द इधर उधर से लिए जाते हैं और बनते भी हैं। इसलिये दक्षिणी उर्दू और आज की उर्दू में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। दूर होते हुए भी उस समय की उर्दू बोलचाल की भाषा से निकट थी इसलिये उसमें चाहे साहित्य की दृष्टि से कोई उच्च कोटि की चीज़ न मिले पर भाषा विज्ञान का अध्ययन करनेवालों के लिए इसका विवेचन अत्यन्त लाभदायक होगा।

सबसे पहिला नाम जिससे दक्षिणी उर्दू साहित्य का आरम्भ किया जा सकता है ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज़ का है। वह दिल्ली

के प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर निज़ामुद्दीन औलिया के "ख़लीफ़ा"[1] ख़्वाजा नसीरुद्दीन चिराग़ देहली के सबसे बड़े शिष्य और "ख़लीफ़ा" थे। उनके मानने वालों की संख्या उत्तरी भारत में बहुत थी पर वह अपना उद्देश्य फैलाने के लिए सन् १४१२ ई० के लगभग गुलबर्गा (गोल कुन्डा) चले आए और वहीं रह पड़े। गेसूदराज़ बहुत बड़े विद्वान थे, फ़ारसी अरबी में उनकी कई पुस्तकें प्रसिद्ध थीं। दक्षिण में भी उनका बड़ा मान हुआ और उनके मानने वालों की संख्या बढ़ने लगी। अपने समुदाय और साधारण जनता के लिए वह अपने विचार हिन्दी में प्रगट किया करते थे। उन्हीं की सुविधा के लिए उन्होंने उस भाषा में कुछ लिखा भी, पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी, उर्दू या दकनी (दक्षिणी) में उनकी कितनी रचनाएँ हैं। इस समय तक एक छोटी सी पुस्तक, जिसका नाम "मेराजुल-आशिक़ीन" है, उनकी उर्दू रचना समझी जाती है। यही उर्दू गद्य की पहिली रचना भी है। इसकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली नहीं है बल्कि पंजाबी और ब्रज का प्रभाव भी इस पर देख पड़ता है। सैय्यद गेसूदराज़ की मृत्यु सन् १४२१ में हुई इसलिए इस पुस्तक की उर्दू को १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल की उर्दू कहा जा सकता है। इस छोटी सी रचना का विषय धर्म और भक्ति का गूढ़ ज्ञान है इसी कारण इसमें अरबी फ़ारसी शब्दों का बहुत प्रयोग किया गया है। इसकी शैली में एक प्रकार की दार्शनिक जटिलता है इसलिये इसका समझना बहुत आसान नहीं है। उदाहरण यह है:—

"नबी कहे तहकीक़ के दरमियान ते सत्रह हजार पर्दे,
उजियाले के, हौर अँधियारे के, अगर उसमें ते एक
पर्दा उठ जाए तो उसकी आँच ते मैं जलूँ।

उर्दू गद्य और पद्य की कुछ और रचनाएँ उनके नाम से बताई जाती हैं पर विश्वस्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, हाँ सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि गेसूदराज़ के परिवार में कई ऐसे पुरुष हुए जिन्होंने इसी भाषा में इसी प्रकार की और रचनाएँ कीं। संक्षिप्त में उनका और अन्य लेखकों का उल्लेख किया जाता है।

गेसूदराज़ के पोते अबदुल्लाह हुसैनी एक सुयश सूफ़ी थे उन्होंने

---

१ —मुख्य शिष्य और गद्दी पर बैठने वाला, उत्तराधिकारी।

एक प्रसिद्ध पुस्तक "निशातुल-इश्क़" का अनुवाद उर्दू में किया। उसी समय के एक कवि "निज़ामी" ने एक मसनवी "कदमराव और पदम" लिखी। इस प्रकार उर्दू साहित्य का आरम्भ तो हो गया पर उसकी वास्तविक उन्नति बीजापुर और गोलकुन्डा की उन्नति के साथ हुई। यह युग उत्तरी भारत में मलिक मुहम्मद जायसी, कबीर, तुलसी-दास और सूरदास के प्रकाशमान होने का है जिनकी भाषा अवधी और ब्रज थी। खड़ी बोली अपने क्षेत्र से निकल कर उसी समय कुछ ऐति-हासिक कारणों से दक्षिणी भारत में अपने लिये एक स्थान बना रही थी।

दक्षिण में जिस साहित्य का विकास हो रहा था और उसमें जिस संस्कृति का रंग झलकता था उस पर भारतीयता की गहरी छाप थी। वहाँ के कवियों की रचनाएँ स्थानीय रंग से मालामाल हैं। अपने केन्द्र से दूर उर्दू जो उन्नति कर रही थी उसके कई कारण जान पड़ते हैं। सबसे बड़ा कारण यह मालुम होता है कि दक्षिणी राज्यों के सम्राट दिल्ली से दूर रह कर केवल एक स्वतंत्र और स्वाधीन राज्य की स्थापना करने ही के उत्सुक न थे बल्कि कला-कौशल, साहित्य, रहन-सहन और जीवन के अन्य क्षेत्रों में अपना मार्ग अलग बनाना चाहते थे। इसके लिये वे साधारण जीवन के निकट गए। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न दक्षिणी राज्यों के नरेश भी भारतवर्ष के बाहर की जातियों से सम्बंध रखते थे पर उन्होंने मुग़ल सम्राट अकबर से पहिले ही हिन्दुओं के साथ आपस की शादी-विवाह और नातेदारी से मित्रता के सूत्र को प्रबल बनाना चाहा। इसके अतिरिक्त इन नरेशों के कई परिवार चिरकाल से दक्षिण में बस जाने के कारण वहाँ के रहन-सहन और रीति-रिवाज से पूर्णतः परिचित थे। एक और कारण, जिसकी ओर संकेत करना आवश्यक है, यह है कि एक निरंकुश शासन में बहुत कुछ बादशाह की इच्छाओं पर निर्भर होता है, वे जिस प्रकार के कला-कौशल को पसन्द करते हैं, जनता में उसी का प्रचार होने लगता है उसकी व्यक्तिगत इच्छाएँ राजदरबार से सम्बन्ध रखने वाले कर्म-चारियों और कवियों पर छा जाती हैं। दक्षिण के कई बादशाहों ने स्वयं उर्दू, ब्रज और तेलगू में लिखना अपने लिए गर्व की बात समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि वहां के कवियों ने भी भारतीय भाषाओं में अपने विचार प्रगट किए। इतिहासकारों ने यह कारण भी

बताया है कि भारत पर उत्तर-पश्चिम से जो आक्रमण होते थे उनका दबाव दक्षिणी भारत तक आते आते समाप्त हो जाता था इसलिए वहां कला-कौशल को उन्नति करने के अधिक अवसर प्राप्त हुए। इस प्रकार वहां के लेखक और कलाकार थोड़ा बहुत ईरानी प्रभाव से बच जाते थे और अपने ही साधनों से काम लेकर अपनी ही भाषा का प्रयोग करते और उसी में रचनाएँ तैय्यार करते थे। यूँ हम देख सकते हैं कि दिल्ली से दूरी, राजकार्यालय का हिन्दुस्तानी भाषा में काम करना, हिन्दू-मुसलमानों के मेल-जोल, शान्ति, सूफ़ी फ़क़ीरों की उपस्थिति और अन्य कारणों ने दक्षिण में उर्दू को फलने फूलने का महत्वपूर्ण अवसर दिया।

जब बहमनी राज्य के टुकड़े हो गए तो आदिलशाही कुल ने सन १४६० ई० में बीजापूर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया जिसमें आठ बादशाह हुए। इनमें से कई बड़े योग्य पुरुष थे और विद्वानों की संगत में आनन्द प्राप्त करते थे। अभी सूफ़ी फ़क़ीरों का युग भी समाप्त नहीं हुआ था, चुनांचे सबसे पहिला नाम "शाह मीरानजी" का मिलता है जो अपनी भक्ति और योग्यता के कारण "शमसुल-उश्शक़" (भक्तों का सूर्य) कहे जाते थे। वह सन १४६६ ई० तक जीवित रहे। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई रचनाएं उर्दू में कीं जिनके अध्ययन से उस समय की भाषा के सम्बन्ध में बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनकी सभी रचनाएँ सूफ़ी-मत के सिद्धान्तों और व्यवहारों का उल्लेख करती हैं। उन्होने अपनी भाषा को स्वयं हिन्दी कहा है और इस सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि मेरी ये रचनाएँ उन लोगों के लिए हैं जो अरबी फ़ारसी नहीं जानते। इनमें "शहादतुल-हक़ीक़त", "खुश-नामा" और "शरहे-मरग़ूबुल-क़ुलूब" प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण हैं। अन्तिम रचना गद्य में है। इसमें भी सूफ़ी-मत के गूढ़ ज्ञान बताए गए हैं। उनकी कविता का उदाहरण यह है :—

तूँ क़ादिर[1] कर सब जग सब को रोजी देवे।
तूँ सभों का दाना[2] बीना[3], सब जग तुझकों सेवे॥

---

१. शक्तिवान २. ज्ञानी ३. देखने वाला

एकस माटी मूली देवे एकस माटी बाज ।
केतों भीख मँगावे केतों देवे राज ॥
केतों पाट पितम्बर देता केतों सरकी लाया ।
केतों ऊपर धूप तलावे केतों ऊपर छाया ॥
केते ज्ञान भगत बैरागी केते मूर्ख गंवार ।
एक जिन एक मानस कीता एक पुरुस एक नार ॥

उनकी रचनाओं में केवल प्रेम, भक्ति या धर्म की बातें ही नहीं हैं वरन साहित्य की दृष्टि से भी उन्होंने महत्वपूर्ण रचनाएँ हमारे लिए छोड़ी हैं।

मीरानजी के पुत्र बुरहानुद्दीन जानम भी बहुत बड़े सूफ़ी गिने जाते हैं। इनकी मृत्यु सन् १५८२ के लगभग हुई। उन्होंने अपनी रचनाओं की भाषा को "दकनी" कहा है। उनकी अधिकतर रचनाएँ कविता के रूप में मिलती हैं और सभी तसव्वुफ़ के विषय से संबन्ध रखती हैं। उनकी कविताओं का बहुत सा भाग योरोप और हैदराबाद के पुस्तकालयों में मिल गया है जिन के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी भाषा सरल है और उनकी कविताएँ विषय के गंभीर होने पर भी काव्य-सौन्दर्य से पूर्ण हैं। उनकी पुस्तकों में "सुख सहेला", "वसीयतुल-हादी", "इरशादनामा" प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के तौर पर निम्न-लिखित शेर देखे जा सकते हैं :—

यह रूप प्रगट आप छिपाया कोई न पाया अन्त ।
माया मोह में सब जग बाँध्या क्योंकर सूझे पन्त ॥

× × ×

बाज़[1] आ कहें अपनी बूझ ।
मालूम नहीं उसकी सूझ ॥
एक जमा सब पकड़या बार ।
जों के बीच थे निकल्या झाड़ ॥
काटा छाँटा फल और फूल ।
शाख़[2] बर्ग[3] सब देख उसूल[4] ॥
न इस खालिक़[5] मख़लूक़[6] कोए ।
जैसा तैसा समझा होए ॥

---

१. कुछ २. डाली ३. पत्ती ४. जड़ ५. जन्मदाता ६. सृष्टि

शाह बुरहान के सुपुत्र और आधिपत्त अमीनुद्दीन आला हैं। वह भी अपने पूर्वजों के बताए हुए मार्ग पर चले और तसौव्वुफ़ में अपनी रचनाएँ छोड़ गए हैं। उनकी मृत्यु सन् १६७५ ई० में हुई। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ की हैं जिनके अध्ययन से यह मालूम होता है कि वह अपने बाप और दादा से बड़े कवि थे। उनकी गद्य रचनाएँ भी उनकी कविता ही की भाँति महत्व रखती हैं। "मुहब्बतनामा" और "रमूज़ुस-सालिकीन" उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि जितनी रचनाएँ हमको पुराने लेखकों के नाम से मिलती हैं उनके विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे उन्हीं की हैं। पर जहाँ तक आज की खोज पहुँची है उन्हीं को सम्मुख रख कर ये बातें कही जा रही हैं। जब कभी उर्दू साहित्य का कोई विस्तृत इतिहास लिखा जाएगा उस समय उनकी रचनाओं, उनकी भाषा और उनके विचारों पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, आदिलशाही बादशाहों में से कई एक स्वयं उर्दू में लिखते पढ़ते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध इब्राहीम आदिल शाह (१५८०-१६२६ ई०) है। वह केवल दक्षिणी भाषा और उस की कविता से प्रेम नहीं रखता था बल्कि भारतवर्ष की संगीत-कला में भी निपुण था। उसने भारतीय रागों पर आधारित एक कविता "नवरस" के नाम से लिखी है जिसकी विशेषता यह है कि एक ओर तो यह संगीत-शास्त्र की दृष्टि से यह एक अनुपम रचना है। दूसरी ओर साधारण दक्षिणी उर्दू को छोड़कर इब्राहीम ने इसमें ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। कहा जाता है कि जब उसने ये पुस्तक लिखने का विचार किया तो उत्तरी भारत से विद्वानों को बुलाकर पहिले इस भाषा का अध्ययन किया उसके पश्चात इस पुस्तक की रचना की। यह बात स्पष्ट है कि उसकी ब्रज उसी युग की उत्तरी भारत की ब्रज से विभिन्न है, क्योंकि उसने जगह जगह अरबी फ़ारसी शब्दों से भी काम लिया है। ये पुस्तक १६ वीं शताब्दी के अन्त या १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखी गई होगी। इसकी कई हस्तलिखित प्रतिलीपियाँ हैदराबाद के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं और जब वह प्रकाशित हो जाएगी तो उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकेगा। "नवरस" की भूमिका फ़ारसी के एक सुप्रसिद्ध कवि और लेखक "ज़हूरी" ने

लिखी जो आज "सेह-नस्र" के नाम से फ़ारसी की क्लासिकल पुस्तकों में गिनी जाती है। इब्राहीम के राजदरबार में सारा व्यवहार उर्दू में होता था और बहुत से कवि उसके दरबार से सम्बन्ध रखते थे। इब्राहीम के पश्चात मुहम्मद आदिल शाह राज सिंहासन पर बैठा। वह और उसकी धर्म पत्नी दोनों को कवियों से अत्यन्त प्रेम था और बहुत से कवि उनके चारों ओर एकत्रित हो गए थे जिनमें "रुसतमी" "मलिक ख़ुशनूद" और "दौलत शाह" के नाम याद रखने योग्य हैं।

रुसतमी फ़ारसी और उर्दू दोनों में कविताएँ लिखता था। अब उसकी केवल एक लम्बी कविता "ख़ावरनामा" मिलती है। यह प्रबन्ध काव्य के रूप में २४,००० शेरों का एक विशाल ग्रन्थ है जिसे उसने केवल डेढ़ वर्ष में पूरा कर लिया था। वास्तव में यह एक फ़ारसी कविता का अनुवाद है पर रुसतमी ने उसको ऐसी सुन्दरता से अपनाया है कि यह उसी की चीज़ मालूम होती है। यह रचना उसने मुहम्मद आदिलशाह की धर्म पत्नी के अनुरोध पर तैयार की थी। इसके लिखने का समय लगभग १६४६ ई० है। उसकी भाषा सरल और उसके लिखने का ढँग मनोहर है। इसी प्रकार मलिक खुशनूद अपनी मसनवी "हश्त बिहिश्त" के लिए प्रसिद्ध है। यह कविता अमार खुसरो की एक फ़ारसी रचना पर आधारित है। इसकी भाषा बहुत सरल नहीं है।

सन् १६५६ ई० में अली आदिलशाह द्वितीय शाही गद्दी पर विराजमान हुआ। वह भी कवि था और उसके युग में बीजापूर के सर्वोत्तम कवि "नुसरती" का बोल बाला हुआ। नुसरती एक महान कवि है पर उसके बारे में इस समय तक अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। कहा जाता है कि उसका नाम मुहम्मद नुसरत था और वह एक ब्राह्मण परिवार से सम्बन्ध रखता था। इस बात को बिल्कुल ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि नुसरती ने अपनी कविताओं में गुलबर्गा के प्रसिद्ध सूफ़ी गेसूदराज़ की चर्चा की है और यह भी कहा है कि मेरी कई पीढ़ियाँ उनका नाम जपती चली आ रही हैं। हो सकता है कि बहुत पहिले उसका वंश-क्रम किसी ब्राह्मण परिवार से मिल जाता हो।

नुसरती ने तीन पुस्तकें लिखी हैं और सब मसनवी के रूप में हैं, इनमें से दो "गुलशने-इश्क़" और "अली-नामा" बहुत प्रसिद्ध हैं। उसकी तीसरी कविता "तारीख़े-सिकन्दरी" का पता अभी थोड़े ही दिन

पहिले चला है। गुलशने-इश्क में मनोहर और मधु-मालती के प्रेम की कहानी कही गई है। यह प्रेम कथा दक्षिणी भारत में बहुत प्रचलित और लोक-प्रिय थी और कई फ़ारसी कवि और लेखक फ़ारसी में इसे लिख चुके थे। प्रन्तु नुसरती ने उसे जिस प्रकार लिखा है उससे ज्ञात होता है कि उसने इसमें नवीन बातें जोड़ कर उसे अपना लिया है। यह मसनवी ईरान की क्लासिकल मसनवियों के आधार पर लिखी गई है। उसकी दूसरी कविता जो पहिली से भी अधिक सुन्दर और उत्तम है, अलीनामा है। इसमें अली आदिलशाह द्वितीय की जीवन-कथा को बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसे पढ़कर "पृथ्वीराज रासो" और ऐसी ही अन्य गाथाओं की ओर ध्यान जाता है क्योंकि इस लम्बी कविता में भी नुसरती ने चन्द्र बरदाई की तरह अपने बादशाह के जीवन के सभी अँगों का चित्र बड़ी सुन्दरता और उल्लास से खींचा है। उस समय दक्षिणी भारत में मुग़लों, मराठों, आदिलशाहियों, क़ुतुबशाहियों में शक्ति प्राप्त करने के लिये बराबर संघर्ष चल रहा था। अलीनामा के अध्ययन से उस संघर्ष का जीता जागता चित्र आँखों के सामने आ जाता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए धर्म के आधार पर संगठन नहीं किया जाता था बल्कि स्थानीय सुविधाओं को देखते हुए एक दूसरे से मित्रता पैदा की जाती थी। नुसरती की यह कविता उर्दू की महान रचनाओं में से है। साहित्यिक महत्व के अतिरिक्त इसका ऐतिहासिक महत्व भी है। यह उच्च कोटि की कविता दक्षिणी में होने और अब तक प्रकाशित न होने के कारण वह स्थान ग्रहण नहीं कर सकी है जो इसे मिलना चाहिए। नुसरती में चित्रण की असाधारण शक्ति थी और विशेषकर जब वह युद्ध और संग्राम क्षेत्र का वर्णन करता है तो उसकी काव्य रचना की शक्ति और बढ़ जाती है। नुसरती की तीसरी रचना तारीख़े-सिकन्दरी सन् १६८७ ई० में बीजापुर के विनाश या नुसरती की मृत्यु के कारण अधूरी रह गई। नुसरती को वीर-रस और शृङ्गार-रस दोनों प्रकार की कविताएँ लिखने पर अधिकार प्राप्त था। कहा जाता है कि औरंगज़ेब ने बीजापूर पर विजय प्राप्त करने के बाद नुसरती को लगभग "मलिकुश-शोअरा" (कविराए) की उपाधि दी। यह बात ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि नुसरती की मृत्यु सन् १६८४ ई०में हुई। उसकी भाषा सरल अवश्य है

पर वह फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक करता है। दूसरे कवियों की भाँति वह भी अपनी भाषा को हिन्दी ही कहता है। उदाहरण के लिए मनोहर-मधुमालती के कुछ शेर लिखे जाते हैं :—

उधर साथ थी माँ के मधुमालती।
इधर माँ के सँगात चम्पावती॥
बहुत दिन कों जिस वक़्त बिछड़े मिले।
एकर एक लगाए चँगुल कर गले॥
उनूँ क्याँ सकियाँ चँकि सौ सात थीं।
इनूं के कने भी उसी धात थीं॥

नुसरती ने क़सीदे और ग़ज़लें भी लिखी हैं और कई आलोचकों ने उसे क़सीदे का प्रथम कवि भी माना है पर सच यह है कि उसकी महत्ता उन्हीं रचनाओं पर निर्भर है जिनका उल्लेख ऊपर हुआ।

बीजापूर के प्रसिद्ध कवियों में "हाशिमी" का नाम भी लिया जाता है। उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक मालूम नहीं है। कहा जाता है कि वह दोनों आँखों का अन्धा था और उसका बड़ा आदर सम्मान होता था। उसकी मृत्यु सन् १६६७ ई० में हुई। उसकी प्रसिद्ध रचना "युसुफ़-ज़ुलेखा" है जिसमें लगभग बारह हज़ार शेर हैं। यह मसनवी फ़ारसी की एक प्रसिद्ध रचना पर आधारित है। हाशिमी एक अच्छा कवि था। उसकी भाषा सरल और लिखने का ढंग सुन्दर है। यह भी कहा जाता है कि हाशमी ने हिन्दी कवियों के ढंग पर अपनी कई कविताओं में स्त्रियों की ओर से पुरुषों के प्रति प्रेम और विरह की भावना प्रगट की है। पर गहरी दृष्टि से देखने पर यह मालूम पड़ता है कि उसने हिन्दी कवियों का अनुसरण नहीं किया है बल्कि प्रेम-कथा के बीच में जहाँ नारी की ओर से कुछ कहने की आवश्यकता हुई है वहाँ उसकी भाषा स्वभावतः सरल और मधुर हो गई है। कुछ आलोचकों का यह भी विचार है कि वह "रेख़ती" (देखो परिशिष्ठ) का जन्मदाता है पर यह भी भ्रम है।

इस स्थान पर केवल कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों ही का उल्लेख किया जा सका है। वैसे बीजापुर के राज्य और दरबार में बहुत से कवि थे जिनकी रचनाएँ भारतवर्ष और यूरोप के पुस्तकालयों में मिलती हैं।

बीजापूर की भाँति गोलकुन्डा में भी उर्दू साहित्य की बड़ी उन्नति

हुई और लेखकों का एक बड़ा समूह एकत्र हो गया। गोलकुन्डा के क़ुतुबशाही वंश ने सन् १५०८ ई० में एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया और वहाँ के कई नरेशों ने उसे एक सबल और प्रगतिशील राज्य बनाने में बड़ा भाग लिया। उर्दू साहित्य के विकास की दृष्टि से यहाँ का १६ वीं शताब्दी का अन्तिम ज़माना महत्वपूर्ण है। इस वंश के आठ बादशाहों में से अन्तिम चार स्वयं उर्दू के बड़े कवि और कवियों के आश्रयदाता थे। गोलकुन्डे का पाँचवाँ बादशाह मुहम्मद क़ुली क़ुतुब-शाह सन् १५८० ई० में राज-सिंहासन पर बैठा, वह उर्दू का एक महान कवि था। कहा जाता है कि उसने एक लाख से अधिक शेर कहे जिनमें से अधिकतर दक्खिणी उर्दू में हैं, कुछ फ़ारसी में और कुछ तेलगू में। उसकी माँ तिलँगना की रहने वाली थी और वह उस भाषा से भली भाँति परिचित था। तेलगू में वह "तुर्कमान" के नाम से कविताएँ लिखता था पर अभी तक उसकी तेलगू कविता के सम्बन्ध में कुछ मालूम नहीं हो सका है। वह उर्दू का पहिला कवि है जिसके संग्रह की कई हस्तलिखित प्रतियाँ भारतवर्ष और यूरोप के पुस्तकालयों में पाई जाती हैं। उसका काव्य-संग्रह थोड़े दिन हुए हैदराबाद से प्रकाशित भी हो चुका है।

मुहम्मद क़ुली एक बहुत बड़ा सैनिक नेता होने के साथ साथ एक बड़ा लेखक भी था। उर्दू का वह पहिला कवि है जिसके प्रति निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने भारतवर्ष के जीवन में डूबकर कविताएँ लिखीं। जिस प्रकार उसे मुसलमानों के त्योहारों, ईद, शबेरात इत्यादि से प्रेम है उसी प्रकार वह बसंत, दीवाला और होली के मनोरंजनों में भी भाव-पूर्वक सम्मिलित होता है। उसकी कविताएँ स्थानीय रंग में इतनी डूबी हुई हैं कि उस संग्रह से उस समय के धर्म-विचार, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद और जीवन की अन्य समस्याओं के बारे में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है। उसने अपनी १२ प्यारियों (प्रेमिकाओं) की सराहना में बहुत सी कविताएँ लिखी हैं, उनके नख-शिख और सुन्दरता का वर्णन हिन्दी और संस्कृत कवियों की याद दिलाता है। कहा जाता है कि बादशाह होने से पूर्व युवावस्था में उसे भाग्यमती से प्रेम हो गया था, सिंहासन ग्रहण करने पर उसने उससे विवाह कर लिया और "हैदरमहल" के नाम से सम्बोधित करके उसी के नाम पर हैदराबाद का नगर बसाया। उसकी कविताओं में

भागमती के प्रति उसके प्रेम का खूब पता मिलता है। उसके जीवन की सभी घटनाएँ उसमें जगह पाती हैं। उसकी रचनाओं में यहाँ के फलों-फूलों, रीति-रिवाजों का वर्णन देखकर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिणी भारत में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का संगठन कितने आकर्षक ढंग से हो रहा था और केवल साधारण लोग नहीं बादशाह भी उससे प्रभावित थे।

क़ुली क़ुतुबशाह ने ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी, मर्सिया सभी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। उसकी रचनाओं के विषय भी विभिन्न हैं। आधुनिक काल के कवियों की तरह उसने अलग अलग विषयों पर भी कविताएँ लिखी हैं जिनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह हिन्दुस्तानी भावों और विचारों को फ़ारसी अलंकारों से सजाकर प्रस्तुत करने की योग्यता रखता था। जिस प्रकार उसके विषय और विचारधारा में भारतीयता मिलती है उसी प्रकार उसकी भाषा उस हिन्दुस्तानी से निकट है जो हिन्दी भी है और उर्दू भी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसने उत्तरी भारत के हिन्दी कवियों का अध्ययन किया था या नहीं पर हिन्दी उपमाएँ, अलंकार, आदि देखकर यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि वह उनसे अपरिचित न था, वैसे तो लगभग उसका भी वही समय है जो तुलसीदास, मीराबाई और सूरदास का था। उर्दू के इस प्रथम बड़े कवि की रचनाएँ प्राकृतिक सुन्दरता रखती हैं। उसकी भाषा सरल है और भाषाविज्ञान की दृष्टि से उसका अध्ययन बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। उदाहरण के लिये निम्नलिखित शेर पर्याप्त होंगे:—

पिया बाज[1] प्याला पिया जाए ना।
पिया बाज एक तिल जिया जाए ना॥

नहीं इश्क़ जिसको बड़ा कोर[2] है।
वो कधीं उससे मिल बैसिया[3] जाए ना॥

क़ुतुबशह न दे मुझ दिवाने को पन्द[4]।
दिवाने को कुछ पन्द दिया जाए ना॥

×

१—बिना २—अन्धा ३—बैठा ४—उपदेश।

है इश्क़ हर एक धात[1] हर एक दिल में पियारा।
मुंज इश्क़ पियारे का अहै जिउ का अधारा[2] ॥
बिन सैर तुमन सारी कलियाँ सूख रही हैं।
टुक आके करो गश्त[3] चमन जी उठे सारा ॥

× × ×

रख एक है पर एक कथन लाख चमन है।
लख जोत है हर ठार वले[4] एक रतन है ॥
किस ठार में दिसता नहीं हर ठार है भरपूर।
देखन कों सकत कों उसे बस एक नयन है ॥
मुंज इश्क गिरी आग का एक चिनगी है सूरज।
इस आग के शोले का धुवाँ सात गगन है ॥

मुहम्मद क़ुली के वंश में गोलकुन्डा के तीन अन्तिम बादशाह भी अच्छे कवि हुए हैं। उसका भतीजा मुहम्मद क़ुतुबशाह स्वयं एक बड़ा कवि और कवियों का आश्रयदाता था। उसका संग्रह भी प्राप्त हो गया है जिसके अध्ययन से पता चलता है कि वह भी अपने चाचा की तरह हर प्रकार की कविताएँ लिख सकता था। उसकी भाषा में वही सरसता, रसीलापन और प्रवाह पाया जाता है जो क़ुली क़ुतुबशाह के यहाँ मिलता है। उसकी कविता भी स्थानीय रंग और उपमाओं से भरी हुई है। कविताओं में उसका उपनाम "ज़िल्लुल्लाह" था। कई बड़े बड़े कवि उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। सन् १६११ ई० में वह सिंहासन पर विराजमान हुआ था और १६२४ ई० में उसका देहान्त हो गया।

मुहम्मद क़ुतुबशाह का बेटा अब्दुल्लाह क़ुतुबशाह गद्दी पर बैठा, वह भी कवि था और उसकी कविताओं का संग्रह भी मौजूद है। उसकी रचनाएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी उसके पूर्वजों की थीं परन्तु उसके युग में क़ुतुबशाही राज्य के कई सुप्रसिद्ध कवि उसी के संरक्षण में जीवन बिताते थे। उसके दरबारी कवियों में "ग़ौव्वासी" "क़ुत्बी", "इब्नेनिशाती", "तबई", "जुनैदी" और "अमीन" प्रमुख हैं। इस वंश का अन्तिम नरेश अबुलहसन तानाशाह था। उसका

१—प्रकार २ सहारा ३—भ्रमण ४ - प्रन्तु।

सारा समय मुग़ल सेनाओं का मुक़ाबिला करते बीता, यहाँ तक कि सन् १६८६ ई० में औरंगज़ेब के हाथों गोलकुन्डा राज्य का विनाश होगया। तानाशाह भी कवि था, पर इसका कोई काव्य-संग्रह नहीं मिलता। इसका कारण कदाचित यह जान पड़ता है कि उसकी अन्तिम आयु मुग़ल कारागार में व्यतीत हुई।

जैसा कि ऊपर के विचारों से प्रगट होगा गोलकुन्डा में उर्दू कविता की बहुत उन्नति हुई। बादशाह स्वयं उर्दू में लिखते और उर्दू में लिखनेवालों का मान बढ़ाते थे। गद्य और पद्य की अनेक शाखाओं में बहुत काम हुआ और कुछ रचनाएँ तो ऐसी तैयार हो गईं कि जिन्हें उर्दू के छोटे से छोटे इतिहास में भी एक उच्च स्थान दिया जाएगा।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह के राज्यकाल में "वजही" सबसे महान कवि गुजरा है। कहा जाता है कि उसने बादशाह की युवावस्था की प्रेम कहानी "क़ुतुब-मुशतरी" के नाम से लिखी और बादशाह ने बड़ी उदारता से उसे अपने युग का सबसे बड़ा कवि समझ कर अपना मित्र बनाया। क़ुतुब-मुशतरी एक बड़ी मनोरंजक मसनवी है जिसका नायक क़ुली क़ुतुबशाह है। श्रंगार रस में डूबी हुई यह प्रेम कथा वजही की एक कल्पनात्मक रचना है। यह कहना तो ठीक न होगा कि यह सारी की सारी कहानी बादशाह के जीवन से ली गई है पर इसमें संदेह नहीं कि वजही ने अपनी गढ़ी हुई कहानी की आड़ में बादशाह की वीरता, उदारता, दानशीलता और प्रेम भावना का चित्र खींचने की कोशिश की है। दक्षिण की बड़ी बड़ी कविताओं में इसका एक ऊँचा स्थान है। कहानी दक्षिण और बंगाल के बीच में घूमती है और उस समय की कथाओं की तरह असम्भव बातों से भरी हुई है। उसकी भाषा बहुत सरल नहीं कही जा सकती, उसमें जहाँ फ़ारसी अरबी के शब्द हैं वहीं संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की भी कमी नहीं है। केवल यही नहीं, वजही ने भाषा के सम्बन्ध में बड़ी स्वतन्त्रता से काम लेकर फ़ारसी, अरबी और संस्कृत शब्दों का उर्दू व्याकरण के नियमानुसार प्रयोग किया है। क़ुतुब मुशतरी छप चुकी है और लेखक का विचार है कि यदि उसे केवल भाषा की दृष्टि से पढ़ा जाए तो भी बहुत लाभ होगा। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए :—

छिपी रात उजाला हुआ दीस[1] का।
लगा जग करन सेव[2] परमेस का॥
जो आया झलकता सुरज दाट[3] कर।
अँधेरा जो था सो गया न्हाट[4] कर॥
सुरज यूँ है रँग आसमानी मने।
कि खिल्या कमल फूल पानी मने॥

वजही ने गद्य में भी एक महान पुस्तक "सरबस" के नाम से लिखी है। इसमें तसौव्वुफ़ के गूढ़ विचार प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इसका वर्णन आगे आएगा। सारांश यह कि वजही उस युग का सबसे बड़ा कवि और लेखक माना जाता है। उसे गद्य और पद्य दोनों पर पूर्णतयः अधिकार प्राप्त था। वजही की जीवन-कथा अभी तक मालूम नहीं हो सकी पर यह मालूम है कि क़ुतुब-मुशतरी सन् १६०८ ई० में और सबरस सन् १६३५ ई० में लिखी गई।

इस युग का दूसरा बड़ा कवि "ग़ौव्वासी" था। क़ुतुबशाही राज्य ने उसे मलिकुश-शेअरा (कविराए) बना दिया था परन्तु उसके हालात का ठीक से पता नहीं चलता। उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ "सैफ़ुल-मुलूक-व-बदीउल-जमाल" और "तूतीनामा" हैं। दोनों में कहीं कहीं उसने अपने सम्बन्ध में भी थोड़ा बहुत लिखा है पर उससे उसके जीवन की पूरी कहानी नहीं बनती। बस इतना ज्ञात होता है कि आरम्भ में बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत करता था पर जब राज-दर्बार में पहुँच गया तो उसकी मान-प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और वह अपने युग का सबसे बड़ा कवि गिना जाने लगा। सैफ़ुलमुलूक सन् १६२४ ई० में लिखी गई और तूतीनामा सन् १६३१ ई० में। पहली मसनवी एक प्रेम कहानी है जो "अलिफ़-लैला" से ली गई है और दूसरी रचना "हितोपदेश" के फ़ारसी अनुवाद पर आधारित है। ग़ौव्वसी अपनी कविताओं में अपना बखान आप करता है मगर उसका यह बखान कुछ अनुचित नहीं है क्योंकि वास्तव में उसकी कविताएँ रस और भावुकता, सुन्दरता और मज़े से भरी हुई हैं। उसकी भाषा में फ़ारसी अरबी के शब्द कम मिलते हैं। उसकी शैली में सरलता और प्रवाह

१—दिन २- सेवा ३—वेग से ४—भागकर।

बहुत है। सैफ़ुलमुलूक प्रकाशित हो चुकी है परन्तु तूतीनामा हस्त-लिखित रूप ही में पाई जाती है।

क़ुतुबशाही युग का तीसरा बड़ा कवि "इब्ने-निशाती" था उसकी प्रसिद्ध मसनवी "फूलबन" है जो दक्षिणी उर्दू के साहित्य-कोश का एक अनमोल रत्न समझी जाती है। इब्ने-निशाती की जीवन-कथा भी भली भाँति मालूम नहीं है। कुछ पुराने लेखकों ने, जिनमें "गार्सां-द तासो" का नाम भी लिया जा सकता है, लिखा है कि उसने भी "तूतीनामा" के नाम से एक काव्य लिखा है पर यह उनकी भूल है। इसी प्रकार फूलबन के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बातें कही गई हैं जो ठीक नहीं है। अब फूलबन प्रकाशित हो चुकी है और उसके अध्ययन से ठीक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उसके पाठ से ज्ञात होता है कि इब्ने-निशाती फ़ारसी भाषा में निपुण और काव्य-शास्त्र से भली भाँति परिचित था। फूलबन के प्रारम्भिक भाग में वह अपनी और अपनी कविता की सराहना करता है और कहता है कि उसने गद्य में भी कई रचनाएँ की हैं। अब उनमें से कोई भी प्राप्त नहीं होती। उसे भाषा और शब्दों के प्रयोग पर पूरा अधिकार था। वह जिस सफलता से मनोभावों का चित्रण करता है उसी प्रकार सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन भी कर सकता है। फूलबन एक प्रेम-कथा है जिसकी पृष्ठभूमि भारतीय है। इसमें जीवन के ऐसे चित्र खींचे गए हैं जिनके देखने से उस युग की सामाजिक स्थिति, रहन-सहन, रीति-रिवाज के समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

जैसा कि कहा जा चुका है दरबारी संरक्षण के कारण बीजापूर और गोलकुन्डा में बहुत से कवि पैदा हो गए थे। यहाँ उनके नाम भी नहीं दिये जा सकते पर इस बात को अवश्य याद रखना चाहिए कि दक्षिणी उर्दू जो उस समय खड़ी बोली का साहित्यिक रूप थी भारतीय भाषाओं के ख़ज़ाने में बहुत कुछ बढ़ा चुकी थी। इसमें संदेह नहीं कि उसके साहित्य पर फ़ारसी का भी प्रभाव था परन्तु यह बात स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की जो लहर मुग़लों के युग में उत्तरी भारत से उठ रही थी उसका विकास साहित्यिक रूप से दक्षिणी भारत ही में हो रहा था। इसके अतिरिक्त एक ओर प्रेम मार्ग पर चलनेवाले भक्त कवि इस्लामी तसौव्वुफ़ को अपना विषय बनाकर गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ कर रहे थे और दूसरी ओर इमाम हुसैन के प्रति श्रद्धा प्रगट करने वाले

कवि करबला की दुर्घटना का शोक-पूर्ण चित्रण मर्सियों और दूसरी धार्मिक कविताओं में कर रहे थे। इस संक्षिप्त पुस्तक में उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन कविताओं और पुस्तकों की भी कमी नहीं जिनमें भारतवर्ष के जीवन और समाज का चित्र मिलता है। हिन्दुस्तान की प्राचीन कथाओं पर आधारित कहानियाँ लिखी गईं जिनमें "मनोहर मधु-मालती", "पद्मावत","चन्द्रबदन और माहयार" और "तूतीनामा" विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि इस काल की कविताओं में स्थानीय रंग बहुत गहरा है, भाषा में फ़ारसी अरबी की भरमार नहीं है, कविता पर राज्य-दरबार का प्रभाव है तो अवश्य पर ज्ञात होता है कि वह नरेशों की प्रशंसा करने पर मजबूर न थे। इसके अतिरिक्त उनमें धर्म और भक्ति से पैदा होने वाली स्वतन्त्रता भी प्रबल थी। इसमें संदेह नहीं कि उस युग में जो कुछ लिखा गया उसका एक बड़ा भाग आज कोई साहित्यिक महत्व नहीं रखता किन्तु जिन कविताओं और पुस्तकों का उल्लेख ऊपर किया गया उनका केवल ऐतिहासिक महत्व नहीं है बल्कि भाषा और साहित्य की दृष्टि से उर्दू साहित्य के इतिहास में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त है।

अभी १७ वीं शताब्दी का अन्त नहीं हुआ था कि उर्दू भाषा गुजरात, अर्काट, मद्रास और मैसूर के कुछ भागों में पहुँच गई। उत्तरी भारत में बोलचाल की भाषा के रूप में वह दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करती जा रही थी परन्तु साहित्य बहुत कम उत्पन्न हो रहा था। दक्षिणी भारत में उर्दू साहित्य की जो धारा फूट बही थी और जो साहित्यिक परम्पराएँ स्थापित हो गई थीं, बीजापूर और गोलकुन्डा के मुग़ल राज्य में मिला दिए जाने के कारण उनमें कोई बड़ी रुकावट नहीं पड़ी क्योंकि भाषा और साहित्य का सम्बन्ध केवल राज्य-सभा से नहीं था बल्कि जनता भी उसको अपने जीवन से निकट पाती थी इसलिये सन् १६८७ ई० के बाद से दक्षिणी उर्दू के कवियों के यहाँ उन्हीं परम्पराओं के आधार पर स्वच्छंदता और प्रवाह का विकास होता हुवा जान पड़ता है। हैदराबाद में नया "आसिफ़ी" राज्य सन १७२४ ई० में स्थापित हुआ। बीच के चालीस वर्षों में दक्षिणी भारत ने उर्दू के कई अनमोल रत्न पैदा किए जिनमें "वली", "बहरी" और "सिराज" तो प्रथम श्रेणी के कवियों में गिने जाते हैं पर इनके अतिरिक्त "वजदी", "वली बैलोरी", "दाऊद", "उज्लत" और "आजिज़" भी सुविख्यात हैं।

पहिले तीनों कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, उन पर आलोचनाएँ भी लिखी जा चुकी हैं और उन पर गवेषणपूर्ण लेख बराबर लिखे जा रहे हैं इसलिये उनका वर्णन कुछ विस्तार से करना आवश्यक है क्योंकि इनमें से वली बड़ा ऐतिहासिक महत्व भी रखते हैं।

"वली" को उर्दू कविता का "बाबा आदम" कहा गया है। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं कि वली को उर्दू का प्रथम कवि गिना जाए पर इस दृष्टिकोण से यह विचार ठीक है कि वह दक्षिण के सब से बड़े कवि थे और उन्हीं की ज्योति से उत्तरी भारत में भी उर्दू कविता के दीप जले। अभी कुछ समय पहिले तक वली के बारे में भी बहुत थोड़ी सी जानकारी प्राप्त थी पर अब बहुत कुछ अनुसन्धान हो चुका है जिससे उनके नाम, जन्म-भूमि, मृत्यु इत्यादि के संबन्ध में कुछ बातें निश्चित रूप से मालूम हो गई हैं।

वली का नाम वली मुहम्मद था। विद्या और ज्ञान प्राप्त करने का प्रेम उन्हें अपनी जन्म-भूमि अहमदाबाद से निकाल कर औरंगाबाद, सूरत और दिल्ली ले गया जहाँ उन्होंने ज्ञानियों, कवियों और सूफ़ियों से मिल कर अपनी प्यास बुझाने की चेष्टा की। उन्हें तसौव्वुफ़ से हार्दिक लगाव था इसका अनुमान उनकी कविताओं से भी लगाया जा सकता है। जब वह दिल्ली गए तो वहाँ के प्रसिद्ध सूफ़ी और कवि सादुल्लाह "गुलशन" से मिले। यह बात निश्चित नहीं कि वह दिल्ली एक बार गए कि दो बार। उनकी मृत्यु सन १७०७ ई० में अहमदाबाद में हुई।

वली का काव्य-संग्रह कई बार प्रकाशित हो चुका है यहाँ तक कि प्रसिद्ध फ्राँसीसी विद्वान "गारसाँ-द-तासी" ने भी उनका संग्रह फ्राँसीसी भूमिका के साथ प्रकाशित किया था। वली ने ग़ज़ल, मनसवी, क़सीदा आदि सभी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। कहा गया है कि उनका नाम उनसे पहिले दिल्ली पहुँच गया था और उनकी कविताएँ दिल्ली की गलियों और बाज़ारों में गाई जाती थीं। इसका अर्थ यह है कि दक्षिणी और उत्तरी भारत में साहित्यिक संपर्क स्थापित हो रहा था और दिल्ली के कवियों के लिए उर्दू की यह कविताएँ नवीन और अनुपम जान पड़ती थीं। जब वली दिल्ली पहुँचे तो उनकी बड़ी आवभगत हुई। उस समय दिल्ली के अधिकतर कवि फ़ारसी

में लिखते थे और कविता की सुन्दर देवी को बोलचाल की भाषा का साधारण वस्त्र पहनाकर सामने लाना अपमानजनक जान पड़ता था पर वली की कविताएँ देखकर उनको भी अनुभव हुआ कि अपनी भाषा में कविताएँ लिखना मनोरंजक और सफल सिद्ध हो सकता है।

वली ने अपनी ग़ज़लों में अधिकतर प्रेम की भावना का वर्णन विभिन्न रूपों से किया है। यह प्रेम भावना व्यापक होकर सूफ़ी-मत के प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। उर्दू कविता में हम आरम्भ ही से सूफ़ी मत के विचार संचालित पाते हैं। वली ने भी उन विचारों को बड़ी सुन्दरता, उत्साह और शक्ति के साथ प्रस्तुत किया है। ग़ज़लों की एक बड़ी विशेषता यह बताई जाती है कि उनमें साधारण हार्दिक भावों को आप-बीती के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सूफ़ी मत भी आँत्रिक परिस्थितियों को अध्यात्मक रूप से संगठित करता है इसलिए वली की ग़ज़लों में गूढ़ता के साथ साथ एक सच्चे प्रेमी की वास्तविक कल्पनाएँ भी देख पड़ती हैं। वली की रचनाओं का अनुसंधान करने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि उन पर फ़ारसी कवियों का बड़ा प्रभाव था। उनके विचार भी कहीं कहीं उनसे मिलते जुलते हैं परन्तु उनमें इतनी सच्चाई पाई जाती है कि वह बाहर से माँगे हुए विचार नही मालूम होते। भारतीय जीवन के चित्र भी वली के यहाँ कम नहीं हैं।

वली की भाषा विशेष रूप से विचार करने योग्य है। जहाँ तक दक्षिणी उर्दू कविता की परम्पराओं का सम्बन्ध है उनकी भाषा आरम्भ में प्राचीन दक्षिणी कवियों से समानता रखती है पर चूँकि वह दक्षिण से निकल कर भारतवर्ष के और भागों में भी गए, यहाँ तक कि उर्दू भाषा के उस केन्द्र में भी पहुँचे जहाँ उसने जन्म लिया था, इसलिए उनकी भाषा थोड़ी बहुत दक्षिणी उर्दू से विभिन्न भी है। इसके और कई कारण हो सकते हैं। वली अहमदाबाद और औरंगाबाद में रहते थे। औरंगाबाद बहुत दिनों से दिल्ली के संपर्क में था, वहाँ की बोली पर दिल्ली की उर्दू का प्रभाव भी पड़ रहा था। इसके अतिरिक्त दक्षिण के दिल्ली राज्य में मिल जाने के कारण दोनों भागों में यातायात का सिलसिला भी बराबर जारी था। इसलिए उनकी आयु की कविता में दिल्ली की खड़ी बोली का रंग अधिक देख पड़ता है। कहा जाता है कि जब वह सन १७०० ई० में दिल्ली गए तो शाह गुलशन ने उनसे

कहा कि तुम फ़ारसी के विषयों और विचारों को अपनी भाषा में क्यों नहीं ले आते ? हो सकता है कि वली ने उनके कहने के अनुसार अपनी रचनाओं में फ़ारसी से अधिक लाभ उठाया हो। परन्तु यह बात भी याद रखना चाहिये कि जहाँ कहीं उन्होंने सरल और शुद्ध उर्दू भाषा का प्रयोग किया है वह बोलचाल की भाषा से बहुत निकट पहुँच गई है। उदाहरण के लिए यह शेर देखिये :—

जिसे इश्क़ का तीर कारी लगे।
उसे ज़िन्दगी क्यों न भारी लगे॥
न होवे उसे जग में हरगिज़ क़रार।
जिसे इश्क़ की बेक़रारी लगे॥
वली कों कहे तूं अगर एक बचन।
रक़ीबों[1] के दिल नें कटारी लगे॥

× × × ×

सजन तुम मुख सेती खोलो नक़ाब आहिस्ता आहिस्ता।
कि ज्यों गुल[2] से निकलता है गुलाब आहिस्ता आहिस्ता॥
हज़ारां लाख खूबां[3] में सजन मेरा चले यूं कर।
सितारों में चले ज्यों माहताब[3] आहिस्ता आहिस्ता॥
सलोने साँवरे पीतम तेरे मोती की झलकां ने।
किया अक्दे-सुरैय्या[5] को खराब आहिस्ता आहिस्ता॥

फ़ारसी-मिश्रित उर्दू का यह नमूना है :—

हुस्न[6] का मसनद-नशीं[7] वह दिलबरे[8]-मुमताज़[9] है।
दिलबरों का हुस्न जिस मसनद का पाअन्दाज़[10] है॥
गैरे-हैरत[11] है खबर उस आइना-रु[12] की किसे।
राज़[13] के पर्दे में जिसकी खामुशी आवाज़ है।
याद से उस रश्के-गुलज़ारे-इरम[14] के ऐ वली।
रंग कों मेरे सदा ज्यों बूए-गुल[15] परवाज़[16] है॥

---

१. प्रतिद्वन्दी। २. गुलाब का फूल : ३. प्रेमिकाओं। ४. चन्द्रमा। ५. तारों का समूह। ६. सुन्दरता। ७. गद्दी पर बैठने वाला। ८. प्रेमिका। ९. श्रेष्ठ। १०. पाओं पोछने की जगह। ११. अचम्भे के अतिरिक्त। १२. दर्पण के समान मुख वाला। १३. रहस्य। १४. स्वर्ग को लज्जित करने वाला। १५. फूल की सुगन्ध। १६. उड़ना।

जैसा कि कहा गया वली उर्दू के प्रथम कवियों में गिने जाते हैं। उनकी काव्य रचना से भी बढ़कर उनका वह प्रभाव महत्वपूर्ण है जो उन्होंने उत्तरी भारत की उर्दू कविता और भाषा पर डाला जिसका वर्णन आगे आएगा।

इस युग के दूसरे बड़े कवि क़ाज़ी महमूद "बहरी" थे। वह भी एक बड़े सूफ़ी कवि माने जाते हैं। उनकी एक मसनवी, जिसका विषय सूफ़ी-मत के रहस्यों का वर्णन है, "मनलगन" के नाम से कई दफ़ा प्रकाशित हुई पर उनकी ग़ज़लों का संग्रह अभी कुछ ही मिन पूर्व हाथ लगा और प्रकाशित किया गया है। बहरी बीजापूर के एक गांव के रहने वाले थे और जब बीजापूर मुग़ल राज्य में मिल गया तो वह हैदराबाद चले आए। उनकी भाषा प्राचीन दक्षिणी कवियों से मिलती जुलती है अगरचे उनके समय के और कवियों की भाषा कुछ बदल चुकी थी। मनलगन के कई बार प्रकाशित होने से यह पता चलता है कि यह काव्य बहुत पसन्द किया जाता था पर उसमें तसौव्वुफ़ के ऐसे जटिल और गूढ़ विचार प्रगट किए गये हैं कि उसका समझना बहुत कठिन जान पड़ता है। यही कारण है कि बहरी ने स्वयं उसका अर्थ फ़ारसी भाषा में लिखा और उनके एक शिष्य ने उसको गद्य में "अर्त (अर्थ) मनलगन" के नाम से प्रस्तुत किया। मनलगन को देखते हुए उनकी ग़ज़लों की भाषा सरल और सादी है। उदाहरण यह है :—

सूर[1] तुझ मुख मिसाल[2] नें सच है।
लाल तुझ लब[3] से लाल नें सच है॥

धन तेरे मदमते नयन के निमन।
पुर्नगाली कलाल[4] नें सच है॥

अब खुशामद तूं बस कर ऐ बहरी।
तुज पर उसका ख्याल नें सच है॥

"सिराज" औरंगाबादी इस युग के तीसरे बड़े कवि थे। उनकी जन्मभूमि भी औरंगाबाद ही थी। बालपन ही से वह सुन्दरता के उपासक थे और अभी पूरी तरह से युवावस्था में भी नहीं पहुँचे थे कि उनपर एक प्रकार की उन्मादमा छा गई। सात वर्ष बीतने के पश्चात्

---

१. सूर्य। २. तरह। ३. अधर। ४. शराब बेचने वाला।

जब इस अवस्था का अन्त हुआ तो सूफ़ियों और फ़क़ीरों के संग रहने लगे और सारा जीवन इसी प्रकार व्यतीत हो गया। जिस समय उनपर उन्माद छाया हुआ था उन्होंने फ़ारसी में बहुत कुछ कहा पर वह नष्ट हो गया. उसका कुछ अंश उनके प्रकाशित संग्रह में सम्मिलित है।

उर्दू के सूफ़ी कवियों में सिराज का एक ऊँचा स्थान है। उनके जीवन और रचनाओं में गहरा सम्बन्ध मिलता है। दोनों में एक प्रकार की लगन और उत्साह का पता चलता है। उनके संग्रह में हर प्रकार की कविताएँ मिलती हैं पर सच यह है कि वह अपनी मसनवी "बोस्ताने-ख्याल" और अपनी ग़ज़लों की वजह से प्रसिद्ध हैं।

बोस्ताने-ख्याल एक महत्वपूर्ण रचना है। जो सन १७४७ ई० के लगभग लिखी गई। इसमें ११६० शेर हैं किन्तु सिराज ने इसे केवल दो दिन में लिख डाला था। इसकी कहानी बड़ी सरल और सीधी है और आप बीती के ढंग पर लिखी गई है। एक कवि और प्रेमी के जीवन का ऐसा वास्तविक और सुन्दर चित्र कोई साधारण कवि नहीं खींच सकता था। विचारों का प्रवाह और अनुभवों की सच्चाई के कारण ही यह मसनवी उर्दू की प्रमुख कविताओं में गिनी जाती है। सिराज की ग़ज़लें भी बड़ी मनोहर, सुन्दर और प्रभावशाली हैं। ग़ज़ल में उन्होंने वली का अनुकरण किय है और अपनी कविताओं में उनका नाम बड़ी श्रद्धा से लिया है। सिराज की भाषा भी दक्षिणी भारत की उर्दू के मुक़ाबले में उत्तरी भारत की उर्दू से अधिक प्रभावित मालूम पड़ती है। सिराज की मृत्यु सन १७६४ ई० में हुई। उनके मित्रों और शिष्यों ने उनके नाम को एक कवि ही के रूप में नहीं बल्कि एक संत के रूप में जीवित रखने के लिए उनका मक़बरा बनवा दिया जो अब भी औरंगाबाद में मौजूद है। नमूने के लिए सिराज के कुछ शेर नीचे दिये जाते हैं :—

सब जगत ढूंढ़ फिरा प्यु को न पाया हरगिज़।
दिल के गोशे[1] में मकाँ था मुझे मालूम न था॥

× × × × ×

ख़बरे-तहैय्युरे-इश्क़[2] सुन, न जुनूं[3] रहा न परी रही।
न तो तूँ रहा, न तो मैं रहा, जो रही सो बेख़बरी रही॥

---

१. कोना २. प्रेम के चकित हो जाने का विज्ञापन ३. पागलपन

चली सिम्ते-ग़ैब[1] से वह हवा कि चमन सुरूर[2] का जल गया।
मगर एक शाख़े-नेहाले-ग़म[3], जिसे दिल कहें सो हरी रही॥

× × ×

मुद्दत से गुम हुआ दिले-बेगाना ऐ सिराज।
शायद कि जा लगा है किसी आशना के हाथ॥

इस समय तक उत्तरी भारत में उर्दू कविता की चर्चा बहुत बढ़ गई थी परन्तु आगे बढ़ने से पूर्व एक दृष्टि दक्षिण के साहित्यिक कोष पर डाल लेना उचित होगा। १५ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी के आरम्भ तक दक्षिणी उर्दू अधिकतर उत्तरी भारत से स्वतंत्र रहकर उन्नति करती रही। आरम्भ में तो केवल सूफ़ी कवियों और लेखकों ने उस भाषा को अपनाया जो उत्तरी भारत से द्राविड़ और महाराष्ट्र की भाषाओं के बीच में आ पहुँची थी किन्तु थोड़ा ही समय बीतने के पश्चात उस भाषा ने यहाँ जड़ पकड़ ली और हर प्रकार की आवश्यकताएँ इससे पूरी होने लगीं। इसमें संदेह नहीं कि यह भाषा अधिकतर मुसलमानों में प्रचलित थी परन्तु यह कहना भी ठीक होगा कि वह एक भारतीय भाषा थी जो हिन्दू-मुसलमानों के उस मेल जोल का प्रतीक थी जिसका आरम्भ कला-कौशल और सांस्कृति के अन्य अंगों में हो चुका था।

इस अवसर पर इस बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक है कि कई लेखकों ने वली पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने उर्दू का मुख भारत से हटाकर ईरान की ओर फेर दिया और जो भारतीयता दक्षिणी उर्दू में पाई जाती थी वह नष्ट हो गई। परन्तु यह बात वही लोग कह सकते हैं जिन्होंने उत्तरी भारत की भाषाओं की प्रगति के कारणों को नहीं समझा है। जिस समय मुग़ल राज्य का पतन होना शुरू हुआ उसी समय से अवधी और ब्रजभाषा ने साहित्यिक रूप में उन्नति करना कम कर दिया था। अब कोई कबीर, जायसी, रहीम, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास जन्म नहीं ले रहा था। दूसरा कारण यह था कि विद्वानों ने, चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान, सामंत काल के गौरव को सामने रख कर फ़ारसी को अपनाने की चेष्टा की थी और बोलचाल के लिए स्थानीय भाषाओं का प्रयोग करते

१—आकाश की ओर से २—आनन्द ३—शोक के वृक्ष की डाली।

थे, मानो वह अपनी भाषा की साहित्यिक शक्ति का कुछ ठीक से अनुमान नहीं लगा सकते थे इसलिये जब वली ने दिल्ली पहुँच कर एक प्रगतिशील भाषा देखी, जो उनकी दक्षिणी उर्दू से समानता रखते हुए भी प्रथक रूप रखती थी तो उन्हों ने उसे अपने विचारों और भावों के प्रगट करने के लिये स्वीकार कर लिया। कहा जा सकता है कि उन्होंने उत्तरी भारत के कवियों को अपनी भाषा में काव्य रचना का साहस दिया और उसके बदले में एक अधिक सुन्दर और प्रगतिशील उर्दू अपने साथ दक्षिण को ले गए। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। दोनों एक ही भाषा के दो रूप थे। उन्होने एक की सहायता से दूसरे को प्रतिभाशाली और प्रबल बनाने की चेष्टा की और दक्षिणी भारत को उत्तरी भारत से मिलाना चाहा। उन्हों ने जान बूझ कर अपनी भाषा को कठिन या फ़ारसी-मिश्रित नहीं बनाया बल्कि दक्षिणी उर्दू को उसकी जन्म भूमि की उर्दू से निकट लाने की कोशिश की। उत्तरी भारत से सम्पर्क न होने के कारण दक्षिणी उर्दू की बाढ़ रुकी हुई थी अब दोनों के सोते फिर मिल गए और आगे चल कर उन में समानता पैदा हो गई।

अध्याय ३

दिल्ली--१८ वीं शताब्दी में

यह आश्चर्य की बात है कि उर्दू दिल्ली के निकट ही पैदा हुई पर वहाँ वह बहुत दिनों तक साहित्य के फल फूल से वंचित रही, इसके विपरीत दक्षिण में जहाँ वह एक अतिथि के रूप में गई थी खूब फली फूली। इसके कुछ कारण पिछले अध्याय में बताए जा चुके हैं और इस संक्षिप्त पुस्तक में अधिक विस्तार से बताना असम्भव है। इसलिए हमको यह याद रखना चाहिए कि उत्तरी भारत में पैदा होने वाली उर्दू भाषा एक बोलचाल की भाषा के रूप में उन्नति कर रही थी पर संस्कृति क्षेत्र में फ़ारसी इस बुरी तरह छाई हुई थी कि लोग बोलचाल की भाषा को काव्य में लाने से सकुचते थे। सामन्तशाही और साम्राज्य की विशेषता यह होती है कि उच्च वर्ग जिस भाषा को सभ्य ठहरा देता है उसके सम्मुख दूसरी भाषाएँ तुच्छ और साधारण मालूम होने लगती हैं। इसलिए बहुत दिनों तक यही रीति चलती रही कि बोलचाल की भाषा कुछ और थी और कविता की कुछ और। नहीं तो यह बात स्पष्ट है कि जब कला-कौशल के अन्य क्षेत्रों में मेलजोल के कारण नई शैलियाँ जन्म ले रही थीं उस समय विचारों के प्रकट करने का सबसे बड़ा यंत्र—भाषा—किस प्रकार यूँ ही रह सकता था।

यदि हम आगे की स्थिति को छोड़कर केवल मुग़लों ही के युग की सामाजिक अवस्था को देखें तो यह बात ज्ञात होगी कि कई कारणों से फ़ारसी ही से काम लेना उस समय सम्भव था। एक प्रबल राज्य स्थिति के बदल जाने के कारण जिस प्रकार दुर्बल होता जा रहा था उसी प्रकार फ़ारसी भी अपना प्रभाव कम करती जा रही थी। यह विचित्र प्रकार की व्यवस्था थी कि जिन लोगों की मातृ-भाषा हिन्दु-

स्तानी थी वह फ़ारसी ही में लिखने पढ़ने को सभ्यता का चिह्न समझते थे। बात यह है कि कला और विद्या दोनों का सम्बन्ध जिस श्रेणी के लोगों से था उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ फ़ारसी में ही विकास पाती थीं। हिन्दुस्तान की भाषा उर्दू के रूप में जनता और मध्यम श्रेणी के लोगों में परवरिश पा रही थी। जहाँ भाषा मौजूद हो वहाँ उसके साहित्य के पैदा होने में देर नहीं लगती। बस एक सूक्ष्म आधार और संकेत की आवश्यकता होती है। वली दक्षिणी के आने ने यह आवश्यकता पूरी कर दी और कवियों के हृदय से यह भय दूर हो गया कि बोलचाल की भाषा में कोमल भावों का चित्रण नहीं हो सकता।

वैसे तो उर्दू कवियों के नाम, १७ वीं शताब्दी के अन्त ही से उत्तरी भारत में भी मिलने लगते हैं पर वास्तव में उन्हें कोई महत्व प्राप्त नहीं है। "जाफ़र ज़टल्ली", "अटल", "अफ़ज़ल" और अन्य कवियों ने कुछ कविताएँ छोड़ी हैं परन्तु साहित्य की दृष्टि से १८ वीं शताब्दी ही को आरम्भ काल कहा जा सकता है। वली के दिल्ली आने से पहिले कोई बड़ा उर्दू कवि उत्तरी भारत में नहीं देख पड़ता। परन्तु १७२० ई० के लगभग दिल्ली के वह कवि जो फ़ारसी में काव्य-रचना करते थे उर्दू में भी अपने विचार प्रस्तुत करने लगे। "फ़ितरत", "उम्मीद", "बदिल", "नदीम" और "आरज़ू" जो सबके सब फ़ारसी के विद्वान् और कवि थे, कभी कभी एक आध शेर उर्दू के भी रच दिया करते थे। इनमें आरज़ू सबसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके संरक्षण में कई उर्दू कवियों ने उत्तरी भारत में उर्दू कविता की नीव रक्खी। उस समय तक कुछ कवि जो कविता लिखते थे उसमें भी एक पंक्ति उर्दू को होती तो एक फ़ारसी की और कभी एक ही पंक्ति का आधा भाग फ़ारसी होता और आधा उर्दू। कभी कभी तो विचार तक फ़ारसी के होते, पर १८ वीं शताब्दी के आरम्भ ही से हमको उर्दू कविता के साफ़ सुथरे उदाहरण मिलने लगते हैं। राज-काज की भाषा फ़ारसी रही किन्तु कवियों ने जनता की बोली से काम लिया। उच्च वर्ग में फ़ारसी का जादू चलता रहा और जन साधारण में हिन्दुस्तानी जड़ पड़ती रही। दिल्ली के काव्य संसार में जो परिवर्तन हुआ उसे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि पहिले फ़ारसी के कवियों ने एक आध शेर उर्दू में लिखे फिर धीरे धीरे ऐसे कवि पैदा हुए

जिन्होंने फ़ारसी में कहना आरम्भ किया पर थोड़े ही दिनों बाद फ़ारसी छोड़ उर्दू में कविताएँ लिखने लगे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी शिक्षा फ़ारसी में हुई थी, फ़ारसी कविता उनकी आत्मा में बसी हुई थी, फ़ारसी के ही उदाहरण उनके सामने थे और फ़ारसी ही के आलोचकों के बताए हुए मार्ग पर वह चल सकते थे। अतः उन्होंने अपनी काव्य-रचना के लिए जो रूप चुने वह फ़ारसी में ही अधिक प्रचलित थे। मगर इन बातों के ऐतिहासिक और सामाजिक कारण इतने स्पष्ट हैं कि उनका वर्णन व्यर्थ होगा।

उर्दू साहित्य के आलोचकों ने उत्तरी भारत में काव्य-साहित्य का पहला युग मुहम्मदशाह बादशाह के राज्य-काल से आरम्भ किया है जो सन् १७१६ ई० में गद्दी पर बैठा था। यह पहिला मुग़ल बादशाह था जिसकी उर्दू कविता मिलती है पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कितना कहा। दुनिया बहुत बदल चुकी थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के दरबार में "अबुल-फ़ज़्ल", 'फ़ैज़ी", "उर्फ़ी", "नज़ीरी", "साएब", "क़ुदसी" और "कलीम" शोभायमान होते थे और अब उर्दू कवियों की बारी थी जिनमें से कुछ राज्य दरबार से सम्बन्ध रखते थे और कुछ उसके बाहर थे। आरम्भ में तो उर्दू कविता का दिल्ली के राज्य-दरबार से कोई गहरा सम्बन्ध न था पर इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि यह सामंत काल के पतन का युग था और कुछ न होने पर भी साहित्य और कला बादशाह और उसके अमीरों के हाथ में थे। मुहम्मदशाह के राज्य-काल में जो दो सबसे बड़ी घटनाएँ हुईं उनमें एक तो नादिरशाह का आक्रमण था और दूसरे उर्दू कविता का पांव दिल्ली में जम जाना। इन दोनों घटनाओं से मुग़ल राज की अवनति का पता चलता है। अगर राज्य प्रबल होता तो न नादिर दिल्ली को लूटता और न जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। "फ़ाइज़" "आबरू", "नाजी", "हातिम", "यकरंग", "मज़हर जानेजाँ", "मज़मून","फ़ुगाँ", "ताबाँ" तथा और बहुत से दूसरे कवि वली दक्षिणी के समकालीन या कुछ समय बाद के कहे जा सकते हैं। यह सब इसी युग के कवि कहे जाते हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान बड़ा ऊँचा है। इनकी भाषा सरल हिन्दुस्तानी थी।

यह लोग फ़ारसी के विद्वान होने के कारण उससे लाभ उठाते थे परन्तु उनके भावों और विचारों में भारतीयता भरी हुई है। जिस उर्दू का प्रयोग यहाँ की कविता में होता था उसे उस समय "रेख़ता" कहते थे। रेख़ता का अर्थ है, मिला-जुला, गिरा-पड़ा, पक्की गच की तरह प्रष्ट। इस शब्द से पता चलता है कि यह एक मिली-जुली भाषा थी जिसका प्रयोग काव्य में किया जा रहा था।

जिन कवियों के नामों का ऊपर उल्लेख किया गया उनके बारे में अभी बहुत सी बातें मालूम नहीं हैं। उस ज़माने में कवियों के जो वर्णन लिखे जा रहे थे (और जिनको "तज़किरा" कहा जाता था) उनमें कवियों की जीवनी विस्तार में न लिख कर एक साधारण परिचय देने को ही काफ़ी समझा जाता था। इसलिए बहुत से तज़किरे देखने के बाद भी पूरा जीवन चरित्र सामने नहीं आता। इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनका हाल आज के आलोचकों ने खोज कर निकाल लिया है और उनकी कविताएँ भी ढूँढ़ ली है पर अभी बहुत कुछ काम होने को बाक़ी है। संक्षिप्त रूप में यहाँ उनका वर्णन किया जायगा और उनके एक आध शेर उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये जाएगे जिससे यह ज्ञात हो सके कि उस समय दिल्ली में उर्दू कविता का क्या रंग था।

शाह मुबारक "आबरू" का नाम नजमुद्दीन था और उपनाम आबरू। वह ग्वालियार के एक प्रसिद्ध सूफ़ी की संतान में गिने जाते हैं। "आरज़ू" के शिष्य थे। इनकी मृत्यु सन् १७५० ई० के लगभग हुई। उन्होंने अपनी कविताओं का संग्रह इकट्ठा कर लिया था पर वह नष्ट हो गया और इस समय उनकी कविता के वही अंश मिलते हैं जो तज़किरों में लिख दिए गए थे। उन्होंने एक मसनवी भी लिखी थी जिसमें नख-शिख वर्णन की रीति पर प्रेमिका की सुन्दरता, छबि और पहनाव का वर्णन किया था। उनको अलंकारों के प्रयोग का बहुत शौक़ था इसलिए कभी कभी उनकी कविता नीरस मालूम होने लगती है मगर दिल्ली की बोलचाल का मज़ा उनके शेरों में मिल जाता है, जैसे :—

फिरते थे दश्त दश्त[1] दिवाने किधर गए।
वे आशिक़ी के हाए ज़माने किधर गए॥

× × ×

१—जंगल जंगल

अफ़सोस है कि मुझको वह यार भूल जावें।
वह शौक़ वह मुहब्बत वह प्यार भूल जावें॥

× × ×

क़ौल[1] आबरू का था कि न जाऊँगा उस गली।
होकर के बेक़रार देखा आज फिर गया॥

× × ×

उठ चेत क्यों जुनूं[2] सती ख़ातिर[3] निचन्त की।
आई बहार तुझको खबर है बसंत की?॥

"नाजी" का नाम सैय्यद मुहम्मद शाकिर था। यह नवाब अमीर खाँ के यहाँ सिपाहियों में से थे। इनके स्वभाव का झुकाव हास्य और विनोद की ओर बहुत था और कहा जाता है कि हर समय हँसने वाली बातें किया करते थे जिससे रोते हँस पड़ते थे पर स्वयं न हँसते थे। सन् १७५४ ई० के लगभग युवावस्था में देहान्त हो गया। उन्होंने नादिरशाह के आक्रमण और दिल्ली की तबाही का दृश्य अपनी आँखों से देखा था और उस दृश्य को एक बहुत ही शोकमय कविता के रूप में लिखा था। उनका काव्य-संग्रह अब नहीं मिलती और न यह ऐतिहासिक कविता पूरी प्राप्त होती है। उनकी काव्य शैली भी वही है जो उस समय प्रचलित थी, अर्थात् वह भी अलंकारों का प्रयोग करते थे और अधिकतर ग़ज़ल ही के रूप में अपने विचार प्रस्तुत करते थे। कुछ शेर यह हैं:—

आज तो नाजी सजन से कर तू अपना अर्ज़े-हाल[4]।
मरने जीने का न कर बसवास,[5] होनी है सो हो॥

× × ×

नमकीं-हुस्न[6] देख कर पी का।
रँग गुल[7] का मुझे लगा फीका।

× × ×

१—वचन, २—पागलपन, ३—मन, ४—हाल कहना, ५—शंका, ६—लावण्यमयी सुन्दरता, ७—गुलाब

किया फ़र्दा[1] का वादा सर्व-क़द[2] ने।
क़यामत[3] का जो दिन सुनते थे कब है !"

इस युग के प्रसिद्ध कवियों मे "हातिम" को बड़ा उच्च स्थान दिया जाता है क्योंकि वह केवल एक बड़े कवि ही न थे, कई बड़े कवियों के गुरू भी थे। एक लम्बी आयु पाने के कारण उन्होंने भाषा के परिवर्तनों का अध्ययन भी किया था और अपनी काव्य-रचना में भाषा के बदलते हुए रूपों को जगह दी थी। हातिम का नाम शैख़ ज़हुरुद्दीन था। वह दिल्ली में सन् १६९९ ई० में पैदा हुए थे। उन्होंने किशोर-अवस्था ही में कविता की देवी के चरणों में अपना सिर झुका दिया था। उस समय दिल्ली में वली का प्रभाव पूर्ण रूप से प्रगट हो रहा था और हातिम ने भी सफलता पूर्वक उसी ढंग को ग्रहण किया। उन्होंने अपना पहिला काव्य संग्रह तैय्यार कर लिया था जिसमें पुराने ढंग की कविता की सभी विशेषताएँ पाई जाती थीं। पर जब रंग बदला तो उन्होंने पुराना ढंग छोड़ कर उस भाषा में काव्य-रचना आरम्भ की जो अधिक शुद्ध और प्रवाह-पूर्ण थी। कुछ अपने पुराने संग्रह से लेकर और कुछ नया कह कर उन्होंने अपना एक दूसरा संग्रह तैयार कर लिया जिसका नाम 'दीवान-ज़ादा" रक्खा। इस संग्रह की विशेषता यह है कि इसके आरम्भ में उन्होंने एक भूमिका लिखी है जिसमें अपनी भाषा और कविता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किए हैं। आलोचना की दृष्टि से यह भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे समय की बदलती हुई रुचि और परिस्थितियों का पता मिलता है। उनका देहान्त सन् १७८१ ई० या सन् १७९२ ई० में हुआ। हातिम की कविता के अध्ययन से थोड़ा बहुत उनके जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। साधारणतः उनके यहाँ भी उस युग के दूसरे कवियों की भाँति अधिकतर प्रेम और तसव्वुफ़ के विषय मिलते हैं। अपने संग्रह के अन्त में उन्होंने अपने शिष्यों के नाम भी गिनाए हैं। उसमें सबसे महत्व-पूर्ण नाम मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी "सौदा" का है जिनका वर्णन आगे आएगा। हातिम ने फ़ारसी में भी कविताएँ लिखी हैं पर वह आज एक उर्दू कवि के रूप ही में जाने जाते हैं।

१— कल, २—सीधे क़द वाला, ३—महाप्रलय

उनका संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए :—

जिसको देखा सो यहाँ दुश्मने-जाँ[1] है अपना।
दिल को जाने थे हम अपना, सो कहाँ है अपना॥

× × ×

खुप गई है दिल में हातिम के तेरी बांकी निगाह।
चलते चलते टुक बताता जा तेरा क्या नाम है॥

× × ×

ज़िन्दगी दर्दे-सर हुई हातिम।
कब मिलेगा मुझे पिया मेरा॥

× × ×

पीरी[2] में हातिम अब न जवानी की याद कर।
सूखे दरख्त भी कहीं होते है फिर हरे॥

मिर्ज़ा मज़हर जाने-जाँ ने उर्दू में बहुत कम कविताएँ लिखी हैं, परन्तु एक बहुत बड़े सूफ़ी और विद्वान होने के कारण उन्हें बहुत महत्व-पूर्ण समझा जाता है। उन्होंने उर्दू में जो कुछ लिखा है उसका कुछ अंश केवल विभिन्न तज़किरों में पाया जाता है। उन्होंने भाषा को शुद्ध करने और कविता को उन अलंकारों से बचाने की चेष्टा की जो कविता को केवल शब्दों का एक गोरख धंधा बना देते थे। फ़ारसी के विद्वान होने के कारण उनकी भाषा में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बहुत मिलता है। सन् १७६१ ई० के लगभग ८० वर्ष की अवस्था में किसी ने उनको मार डाला। उर्दू के उस समय के प्रसिद्ध कवियों में कई उनके शिष्य थे जिनमें "यक़ीन" सुप्रसिद्ध हैं। उनके कुछ शेर यह हैं :—

चली अब गुल के हाथों से लुटा कर कारवां अपना।
न छोड़ा हाय बुलबुल ने चमन में कुछ निशां अपना॥
यह हसरत रह गई क्या क्या मज़े से ज़िन्दगी करते।
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बाग़वां अपना॥

× × ×

१—शत्रु २—बुढ़ापा

हम गिरफ़्तारों[1] को अब क्या काम हैं गुलशन से लेक[2]।
जी निकल जाता है जब सुनते हैं आती है बहार॥

इस युग के और कवियों में "मज़मून", "फ़ुग़ाँ", "यकरंग" और बहुत से और कवी भी हैं। पर इस संक्षिप्त इतिहास में केवल उनके नाम ही दिए जा सकते हैं।

अभी कुछ दिन हुए उत्तरी भारत के एक और पुराने कवि के बारे में कुछ पता चला है। उसका उपनाम "फ़ाइज़" और नाम सदरुद्दीन मुहम्मद था। वह दिल्ली के रहने वाले थे और दिल्ली के राज्य-दरबार में उनको एक उच्च पद प्राप्त था। धन सम्पत्ति के अधिकारी होने के साथ साथ वह बड़े विद्वान भी थे और फ़ारसी में उनकी बहुत सी पुस्तकें मिलती हैं। प्रो० मसूद हसन रिज़वी ने उनका उर्दू काव्य संग्रह अपनी बहुमूल्य भूमिका और अनुसंधान-जनक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कर दिया है। उनका विचार है कि फ़ाइज़ उत्तरी भारत के पहिले उर्दू कवि हैं जिन्होंने अपना संग्रह तैय्यार किया है। इस संग्रह के अध्ययन से केवल उस समय की कविता और विचारों के बारे में ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता बल्कि उस समय की ऐतिहासिक समस्याओं और घटनाओं का हाल भी मालूम होता है। उन्होंने हर प्रकार की कविताएँ लिखी हैं जिनमें सुन्दरता और मनोभावों का गहरा अध्ययन, दोनों बातें पाई जाती हैं। फ़ाइज़ की कविता में स्थानीय रंग बहुत गहरा है। वह हिन्दू धर्म के विशेष त्योहारों और पुर्षों का वर्णन भी बड़े मनोरंजक ढंग से करते हैं। उनकी उपमाओं और अलंकारों में भी हिन्दी कविता का रंग झलकता है। उस समय के मेलों और त्योहारों का वर्णन उनके यहाँ बहुत सुन्दर ढंग से आया है। साराँश यह कि फ़ाइज़ की कविता से उस समय के साँस्कृतिक और सामाजिक जीवन का एक सुन्दर चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। दिल्ली के एक स्थान का उल्लेख करते हुए कहते हैं :—

है इन्दर की मानो सभा जल्वागर[3]।
कि हर नार दिस्ती है रम्भा सों वर[4]॥

१—बन्दियों, २—परन्तु, ३—शोभायमान, ४—बढ़कर

कमर पर जो पड़ते हैं सब मूए-सर[1]।
उना बीच मिल जाता मूए-कमर[2] ॥

ल जाती है ज्यों अप्सरा जी को छल।
कि देख उनको पानी में दिल जाए जल ॥

हर एक नार सूरज सी शोभा धरे।
खड़ी हो सुरज की तपस्या करे ॥

एक ग़ज़ल के कुछ शेर देखिए :—

गाली तेरी मुझ दिलको प्यारी लगे।
दुआ मेरी तुझ मनमें भारी लगे ॥

नहीं तुझसा और शौख़ ऐ मनहरन।
तेरी बात दिल को न्यारी लगे ॥

भवाँ तेरी शमशीर जुल्फ़ाँ कमन्द।
पलक तेरी जैसे कटारी लगे ॥

इस प्रकार उत्तरी भारत में दिल्ली उर्दू साहित्य का केन्द्र बन गया और जैसे-जैसे समय बीतता गया, दक्षिण का साहित्यिक प्रभाव मंद पड़ता गया। मुग़ल राज्य बड़े वेग के साथ पतन की ओर अग्रसर हो रहा था और राजनीतिक क्षेत्र में उसकी शक्ति घटती जा रही थी पर एक महान परम्परा रखने के कारण उसमें जीवित रहने की योग्यता अभी बाक़ी थी। मुहम्मद शाह बादशाह के युग में राज्य-दरबार षड्यंत्र-कारियों का अड्डा बन गया था। बादशाह ने अपनी सारी शक्ति बड़े-बड़े अमीरों को सौंप दी थी और स्वयं भोग-विलास को जीवन का लक्ष्य बना कर हर प्रकार के उत्तरदायित्व से अलग रहना चाहता था। दिल्ली की शोभा इतनी बढ़ गई कि दूर दूर के ऊँचे कर्मचारी आकर बादशाह के संग रंगरेलियाँ मनाते। अमीरों के आपस के झगड़े और नई शक्तियों के प्रबल होने के कारण एक विदेशी आक्रमणकारी नादिरशाह को इसका अवसर मिल गया कि वह दिल्ली पर चढ़ आए। चुनांचे सन् १७३९ ई० में वह एक प्रकोप के समान पंजाब को कुचलता हुआ दिल्ली के द्वार पर आ पहुँचा। मुग़ल बादशाह उसका मुक़ाबिला न कर सका और दिल्ली रक्त में डूब गई। कई कवियों और इतिहास लिखने वालों

१—सर के बाल, २—बाल के ऐसी पतली कमर

ने इस विनाश का भयंकर चित्र खीचा है। नादिरशाह दिल्ली की सारी सम्पति लेकर चला गया, और यह घाव थोड़े दिनों में भर आया परन्तु जो नई शक्तियाँ जन्म ले चुकी थीं उनको दबाना और राज्य के विभिन्न भागों को अलग होने से बचाना भी मुग़ल बादशाह की शक्ति के बाहर था और धीरे-धीरे यही चीज़ उनके लिए घातक सिद्ध हुई।

भारतवर्ष के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर दृष्टि डाली जाए तो यह जान पड़ता है कि अब न तो चित्र-कला की उन्नति हो रही थी न भवन-कला की। विभिन्न भाषाओं के अन्दर भी अब कोई तुलसी, जायसी, सूर और कबीर पैदा नहीं हो रहे थे। फ़ारसी भाषा जो उच्चवर्ग की सांस्कृतिक और व्यवहारिक भाषा थी भारत में उसकी जड़ें भी सूख रही थीं। इसलिए जीवन और सामाजिक चेतना के प्रभाव से उर्दू उन्नति की ओर बढ़ रही थी पर उसके साहित्य में वह बल नहीं देख पड़ता जो एक आगे बढ़ते हुए राष्ट्र और प्रगति करती हुई जनता के साहित्य में मिलता है। सामन्तशाही युग में साहित्य राज्य-दरबार के संरक्षण और सहानुभूति पर निर्भर होता है और मुग़ल राज्य ऐसा दुर्बल हो रहा था कि वह उर्दू साहित्य की प्रगति में किसी प्रकार भी सहायक नहीं हो सकता था फिर भी साहित्य और कला के सोते सूखे नहीं थे मुहम्मद शाह के दरबार में भारतवर्ष की संगीत कला जीवित हो रही थी और किसी सहारे के बिना उर्दू भाषा साधारण जीवन में अपनी जड़ें फैला रही थी।

समय वह था कि सिक्ख, जाट, मरहटे, सभी अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। दूर-दूर के मुग़ल प्रान्त स्वाधान हो रहे थे। ईस्ट-इन्डिया कम्पनी एक अमर-बेल के प्रकार जीवन पर छाई जा रही थी। एकता न होने के कारण उत्तरी पच्छिमी भारत किसी समय भी विदेशी आक्रमण का निशाना बन सकता था। चुनांचे नादिरशाह के १० वर्ष बाद अहमदशाह अब्दाली ने भारत की ओर रुख़ किया। केन्द्र में बड़े-बड़े जागीरदार प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी टोलियाँ बनाए हुए थे। बादशाह उनके हाथ में कठपुतली से अधिक सम्मान न रखते थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश की आर्थिक स्थिति ख़राब हो गई और जनता एक विवशता की हालत में जागीरदारों के दमन और राजदरबार के कर्मचारियों की लूट का शिकार होने लगी। शाह आलम (१७५६—१८०६ ई०)

राज-सिंहासन पर बैठे तो ईस्ट-इंडिया कम्पनी और मरहटों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और जाटों ने आगरे के आस पास लूट मार मचाकर जनता को भयभीत कर दिया था। रुहेलखंड में रुहेले पठानों का जोर बढ़ रहा था। बादशाह ने विवश होकर अँग्रेजी कम्पनी की शरण चाही और दीवानी का सारा कार्य उन्हें सौंपकर इलाहाबाद में उनके एक राजनीतिक पेन्शनर की भांति रहने लगे। १० वर्ष बाद जब वह मरहटों की सहायता से फिर दिल्ली के सिंहासन पर बैठे तो रुहेले पठानों ने राज महल पर आक्रमण करके बादशाह की आंखें निकाल लीं और कारागार में डाल दिया। दिल्ली पर एक प्रकार से मरहटों का अधिकार था और अभी शाह आलम का राज्य काल समाप्त भी नहीं हुआ था कि सन् १८०४ में लार्ड लेक ने दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकार दिल्ली में नाममात्र को मुगल बादशाही रह गई और उसके वास्तविक अधिकारी अंग्रेज हो गए।

यहाँ से दिल्ली की कहानी कुछ और क्लिष्ट हो जाता है परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से उन परिस्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है जिनमें उर्दू साहित्य उत्तरी भारत में जन्म लेकर आगे की ओर बढ़ रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दशा का प्रभाव जीवन पर जो कुछ पड़ता है उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं है। यह बात स्पष्ट है कि मुगल-राज्य एक बुझते हुए दीपक के समान रात के अंतिम अंधकार से लड़ रहा था पर उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वहाँ किसी प्रकार का प्रकाश फैला सकता। इस युग के सभी बड़े कवियों के यहां दिल्ली की इस बिगड़ी हुई हालत का चित्र देखा जा सकता है। इस अवस्था में कि जब लोगों की आर्थिक दशा खराब हो चुकी थी, बादशाह के हाथ दुर्बल थे और जीवन अज्ञात के भय से तुच्छ मालूम हो रहा था, एक प्रकार का नैतिक पतन भी आरम्भ हुआ। कुछ समय पहिले यदि कुछ नहीं था तो धर्म पर गहरे विश्वास के कारण लोग जीवन की समस्याओं को सहन कर लेते थे। अब एक प्रकार की निराशा और अविश्वास का उद्भव हुआ जिसने जीवन को तत्वहीन कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष की जनता जिन वर्गों में कई सौ वर्षों से विभाजित थी उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। उत्पादन प्रणाली बदली नहीं थी, ग्राम्य जीवन में जो एक सामूहिक

घनिष्ठता थी वह दुर्बल हो गई थी। किसी प्रकार की वैज्ञानिक जानकारी न होने के कारण उत्पादन के साधनों और जीवन के तौर तरीकों में ऐसी समानता जड़ पकड़ गई थी जो आगे बढ़ाने में असमर्थ थी। बादशाह दुर्बल और विलासी थे, उनके जागीरदार भी उसी रंग में रंगे हुये थे। सेना के पास न लड़ाई के सामान थे न साहस और न अनुशासन। सिपाहियों को वेतन भी ठीक से न मिलता था इसलिए वह जनता पर अत्याचार करके पेट पालते थे। एक मिटते हुये समाज और नाश होते हुये राज्य में जो बुराइयाँ जन्म ले सकती हैं वह सबकी सब उस समय के भारतवर्ष में मौजूद थीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि जागीरदारी व्यवस्था में घुन लग चुका था, अब राज्य केवल अपनी परम्पराओं के सहारे जीवित थे। जनता की सामूहिक शक्ति, जो बड़ी से बड़ी क्रांति ला सकती है, सोई हुई पड़ी थी क्योंकि बहुत दिनों की विवशता ने उन्हें परास्त कर दिया था और अभी तक उनमें उस चेतना का उद्भव नहीं हुआ था जो उनको अपनी स्थिति बदलने पर मजबूर करती। यह कोई दो चार वर्ष की बात नहीं थी बल्कि जागीरदारी के पतन का यह युग शताब्दियों में फैला हुआ था। इस बीच में अगर्चे किसी प्रकार का औद्योगिक विकास नही हुआ फिर भी व्यापार के द्वारा कहीं कहीं ऐसे लोग पैदा हो रहे थे जिन्हें मध्यम वर्ग में गिना जा सकता था।

इस बात को न भूलना चाहिए कि १८ वी शताब्दी में भारत वर्ष के कई भागों में अँग्रेज़ो कम्पनी ने अपनी नीव दृढ़ कर ली थी और वह जीवन के जो साधन अपने साथ लाई थी उसका प्रभाव भी बंगाल, मद्रास और बम्बई के क्षेत्रों पर पड़ रहा था। जहाँ तक उर्दू साहित्य का सम्बन्ध है उसने भी इस प्रभाव को स्वीकार किया परन्तु हिन्दू-मुसलिम सभ्यता की पुरानी परिस्थितियाँ स्वयं इतनी दृढ़ थीं कि यहाँ नए विचारों की उन्नति तेज़ी से नहीं हो सकी। यह बात स्पष्ट है कि जब उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता है तो सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उनका प्रगट होना अनिवार्य है। परन्तु ऐसा किसी समान अनुपात से नहीं होता। साहित्य रचना के नियम एक बार पैदा होकर अपना मार्ग स्वयं आप निर्मित कर लेते हैं और साधारण रूप से बहुत जल्द जल्द नहीं बदलते। इसके अतिरिक्त

जीवन के मूल आर्थिक साधन भी समान रूप से चल रहे थे इसलिये साहित्य में किसी प्रकार की नवीनता पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सारे विवाद का अर्थ यह है कि उस समय जो उर्दू साहित्य भी उत्पन्न हो रहा था उसमें जीवन का चित्रण और समस्याओं की व्याख्या तो अवश्य मिलती है पर जीवन को अग्रसर करने वाली शक्ति की कमी है, इसका एक कारण यह भी है कि उस समय के कवि-गण जनता से कोई गहरा सम्पर्क नहीं रखते थे और अधिकतर नगरों में बसने के कारण उन परिस्थितियों से अपरिचित थे जो जन-समूह के जीवन में व्याकुलता पैदा करती थीं। इससे यह न समझना चाहिए कि उस समय की उर्दू कविता जीवन से अलग-थलग थी, या केवल कल्पनाओं और स्वप्नों पर निर्धारित थी बल्कि अभिप्राय यह है कि उस समय के कवि चेतना-पूर्वक जीवन के संघर्ष को एक पक्षपाती बनकर नहीं देखते थे। वर्ग विभाजित समाज में हर मनुष्य को किसी न किसी श्रेणी में रहना पड़ता है और उसकी विचार धारा उसी वर्ग से तत्व और विषय प्राप्त करती है। परन्तु जब वर्गों का विभाजन बहुत स्पष्ट न हो और उत्पादन के साधन बिल्कुल आदिम अवस्था में हों उस समय प्रत्येक कवि पूर्ण रूप से केवल अपने वर्ग के उद्देश्यों का प्रचारक नहीं हो सकता। इसलिए इस समय ऐसे कवि भी मिलते हैं जो साधारणतः मानव जीवन की सुन्दरता और मानवता के गौरव का वर्णन ऐसी सचाई से करते हैं कि उन्हें केवल उच्चवर्ग के विचारों का प्रचारक किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता।

१८ वीं शताब्दी के उर्दू लेखकों और कवियों को इसी पृष्ठ-भूमि में देखना चाहिये। दो चार का उल्लेख ऊपर हो चुका है, आगे संक्षिप्त में उनका वर्णन किया जायगा जो उर्दू साहित्य को ऊपर उठा कर आकाश तक ले गए। परन्तु उनकी व्याख्या से पहिले यह भी देख लेना आवश्यक है कि उस समय तक उत्तरी भारत में उर्दू साहित्य की विशेषतायें क्या-क्या थीं। सबसे पहिली बात तो यह देख पड़ती है कि अभी गद्य का विकास नहीं हुआ था और पद्य में सबसे अधिक उन्नति ग़ज़ल की हुई थी। मसनवी मर्सिया और दूसरे प्रकार की कविताएँ भी लिखी गई थीं, पर उनकी प्रगति बहुत धीमी थी। अभी तक कविता राज दरबार से दूर थी अतः बादशाहों और सम्राटों की प्रशंसा में वह कविताएँ नहीं मिलतीं जिनको क़सीदा कहा जाता है। जहाँ तक

विचारों और विषयों का सम्बन्ध है उनके यहाँ अधिकतर प्रेम भक्ति, नैतिकता इत्यादि मिलती हैं। अगर्चे ईरानी संस्कृति और फ़ारसी भाषा का गहरा प्रभाव पड़ रहा था, परन्तु ब्रज भाषा और दक्षिणी उर्दू के प्रभाव भी देखे जा सकते हैं। उस समय के कवियों को अलंकारों में यमक और श्लेष से बहुत प्रेम था। कुछ लोगों का विचार है कि यह ढंग उन्होंने हिन्दी काव्य से लिया था और कुछ कहते हैं कि जब भारतवर्ष में फ़ारसी साहित्य का पतन हुआ तो फ़ारसी कविता केवल शब्दों का एक खेल होकर रह गई, इसलिये अलंकारों से बहुत काम लिया जाने लगा। व्याकरण और काव्य-शास्त्र की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, अगर्चे शाह हातिम और मिर्ज़ा मज़हर ने इसकी ओर संकेत किया था। इसके बाद से जिन कवियों का युग आता है उन्होंने उसी आधार पर एक विशाल भवन तैय्यार कर दिया और काव्य साहित्य अपने रूप और आंतरिक अवस्था में भी रचनात्मक सुन्दरता की ओर बहुत आगे बढ़ गया।

जिस युग का उल्लेख अब किया जा रहा है उसमें सैकड़ों कवियों के नाम मिलते हैं, पर इस जगह केवल उन्हीं की चर्चा की जाएगी जो सर्वोत्तम हैं. जैसे "फ़ुग़ां", "ताबां", "दर्द", "सौदा", "सोज़", "मीर", "क़ायम" और "यक़ीन"। इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि समय एक अविरल सूत्र है और साहित्य के इतिहास को इस तरह विभाजित नहीं किया जा सकता कि एक युग दूसरे युग से पूर्णतया अलग हो जाए। कुछ लेखकों का बुढ़ापा होता है तो कुछ की जवानी, कभी कभी उन्हें एक ही युग में गिन लिया जाता है और कभी वह अपनी आयु के आधार पर विभाजित कर दिए जाते हैं, इसलिए जब आगे बढ़कर कुछ और कवियों का वर्णन भी होगा तो यह न समझना चाहिए कि काव्य-धारा में कोई बड़ा परिवर्तन हो गया था बल्कि अपनी सुविधा के लिए सामयिक क्रम को सामने रखते हुए उन्हें युगों में विभाजित कर दिया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि शाह आलम बादशाह के राज्य-काल में दिल्ली पर बहुत सी आपत्तियाँ आईं और बादशाह को इलाहाबाद में ईस्ट-इंडिया कम्पनी के एक बन्दी के रूप में लगभग १० वर्ष तक रहना पड़ा इसका परिणाम यह हुआ कि कला-कौशल और साहित्य के क्षेत्र में बड़ी निराशा फैल गई और कवियों ने जब यह देखा कि

दिल्ली में उनका आदर-सत्कार करने वाले नहीं रह गये हैं तो उन्होंने दूसरे राज-दरबारों की राह ली। कहा जाता है कि इनमें सबसे पहिले जिसने अपना घर छोड़कर अवध और अज़ीमाबाद (पटना) के दरबार में शरण ली वह "फ़ुगाँ" थे। उनका नाम अशरफ़ अली खां था। "नदीम" के शिष्य थे। अहमदशाह बादशाह को दूध पिलाने वाली के पुत्र थे और हंसना हंसाना उनका काम था। पर जब दिल्ली में कोई सहारा न रहा तो अवध के नौव्वाब शुजाउद्दौला के दरबार में आये और यहां से पटना चले गये उनकी मृत्यु सन् १७७२ ई० में हुई। पटने में महाराजा शिताबराय ने उनका बड़ा सम्मान किया और अपने पास से कहीं जाने नहीं दिया। उनकी भाषा बड़ी शुद्ध, मीठी और सरल है उनका एक फ़ारसी और एक उर्दू काव्य-संग्रह मिलता है उर्दू संग्रह अभी कुछ समय पहिले प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। कुछ शेर यह हैं :—

ज़ख्मे-दिल तो सिया नहीं जाता।
बिन सिये भी रहा नहीं जाता॥
ऐ फ़ुगां देखना, समझ लेना।
दे के दिल फिर लिया नहीं जाता॥

× × ×

उसके विसालो-हिज्र[1] में यों ही गुज़र गई।
देखा तो हँस दिया, जो न देखा तो रो दिया॥

मीर अब्दुल हुई जिनका उपनाम "ताबाँ" था दिल्ली के रहने वाले थे और इतने सुन्दर थे कि बादशाह स्वय उन्हें देखने के लिये उस रास्ते से गुज़रे जिस पर वह बैठा करते थे। ताबाँ अपने समय के बहुत बड़े कवियों में गिने जाते थे। शराब बहुत पीते थे और उसी के कारण युवावस्था में उनका देहान्त हो गया। उनका काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुका है जिसके अध्ययन से यह प्रगट होता है कि उनकी भाषा सरल एवं सरस थी और ग़ज़ल के लिये जिस प्रकार के कोमल और भावपूर्ण विचारों की आवश्यकता होती है वह उनके यहाँ पाए जाते हैं। मीर तक़ी "मीर" ने उनके सम्बन्ध में बहुत ठीक कहा है कि अगर्चे उनकी कविता के विषय बहुत सीमित थे पर उन्होंने बड़ी रंगीनी से उन्हें प्रस्तुत किया है। वैसे तो उन्होंने सभी प्रकार की कविताएँ

१—संयोग-वियोग,

लिखी हैं पर उनकी ग़ज़लें साहित्य के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित शेर देखिये :—

नहीं कोई दोस्त अपना, यार अपना, मेहरबाँ अपना।
सुनाऊं किसको ग़म अपना, अलम[1] अपना, बयाँ अपना॥

न ताक़त है इशारे की, न कहने की न सुनने की।
कहूँ क्या मैं, सुनूं क्या मैं, बताऊं क्या बयां अपना॥

बहुत चाहा कि आवे यार या इस दिल को सब्र आये।
न यार आया, न सब्र आया, दिया मैं जी निदाँ[2] अपना॥

× × ×

सौदे[3] में गुज़रती है क्या खूब तरह ताबाँ।
दो चार घड़ी रोना दो चार घड़ी बातें॥

जिन कवियों ने उर्दू ग़ज़ल को ग़ज़ल बनाया उनमें "दर्द" "सौदा" और "मीर" सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें से प्रत्येक उस समय के जीवन की व्याकुलता और उद्विग्नता को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है। इनके विचार में कविता का जीवन के प्रति जो कर्तव्य था वह चेतना-पूर्वक उस समय की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को प्रस्तुत करना नहीं था वरन् उस वातावरण का चित्रण करना और इस प्रकार उसका उल्लेख करना था कि जग-बीती आप-बीती का रूप धारण कर सके या जीवन की साधारण भावनाएँ किसी बिशेष ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत किए बिना सामने आ जाय, यही उनका सबसे बड़ा ध्येय था। ग़ज़ल की कविता में उन्हें इसका अवसर न मिलता था कि वह समकालीन घटनाओं का वर्णन कर सकें पर जो कोई भी उनके काव्य-संग्रह का गहरा अध्ययन करेगा उसे यह जानने में कुछ भी कठिनाई न होगी कि वह जीवन के सच्चे चित्रकार थे। इस स्थान पर उनकी कविताओं का विश्लेषण नहीं किया जा सकता परन्तु उनकी उन विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है जिनसे उनकी बड़ाई का अनुमान लगाय जा सके। अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति जो १८ वीं शताब्दी की दिल्ली और भारतवर्ष में सामन्ती पतन के कारण जन्म लेने वाली अवस्था को भली भाँति समझना चाहता है वह इन

१—दुःख, २—निदान, ३—उन्मादता

कवियों की रचनाओं और कल्पनाओं में उसका प्रतिविम्ब स्पष्ट रूप से देख सकता है।

ख़्वाजा मीर "दर्द" जो उर्दू के प्रमुख सूफ़ी कवि गिने जाते हैं, सन् १७२१ ई० में दिल्ली में पैदा हुए थे। उनके वंश में बहुत दिनों से पीरी-मुरीदी चली आती थी। उनके पिता ख़्वाजा मुहम्मद नासिर "अनदलीप" स्वयं एक मशहूर सूफ़ी और कवि थे। दर्द ने भी किशोरावस्था ही से सूफ़ी-मत को अपनाया और सरस्वती के चरणों में अपना सिर झुका दिया। वह बड़े विद्वान और प्रतिभाशाली पुरुष थे। तसौव्वुफ़ तो उनका ओढ़ना बिछौना था जिसके बारे में उन्होंने फ़ारसी में कई पुस्तकें लिखी थीं। उसके अतिरिक्त वह संगीत कला से भी पूर्णतयः परिचित थे और कविता में निपुण गिने जाते थे। जब दिल्ली की हालत बहुत ख़राब हो गई और सभी उसे छोड़कर बाहर जाने लगे उस समय भी दर्द ने अपनी चौखट नहीं छोड़ी। उनका एक छोटा सा काव्य-संग्रह मिलता है। जिसमें फ़ारसी और उर्दू की कविताएँ सम्मिलित हैं। उन्होंने दिल्ली ही में सन् १७८५ ई० में अपने प्राण त्याग किए और वहीं दफ़न किए गए।

उनकी अधिकतर कविताएँ ग़ज़ल के रूप में मिलती हैं। जिनमें तसौव्वुफ़ के गूढ़ सिद्धान्त साफ़-सुथरी और सरल भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं। उनका उपनाम दर्द है तो उनकी कविता में भी वही शोकमय और करुणाजनक भावनाएँ मिलती हैं। उनकी भाषा लोचदार, मुलायम और प्रवाह-पूर्ण है। दिल्ली की बोलचाल की वह भाषा जो सरल और मीठी थी, मीर के बाद दर्द ही की कविता में मिलती है। उस समय के सभी कवियों और लेखकों ने दर्द को उत्तम कवि माना है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि उनका मान केवल उनकी कविता के कारण नहीं था बल्कि एक बड़े भक्त और सूफ़ी फ़क़ीर होने के नाते भी सहस्त्रों मनुष्य उनसे बँधे हुए थे। वह कभी राज-दरबार में नहीं जाते थे फिर भी राज-दरबार से उनकी ख़ानक़ाह (आश्रम) की सहायता होती थी। उनके छोटे भाई मीर मुहम्मद "असर" भी, जो कविता में उनके शिष्य थे, उर्दू के अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। उनका काव्य संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है और एक मसनवी "ख़्वाबो-ख़याल" बहुत प्रसिद्ध है। उनकी कविता का ढंग दर्द से मिलता-जुलता है। दर्द के छोटे से संग्रह में अधिकतर ग़ज़लें

छोटी बहरों में हैं पर वह ऐसी प्रभावशाली हैं कि मौलाना मुहम्मद हुसैन "आज़ाद" ने उनके लिये कहा है कि वह तलवारों की तेज़ी नश्तरों से भर देते हैं। उनके कुछ शेर यह हैं:—

जग में आकर इधर उधर देखा।
वही आया नज़र जिधर देखा॥

जान से हो गये बदन खाली।
जिस तरफ़ तूने आँख भर देखा॥

नाला, फ़रियाद, आह और ज़ारी।[1]
आप से हो सका सो कर देखा॥

उन लबों[2] ने न की मसीहाई[3]।
हम ने सौ सौ तरह से मर देखा॥

× × ×

तू बिन कहे घर से कल गया था।
अपना भी तो जी निकल गया था॥

अब दिल को संभालना है मुश्किल।
अगले दिनों कुछ संभल गया था॥

मैं सामने से जो मुसकराया।
होंठ उस का भी दर्द हिल गया था॥

× × ×

अहले ज़माने आगे भी थे और ज़माना था।
पर अब जो कुछ है यह तो किसी ने सुना न था॥

× × ×

वह दिन किधर गये कि हमें भी फ़राग़[4] था।
यानी कभू तो हम में भी दिल था दिमाग़ था॥

गुज़रा हूँ जिस खराबे[5] में कहते हैं वाँ के लोग।
है कोई दिन की बात ये घर था, ये बाग़ था॥

१—रोना धोना २—अधर ३—निरोग करना ४—अवकाश ५—खँडहर।

आख़िरी तीन शेरों में दिल्ली के विनाश और जीवन के निस्सार हो जाने का कितना सुन्दर विवरण किया गया है। इनसे वह वातावरण पूर्ण रूप से हमारे सामने आ जाता है जिसमें एक मिटती हुई सभ्यता अपना दुःख प्रगट करती है और भविष्य से अनभिज्ञ होने के कारण निराश हो जाती है।

उस समय के एक और महाकवि मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी "सौदा" थे। उनका जन्म सन् १७१३ ई० में हुआ। सौदा के पिता एक ब्यापारी के रूप में ईरान से दिल्ली आये थे और फिर यहीं के होगये। सौदा स्वभाव ही से एक अमीराना और हंसने हँसानेवाला दिल रखते थे। राज-दरबार में उनकी पहुँच थी और बड़े जागीरदारों से उनकी मित्रता थी। कहा जाता है कि वह शाह हातिम के शिष्य थे पर सच यह है कि उन्होंने अपने युग के दूसरे विद्वानों से भी लाभ उठाया था। जब अहमदशाह दर्रानी और मरहठों के आक्रमणों से दिल्ली की स्थिति ख़राब होगई तो सौदा भी बाहर निकले। सबसे पहिले वह फ़र्रुख़ाबाद के नौव्वाब मेहरबान खाँ "रिन्द" के यहाँ गये और सन् १७८५ के लगभग अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद में पहुँचे। इतिहासों में है कि शुजाउद्दौला ने उनको पत्र लिखकर बुलाया था। जब आसफ़ुद्दौला ने अपनी राजधानी लखनऊ बनाई तो सौदा भी लखनऊ चले आये यहाँ वह बड़ा संतोषजनक जीवन बिताने थे क्योंकि उन्हें अवध सरकार से ६ हज़ार रुपये वार्षिक मिलते थे सन् १७९५ ई० में लखनऊ ही में उनका देहांत हुआ।

सौदा के लखनऊ आने से यहाँ के काव्य क्षेत्र में एक नई लहर दौड़ गई। आसफ़ुद्दौला स्वयं उर्दू के एक बड़े अच्छे कवि थे इसलिये यहाँ बड़े बड़े कवि-सम्मेलन होते थे जिनमें नौव्वाब और बड़े बड़े अमीर-उमरा सम्मिलित होते थे। ऐसा जान पड़ता था कि हर ओर से कला-कौशल और कविता के सोते फूट पड़े हैं। कवियों में आपस में चोटें भी चलती थीं और इस प्रकार मुक़ाबिले के कारण साहित्य की उन्नति हो रही थी। सौदा अधिकतर राज-दरबारों से सम्बन्ध रखते थे इसलिये उनकी कविता में क़सीदे बहुत मिलते हैं। कुछ क़सीदे तो उन्होंने धार्मिक नेताओं और पथ-प्रदर्शकों की प्रशंसा में लिखे हैं और कुछ बादशाहों और नवाबों की सराहना में। वह उर्दू के प्रमुख क़सीदा लिखने वाले माने जाते हैं। फ़ारसी में क़सीदा लिखने की जो परम्परा थी सौदा ने

उसका पूरी तरह अनुसरण किया और एक ऐसी भाषा में जो अभी बहुत उन्नतिशील नहीं कही जा सकती थी उसमें ऊँचे और सूक्ष्म-विचार बड़ी सुन्दरता और निपुणता के साथ प्रस्तुत किये हैं। क़सीदे के अतिरिक्त उन्होंने ग़ज़ल, मसनवी, रुबाई, वासोख्त, मर्सिया और हजो सभी प्रकार की चीजें लिखी हैं। सौदा का एक फ़ारसी संग्रह भी मिलता है। गद्य में भी उन्होंने कुछ रचनाएँ की थीं पर अब उनमें से अधिकतर लुप्त हो चुकी हैं।

सौदा को विशेषकर एक क़सीदा लिखने वाला समझा जाता है उनके जीवन ही में यह बात मानी जाने लगी थी कि वह जिस कोटि के क़सीदे लिखते हैं वैसी ग़ज़ल नहीं लिख पाते। इसकी ओर उन्होंने अपनी कविताओं में संकेत भी किया है, जैसे :—

लोग कहते हैं कि सौदा का क़सीदा है खब।
उनकी खिदमत में लिए मैं यह ग़ज़ल जाऊँगा॥

यह बात आज भी मानी जाती है। वह उर्दू साहित्य के पूरे इतिहास में सबसे बड़े क़सीदा लिखने वाले थे, उनकी ग़ज़लें भी बहुत अच्छी होती हैं। परन्तु वह अधिकतर गुरुता का पता देती हैं। उनमें वह रस और भावना का वह जोश नहीं मिलता जो उसी युग के दूसरे ग़ज़ल लिखने वालों के यहाँ मिलता है। ग़ज़ल में भी उनकी भाषा क़सीदे की कठिन और फ़ारसी-मिश्रित भाषा के निकट रहती है इसलिए उसमें वह नम्रता और सरलता नहीं मिलती जो ग़ज़ल की जान है। क़सीदे के बाद उन्हें सबसे अधिक सफलता हजो में प्राप्त हुई है। जिस प्रकार क़सीदे में उनके क़लम से पुष्प-वर्षा होती थी उसी प्रकार हजो लिखते समय वह अपने क़लम की नोक विष में बुझा लेते थे और उनकी कविताओं से आग की लपटें निकलने लगती थीं। उनकी अधिकतर हजवें व्यक्ति से सम्बन्ध रखती थीं जिनमें उस समय के पतन और सामाजिक स्थिति का वर्णन बड़े आलोचनात्मक ढंग से किया गया है। ऐसी कविताओं से केवल उस युग की गिरी हुई दशा का चित्र ही सम्मुख नहीं आता वरन् एक शोकमय भावना का उद्भव भी होता है, जो सामन्ती युग के नष्ट होने पर उन लोगों के हृदय में पैदा हो रही थी, जो उससे बँधे हुये थे। सौदा की कविताओं का विश्लेषण विस्तार में किया जाए तो विशेषकर मुसलमानों के आचार-

विचार और जीवन का ख़ाका बहुत सफ़ाई से खींचा जा सकता है। इस सम्बन्ध में उनकी प्रसिद्ध कविताएँ तीन हैं जिनमें से एक में उन्होंने एक बहुत ही दुर्बल घोड़े को प्रतीक बनाकर उस युग की दुर्बलता का चित्रण किया है। एक दूसरी कविता में बादशाह से लेकर जन साधारण तक में जो बुराइयाँ पैदा हो गई थीं उनका उल्लेख है। कहीं हँसी की ओट आँसू हैं और कहीं व्यंगों के पर्दे में जीवन की प्रबलता का वर्णन। सौदा इसीलिए एक महाकवि कहे जाते हैं कि उन्होंने जिस प्रकार की भी कविता लिखी उसमें महानता पैदा कर दी है। उनके मर्सिये भी अपने युग तक अद्वितीय रहे हैं।

सौदा के समय तक उर्दू भाषा दक्षिण के प्रभाव से दूर हो चुकी थी और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा था। क़सीदे की भाषा सदैव कठिन होती है इसलिए सौदा भी फ़ारसी का बहुत प्रयोग करते हैं। साथ ही साथ यह भी है कि वह हिन्दी के सुन्दर शब्द ही नहीं हिन्दुस्तानी विचार और हिन्दुस्तानी जीवन से सम्बन्ध रखने वाले धार्मिक और ऐतिहासिक वस्तुओं को भी काम में लाते थे। अर्जुन, कृष्ण, इन्द्र और इस प्रकार के दूसरे महत्व रखने वाले पुरुषों का नाम भी उनकी कविताओं में आता है। फ़ारसी और हिन्दी शब्दों का मेल उन्होंने जिस प्रकार किया है उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि किस प्रकार भाषा में उन्नति हो रही थी। जो व्यक्ति सौदा की उर्दू फ़ारसी रचनाओं का गहरा अध्ययन करेगा वह इसे अवश्य स्वीकार करेगा कि वह केवल एक कवि नहीं थे बल्कि एक बड़े विद्वान और ज्ञानी पुरुष भी थे, इसी कारण से उनकी कविता के पठन से भाषा के साथ-साथ जीवन की बहुत सी समस्याओं का अनुमान भी होता है। उन्होंने अपने पश्चात उर्दू काव्य पर जो प्रभाव छोड़ा है वह बहुत व्यापक और गहरा है। इस अवसर पर उनके क़सीदे, हजो और मर्सिए इत्यादि का उदाहरण नहीं दिया जा सकता, केवल ग़ज़लों के कुछ शेर दिए जाते हैं :—

जो मज़कूर[1] उससे करता है कोई ग़मख़ार[2] रोने का।
तो कहता है कि चुप रह, है उसे आज़ार[3] रोने का॥

१—उल्लेख, २—दुःख का साथी, ३—बीमारी

मैं अपने हाल पर हँसता हूँ वरना हर घड़ी ज़ालिम ।
मुहब्बत में तेरी सामाँ किया तैय्यार रोने का ॥
कभू मैं बात बिन रोए नहीं की उससे पर उनने ।
न पूछा यूं सबब क्या है तेरे हर बार रोने का ॥

× × ×

जब नजर उसकी आन पड़ती है ।
ज़िन्दगी तब ध्यान पड़ती है ॥
एक के मुँह से जिस घड़ी निकले ।
फिर तो सौ की ज़बान पड़ती है ॥
लेकिन इतना कहे कोई मुझसे ।
कभ उसके भी कान पड़ती है ? ॥

× ×

मैं हाल कहूँ किससे, तेरे अहद्[1] में अपना ।
रोते हैं कहीं दिल को, कहीं जी की पड़ी है ॥

× × ×

जिस रोज़ किसी और प बेदाद[2] करोगे ।
यह याद रहे हमको बहुत याद करोगे ॥

इस युग के एक और प्रसिद्ध कवि "सोज़" थे, उनका नाम सैय्यद मुहम्मद मीर था । पहिले उपनाम "मीर" रखा था पर जब मीर तक़ी "मीर" का नाम भारत के काव्य-क्षेत्र पर छा गया तो सोज़ ने अपना उपनाम मीर से बदल कर सोज़ कर लिया । दिल्ली ही में साधारण जीवन व्यतीत करते थे पर जब वहाँ रहना कठिन हो गया तो फ़र्रुखाबाद चले गए, वहाँ से लखनऊ होते हुए मुर्शिदाबाद का रास्ता लिया और जब वहाँ भी सफलता प्राप्त न हुई तो फिर लखनऊ लौट आए । अबकी बार नौव्वाब आसफ़ुद्दौला ने उनको अपना गुरू नियुक्त कर लिया, पर अभी कुछ ही दिन बीते थे कि सन् १७९८ ई० में उनका देहान्त हो गया । सोज़ कविता के अतिरिक्त घोड़े की सवारी-शस्त्र विद्या और तीर चलाने में भी निपुण थे । संगीत-कला अच्छी तरह जानते थे और सितार बजाने में भी

१—युग, २—अत्याचार

कमाल रखते थे। उनका काव्य-संग्रह बहुत छोटा है और उसमें अधिकतर ग़ज़लें हैं। उनकी भाषा बहुत सरल और बोलचाल के निकट है, इसीलिए उसमें बहुत मिठास पाई जाती है। ग़ज़ल के लिए जिस प्रकार की भावनाओं की आवश्यकता होती है और उनके उल्लेख के लिए जैसी सरल और रसीली भाषा चाहिए वह दोनों चीज़ें सोज़ा के यहाँ मिलती हैं। उनके कुछ शेर देखिए :—

ले फिरा मैं कहाँ कहाँ दिल को।
न लगा, ले गया जहाँ दिलको॥

× × ×

जब तलक आँखें खुली थी दुःख प दुःख देखा किए।
मुंद गई जब आँख यों तब सोज़ सब आनन्द है॥

× × ×

रात को नींद है, न दिन को चैन।
ऐसे जीने से ऐ ख़ुदा गुज़रा॥

× × ×

कहता न था मैं ऐ दिल! इस काम से तू बाज़[1] आ।
देखा मज़ा न तूने नादान आशिकी का॥

इस युग के सब से प्रसिद्ध कवि मीर तक़ी "मीर" थे। मीर ने अपनी जीवन कथा आप लिखी है जो फ़ारसी भाषा में "ज़िक्रे-मीर" के नाम से प्रकाशित हो चुकी है उसमें केवल मीर के बारे ही में बहुत सी बातें नहीं मालूम होतीं बल्कि उस समय की सामाजिक और राजनीतिक हालत भी मालूम होते है। वह अकबराबाद (आगरा) में सन् १७२५ ई० में एक बड़े उच्च कुल में पैदा हुए थे। उनके पिता एक सुविख्यात सूफ़ी फ़क़ीर थे। बालपन ही से मीर दिन रात सूफ़ियों और ज्ञानियों के संग उठते बैठते, उनकी बातें सुनते और सरल जीवन बिताते थे। अभी वह केवल १० बर्ष के थे कि उनके पिता

१—अलग रह

परलोक सिधारे। सौतेले भाइयों ने उनको इतना कष्ट पहुँचाया कि उसी अवस्था में उन्हें आगरा छोड़ना पड़ा। दिल्ली आकर वह अपने सौतेले मामूँ "ख़ाने-आरज़ू" के यहाँ ठहरे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है ख़ाने-आरज़ू अपने समय के बहुत बड़े विद्वान और कवि थे और बहुत से कवियों के गुरू, इसलिए यह बात मानने में संकोच नहीं हो सकता कि मीर ने भी उनसे लाभ उठाया होगा पर इस बात को सिद्ध रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि मीर की उनसे बनती न थी। दिल्ली पहुँच कर मीर ने बहुत से अमीरों के यहाँ नौकरी की। कहीं लड़कों को पढ़ाते थे, कहीं दूसरे काम करते थे। परन्तु कोई समय ऐसा नहीं गुज़रा जिसमें उनको चैन मिला हो। जैसी दुःख-भरी हालत दिल्ली की थी वैसा ही जीवन मीर का था। अगर कोई उस पतनशील समाज के काव्यमई रूप को उसकी सारी शोकपूर्ण गहराइयों के साथ देखना चाहे तो वह उसे उस समय के इतिहास में न पाएगा बल्कि मीर की कविताओं में उसे स्पष्ट रूप से देख पड़ेगा। उन्हों ने स्वयं कहा है :—

बरहमी हाल की है सारी मेरे दीवाँ में।
सैर कर तू भी यह मजमुआ परीशानी का॥

दिल्ली की हालत दिन-प्रति-दिन गिरती जाती थी। कवि-गण बाहर चले जा रहे थे। सौदा, सोज़ और दूसरे कवि लखनऊ जा चुके थे। मीर ने भी जब कठिनाइयाँ बढ़ती देखीं तो लखनऊ की राह पकड़ी और सन् १७८२ ई० में वहाँ पहुँच गए। नौव्वाब आसफ़ुदौला ने उनका स्वागत किया और तीन सौ रुपिए मासिक वृत्ति नियुक्ति कर दी। मीर अपने स्वभाव से बहुत कोमल हृदय के थे। आत्म-गौरव बहुत था और अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए बड़ी से बड़ी आपत्ति सहन करने को तत्पर रहते थे। परिणाम यह हुआ कि नौव्वाब से उनका निर्वाह न हो सका और उन्होंने राज दरबार जाना छोड़ दिया फिर भी आसफ़ुदौला ने उनकी वृत्ति जारी रक्खी। सन् १८१० ई० में लखनऊ ही में उनका देहान्त हो गया। ६ काव्य-संग्रहों के अतिरिक्त मीर की और भी कई पुस्तकें मिलती हैं जो फ़ारसी में हैं। "ज़िक्रे-मीर" उनकी आत्म-कथा, "निकातुश-शोअरा" कवियों का तज़किरा, "फ़ैज़े-मीर" जिसमें उन्होंने अपने पुत्र की

शिक्षा के लिए कुछ सूफ़ी फ़क़ीरों की कहानी बयान की है, यह सब रचनाएँ फ़ारसी गद्य में हैं, और बड़ा ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व रखती हैं। इनके अतिरिक्त एक फ़ारसी काव्य-संग्रह और एक मर्सिए का संग्रह भी मिलता है।

मीर ने अपना जीवन ही दुःख में बिताया था, इसलिए उन्हें उजड़ी हुई दिल्ली का प्रतीक कहा जा सकता है। सूफ़ी पिता ने उन्हें सिखाया था कि जगत में प्रेम के सिवा और कुछ भी नहीं है। प्रेम ही के कारण संसार में जीवन की नदी बह रही है। उन्होंने मीर को संतोष[1] की शिक्षा दी थी और मनुष्य की श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाया था। बचपन की यह सारी बातें उनके हृदय में जमकर बैठ गई थीं। फिर जब चारों ओर से दुःख ने आ घेरा और भारतवर्ष दुर्दशा की अन्तिम सीमा को छूने लगा तो मीर के व्यक्तित्व में एक आश्चर्य-जनक बाँकपन और सुन्दरता पैदा हो गई। वह किसी के सामने हाथ फैलाने को मनुष्य-जाति का निरादर समझते थे। यही नहीं वह ईश्वर का उपकार भी स्वीकार करना नहीं चाहते थे। साथ-ही-साथ वह प्रेम-दृष्टि के भी घायल थे इसीलिए उनकी कविता में आपबीती का रंग पग पग पर झलकता है। मीर ने एक ऐसे संसार को अपने हृदय में जन्म दिया था जिसमें जीवन की सारी शोभाएँ लुप्त हो चुकी थीं। उनकी वाटिका में अगर फूल खिलते थे तो इसलिए कि मुर्झा जायें। यही दुनिया उनके बाहर भी थी। क्योंकि मुग़ल राज्य इस प्रकार से गिर रहा था कि अब उसके सँभलने की आशा नहीं की जा सकती थी। मीर की कविता में इसके हृदय-विदारक और रोचक चित्र मिलते हैं। कहीं-कहीं तो उस समय की घटनाओं की ओर स्पष्ट संकेत दिखाई पड़ते हैं पर अधिकतर उस वातावरण का चित्रण किया गया है जो सामन्ती पतन के परिणाम स्वरूप पैदा हो रहा था।

मीर आज तक ग़ज़ल के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। उनके शेर शर के समान हृदय को बेधते ही चले जाते हैं। सीधी-साधी बोल-चाल की भाषा में इतना रस और इतनी मिठास, इतना विष और इतना कड़वापन, हार्दिक भावों का इतना कोमल चित्रण और भावनाओं का इतना तूफ़ानी जोश काव्य-रचना एक चमत्कार जान पड़ता

१—संतोषं परम सुखम्।

है। उन्होंने ग़ज़लों के अतिरिक्त मसनवी और दूसरे प्रकार की कविताएँ भी लिखी हैं। पर बादशाह वह ग़ज़ल ही के माने जाते हैं। यहाँ ग़ज़ल ही के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

हस्ती अपनी हबाब[1] की सी है।
यह नुमाइश सुराब[2] की सी है॥

नाज़ुकी उसके लब की क्या कहिए।
पंखड़ी एक गुलाब की सी है॥

बार बार उसके दर पर जाता हूँ।
हालत एक इज़्तिराब[3] की सी है॥

मीर उन नीम-बाज़[4] आँखों में।
सारी मस्ती शराब की सी है॥

× × ×

दिल वह नगर नहीं कि फिर आबाद हो सके।
पछताओगे, सुनो हो! यह बस्ती उजाड़ के॥

× × ×

मीर के दीनो-मज़हब को क्या पूछते हो तुम, उनने तो।
क़शक़ा[5] खेंचा, दैर[6] में बैठा कब का तर्क इस्लाम किया॥

× × ×

फ़क़ीराना आए सदा[7] कर चले।
मियाँ ख़ुश[8] रहो हम दुआ कर चले॥

जो तुम बिन न जीने की कहते थे हम।
सो उस अहद[9] को अब वफ़ा[10] कर चले॥

× × ×

१—बुलबुले २—मरुभूमि जो जल के समान दिखाई दे अर्थात् धोखा हो। ३—व्याकुलता ४—अधखुली, ५—तिलक लगाया, ६—मन्दिर ७—इस्लाम छोड़ दिया। ८—आवाज़। ९—वचन १०—पूरा

न मिल मीर अब के अमीरों से तू।
हुए हैं फ़क़ीर उनको दौलत से हम॥

× × ×

इब्तदाए-इश्क़[1] है रोता है क्या।
आगे आगे देखिए होता है क्या॥

× × ×

क़ामत[2] ख़मीदा[3], रंग शिकस्ता,[4] बदन[5] नज़ार[6]।
तेरा तो मीर ग़म में अजब हाल हो गया॥

इस अवसर पर एक और बात की ओर संकेत करना आवश्यक है। यह जो कहा जाता है कि उर्दू भाषा और साहित्य के निर्माण और विकास में सभी धर्मों और वर्गों के लोगों ने भाग लिया उसका अर्थ यह है कि जब तक राजनीति ने सांस्कृति और भाषा पर धर्म की छाप नहीं लगाई थी उस समय तक हिन्दू और मुसलमान दोनों उर्दू में लिखते थे और इसमें उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। दोनों का आदर होता था और दोनों कवि सम्मेलनों में साथ सम्मिलित होते थे। चुनांचे जिस युग का वर्णन हो रहा है उसी में आनन्दराम "मुख़लिस", टेकचन्द "बहार", बिन्द्राबन "राक़िम", भिखारीलाल "अज़ीज़", महताब राए "ताबाँ", बाल मुकुन्द "हुज़ूर" मङ्गलसेन "उलफ़त", सियालकोटीमल "वारुस्ता", बिन्द्राबन लाल "ख़ुशगो", खूबचन्द "ज़का", राए सरबसुख "दीवाना" आदि जो फ़ारसी के बहुत बड़े विद्वानों में गिने जाते थे, कभी-कभी उर्दू कविताएँ भी लिखते थे और उस्ताद माने जाते थे। इनमें से कई ऐसे हैं जिनकी कविताएँ, रचनाएँ और शब्दकोश बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें से मुख़लिस, बहार, ख़ुशगो और वारुस्ता ईरानी विद्वानों की बराबरी करते थे। सरबसुख दीवाना अधिकतर पटना में रहे, वह फ़ारसी और उर्दू दोनों के बड़े कवि थे। उनके एक उर्दू और चार फ़ारसी संग्रहों का पता चलता है। उर्दू कवियों में दो प्रसिद्ध कवि मीर हैदरअली "हैरां" और

१—प्रेम का प्रारम्भ काल २—क़द ३—झुका हुआ ४—उड़ा हुआ ५—शरीर ६—अरजर।

जाफ़रअली "हसरत" उन के शिष्य थे। यह हसरत वही हैं जिन्होंने ग़ज़ल में नया रंग पैदा किया और जिसे उनके प्रसिद्ध शिष्य "जुरअत" ने लखनऊ पहुँच कर खूब चमकाया। इसका उल्लेख आगे के अध्याय में आएगा। १८ वीं शताब्दी के अन्त में और १६वीं के आरम्भ में पटना, अवध और हैदराबाद में भी ऐसे ही विद्वान हुए और उन्होंने फ़ारसी के अतिरिक्त उर्दू में भी कविताएँ लिखीं। यह सिलसिला इस समय तक चला जा रहा। इस अध्याय में केवल दिल्ली के १८ वीं शताब्दी के कवियों का नाम लिया गया, यदि कोई उनके बारे में अधिक जानना चाहे तो समयकालीन इतिहासों, काव्य-संग्रहों और तज़किरों में बहुत कुछ मिलेगा। प्राचीन कवियों में मीर, मुसहफ़ी, क़ायम और मीर हसन ने अपने अपने तज़किरों में इनका नाम बड़े सम्मान से लिया है।

उर्दू कविता का यह युग केवल इसीलिए महत्व-पूर्ण नहीं है कि इसने दर्द, सौदा और मीर को जन्म दिया बल्कि इसी युग में उर्दू साहित्य की जड़ें पूरी तरह जीवन में फैलीं और महान कवियों ने उस मिटती हुई सांस्कृति का चित्रण करके ऐतिहासिक महत्व का काम किया। अगरचे यह कवि पतन युग के कड़वेपन और नैराश्य के प्रतीक थे पर मनुष्य जाति के गौरव और अभिमान का पता भी इनकी कविता से चलता है। जीवन में सब कुछ हार जाने के बाद भी वह जीवन की प्रशंसा और सुन्दरता की खोज में लगे हुए थे। १८ वीं शताब्दी भारतवर्ष के इतिहास में विचित्र समस्याएँ लाई पर यह कवि जिनका उल्लेख हुआ उनसे परिचित न थे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह सामन्ती सांस्कृति अपने दिन पूरे कर चुकी है और उसी के गर्भ से एक नया जीवन जन्म लेगा। ईरानी और हिन्दुस्तानी सभ्यताओं के मेल-जोल से जो जीवन उत्पन्न हुआ था वह मिट रहा था परन्तु उसकी मिटती हुई बहार में एक प्रकार की सुन्दरता थी। रोगी शरीर की सुन्दरता भी कभी-कभी बड़ी आकर्षक होती है। यही बातें मीर और दर्द की कविता के लिए कही जा सकती हैं। यह भी न भूलना चाहिए कि इन कवियों ने भारतवर्ष में जन्म लिया था और यही कारण है कि वह अपनी कविता में देश के बाह्य और आन्तरिक जीवन की समस्याओं से दूर नहीं रहते थे। होली, दिवाली, पनघट, स्नान, मालन, जोगन इत्यादि पर उनकी कविताएँ मिलती हैं। सामाजिक, आर्थिक

और राजनैतिक पृष्ट भूमि मिलती है परन्तु वह सामाजिक चेतना नहीं है जो उन्हें बेहतर रास्ता दिखा सकती वह लोग नास्तिक नहीं थे बर उनकी विचार स्वतंत्रता उन्हें संकीर्णता और साम्प्रदायिकता के निकट भी नहीं आने देती थी। उनके यहाँ धर्म का अर्थ था आन्तरिक पवित्रता और मानव प्रेम जो छायावाद के विचारों से उन्हें मिला था। उनकी कविताओं में दार्शनिक गहराई की जगह भावुकता अधिक पाई जाती है। सारांश यह कि अवचेतन रूप से वह उस जीवन की समस्त अच्छाइयों और बुराइयों का व्याख्यान कर जाते हैं जिसे उन्होंने केवल देखा ही नहीं था वरन् उसका अनुभव भी किया था।

अध्याय ४

अवध और उर्दू साहित्य

पिछले अध्याय में दिल्ली की तबाही और परिणाम-स्वरूप वहाँ के कवियों के इधर उधर चले जाने का उल्लेख हो चुका है। दिल्ली का केन्द्र केवल साहित्यिक केन्द्र नहीं था बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी उसी को सबसे अधिक महत्व प्राप्त था। जब उसका सामाजिक गढ़ टूटा तो छोटे छोटे बहुत से राज-दरबार पैदा हो गए और वहीं अपने अपने स्थान पर साहित्यिक केन्द्र भी बन गए। यह बात स्पष्ट है कि उस सामन्ती अवस्था में जो छोटे छोटे केन्द्र बन रहे थे उनकी रूपरेखा भी सामन्ती ही हो सकती थी। अवध, फ़र्रुखाबाद, टांडा, अज़ीमाबाद, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद और बाद में रामपुर के राज्य दरबार पैदा हुए, जिनमें से कुछ तो थोड़े दिन अपनी बहार दिखाकर लुप्त हो गए, कुछ ने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व प्राप्त किया। सन् १७२४ ई० के लगभग अवध राज्य की नीव पड़ी, पर उसको वास्तविक महत्व शुजाउद्दौला के युग में हासिल हुआ। आरम्भ में अवध के नवाब वज़ीरों की राजधानी फ़ैज़ाबाद में थी और वह लोग दिल्ली के मुग़ल सम्राटों के अधीन एक वज़ीर की पदवी रखते थे, अगर्चे यथार्थ में वह स्वाधीन थे। शुजाउद्दौला ने सन् १७५४ ई० से १७७५ ई० तक राज्य किया। प्लासी, पानीपत और बक्सर की लड़ाइयों में भाग लेकर शुजाउद्दौला ने अवध को भारत के इतिहास में जगह दिला दी थी और फ़ैज़ाबाद को दिल्ली का एक छोटा सा नमूना बनाने के लिए कवियों, कलाकारों और अन्य दूसरे लोगों को बुलाकर वहाँ बसा रहे थे। नौव्वाब आसफ़ुद्दौला जिनका राज्य काल सन् १७७५ ई० से सन् १७९७ ई० तक है अवध की महिमा के जन्मदाता कहे जा सकते

हैं। उनमें अपने पिता की सूझ बूझ और वीरता तो न थी पर एक विशाल राज्य का शृंगार करके उसे सुन्दर और लोक-प्रिय बनाने की योग्यता अवश्य थी। कुछ तो ईस्ट-इन्डिया कम्पनी के दबाव के कारण और कुछ दूसरे कारणों से उन्होंने अपनी राजधानी फ़ैज़ाबाद से हटाकर लखनऊ कर ली और उसमें बड़े-बड़े भवन बनाकर उसे बाटिकाओं और बाग़ीचों का नगर बना दिया। आसफ़ुद्दौला के बाद उनके भाई सआदत अली खाँ सिंहासन पर बिराजमान हुए और १६ वर्ष राज्य करने के बाद सन् १८१४ ई० में परलोक सिधारे। इनके पश्चात् ग़ाज़ीउद्दीन हैदर नौव्वाब हुए। उन्होंने ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की सहायता से बादशाह की पदवी ग्रहण कह ली और दिल्ली दरबार से वह नाममात्र का नाता भी तोड़ लिया जो लगभग १०० वर्ष से चला आ रहा था। इसी तरह यह राज्य सन् १८५६ ई० तक चलता रहा, जब अँग्रेज़ों ने इस पर अधिकार प्राप्त करके अवध के अन्तिम बादशाह वाजिद अली शाह को कलकत्ते में नज़रबन्द कर दिया।

यहाँ अवध राज्य का इतिहास लिखना ध्येय नहीं है, बल्कि केवल यह दिखाना है कि एक छोटे पैमाने पर एक नया राज्य स्थापित हुआ जिसने थोड़े ही समय में एक बहुत बड़े साहित्यिक केन्द्र का रूप धारण कर लिया और कुछ ऐसी ऐतिहासिक सामग्री एकत्र हो गई कि अवध में उर्दू साहित्य एक नये रंग से विकासित हुआ। शुजाउद्दौला स्वयं कवि तो नहीं थे पर कवियों का बड़ा आदर-सत्कार करते थे और पत्र लिख-लिखकर कवियों को अपने दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए बुलाते थे, और कविगण भी जो दिल्ली में बेरोज़गार हो रहे थे इस नए उभरते हुए राज्य की ओर खिंचे आ रहे थे। आसफ़ुद्दौला स्वयं एक बड़े कवि थे और उनका काव्य-संग्रह देखने योग्य है। उन्होंने दिल्ली के प्रसिद्ध कवि सोज़ को अपना गुरू भी बना लिया था। इसी प्रकार ग़ाज़ीउद्दीन हैदर, नसीरुद्दीन हैदर और वाजिद अली शाह भी कविताएँ लिखते थे और वाजिद अली शाह तो लगभग १०० पुस्तकों के लेखक हैं जिनमें गद्य और पद्य, फ़ारसी और उर्दू सभी शामिल हैं।

इस बात का अनुमान ठीक से नहीं लगाया जा सकता कि दिल्ली के कवियों के आने से पहिले अवध में उर्दू भाषा की क्या हालत थी पर यह बात स्पष्ट है कि जब शुजाउद्दौला के युग में दिल्ली के बड़े बड़े

कवि सौदा, सोज़, फ़ुग़ाँ और ज़ाहिक इत्यादि आए तो वह यहाँ अपरिचित न थे। कवि सम्मेलनों में उनका सम्मान होता था। परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि उस समय तक लखनऊ में साहित्य का कोई स्पष्ट रूप न था। आसफ़ुद्दौला के युग में हर प्रकार के कला-कौशल और साहित्य की उन्नति हुई। वह स्वयं कवि-सम्मेलनों में जाते थे। जनता के त्यौहारों में सम्मिलित होते थे और देश के कला-कौशल को बढ़ावा देते थे। उनके होली खेलने का चित्र मीर तक़ी मीर ने बड़ी सुन्दरता से खींचा है। दिल्ली से जो कवि आ रहे थे, उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो अपनी आयु का बड़ा हिस्सा वहीं व्यतीत कर चुके थे और यहाँ आकर वह पूरी तरह यहाँ के जीवन में घुलमिल न सके पर १८वीं शताब्दी के आरम्भ में अवध का दरबार पूरे तौर से स्थापित हो चुका था और वहाँ का जीवन नवीन साँचे में ढल रहा था। इसलिए अब जो कवि बाहर से आए उन्हों ने लखनऊ के जीवन से प्रभाव भी लिया और साथ ही यहाँ के साहित्य को प्रभावित भी किया। इनमें से "मुसहफ़ी", "जुरअत", मीर "हसन" और "इन्शा" बड़ा महत्व रखते हैं। उर्दू साहित्य का छोटे से छोटा इतिहास भी देखा जाय तो उसमें लखनऊ साहित्य-केन्द्र और दिल्ली साहित्य-केन्द्र की विभिन्नताओं का उल्लेख मिलेगा, वास्तव में यह केन्द्र क्या थे, इसका वर्णन आगे आएगा। पर यह बात याद रखना चाहिए कि शैलियों की विभिन्नता जितनी अधिक भी रही हो, विचारधारा में कोई विचित्र विभिन्नता नहीं देख पड़ती।

अवध के एक साहित्यिक केन्द्र बनने का यह अर्थ नहीं है कि दिल्ली में शाइरी का बाज़ार ठण्डा पड़ गया था, बल्कि कुछ दिनों के लिए लखनऊ में दिल्ली ही के कई बड़े बड़े कवि एकत्र हो गए और यहाँ के राजदरबार और नगर में शेर शाइरी की ऐसी धूम मची कि उसके सम्मुख दिल्ली की शोभा कुछ दिनों के लिए मन्द पड़ गई। दिल्ली के प्रसिद्ध कवियों में से एक कवि "ज़ाहिक" फ़ैज़ाबाद में आए थे। साहित्य क्षेत्र में उनसे और सौदा से बराबर युद्ध हुआ करता था। भाषा के सम्बन्ध में उनको बड़ा महत्व प्राप्त था और शुद्ध शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उनकी मति सभी स्वीकार करते थे। उनके बेटे मीर "हसन" भी उनके साथ थे और कविता में अपने पिता से अधिक नाम पैदा कर रहे थे। हसन का पूरा नाम मीर ग़ुलाम हसन था।

लगभग सन् १७३६ ई० में पैदा हुए थे और सन् १७८६ ई० में मृत्यु हुई। फैज़ाबाद उनको बहुत पसन्द था और वहाँ अपने पिता के साथ रहते थे, पर जब लखनऊ को राजधानी बनाया गया तो मीर हसन भी लखनऊ चले आए और थोड़े ही दिनों में वहीं उनकी मृत्यु हो गई। मीर हसन फ़ारसी के भी बड़े विद्वान थे और उन्होंने उर्दू कवियों के बारे में एक तज़्किरा लिखा है, जो इतिहास और आलोचना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उनका काव्य-संग्रह पूरा अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ पर उनकी प्रसिद्ध मसनवियाँ और ग़ज़ल का संग्रह कई बार प्रकाशित हो चुका है। वह अपनी एक मसनवी "सेहरुलबयान" की वजह से अमर हो गए हैं। इसको कभी कभी केवल "मसनवी मीर हसन" भी कहा जाता है और एक आध बार "बेनज़ीर और बदरे-मुनीर" की कहानी भी। इसके अतिरिक्त उनकी एक और मसनवी "गुलज़ारे-एरम" बहुत प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें उन्होंने बड़े सुन्दर और आकर्षक रूप में फ़ैज़ाबाद की प्रशंसा और लखनऊ की निन्दा करते हुए अपनी यात्रा का उल्लेख किया है। पर वास्तव में उनको सबसे उत्तम मसनवी का लिखने वाला "सेहरुलबयायन" ही के कारण समझा जाता है। इसमें एक राजकुमार बेनज़ीर और एक राजकुमारी बदरेमुनीर की प्रेम कहानी का वर्णन किया गया है, जो बिल्कुल नई तो नहीं कही जा सकती परन्तु मीर हसन ने उस कहानी को अपनी रुचि के अनुसार जहाँ तहाँ बदल लिया है। इससे उस युग के जीवन पर बड़ा गहरा प्रकाश पड़ता है। जन्म-उत्सव, विवाह और अन्य दूसरे अवसरों का चित्रण ऐसी सुन्दरता से किया गया है कि पढ़ने वाले के सन्मुख वह युग जीवित हो जाता है जिसका उल्लेख है। प्रकृति, मनुष्य-जाति और सभ्यता सभी के चित्रण अनुपम और आकर्षक हैं। अगर्चे इस कहानी में अलौकिक जीवन का वर्णन भी बहुत किया गया है पर उसकी ओट में वह वास्तविकता छिपी हुई है जिससे किसी सभ्यता के समझने में सहायता मिलती है। इस समय तक यह मसनवी उर्दू में सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। मीर हसन को स्वयं इस पर गर्व था और उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग इस पर व्यतीत किया था। मीर हसन ने मर्सिया और क़सीदा भी लिखा है पर उनमें उन्हें कुछ अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। मसनवी के बाद उनकी ग़ज़लें साहित्यिक महत्व रखती हैं। उनकी ग़ज़लों में सादगी,

घुलावट और वेदना के वही रंग मिलते हैं जो मीर के यहाँ पाया जाता है। उनकी भाषा सरल और बोलचाल की भाषा के निकट थी। मसनवी में से उदाहरण देना तो बहुत कठिन है, ग़ज़ल के कुछ शेरों से उनकी काव्य रचना का अनुमान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ शेर प्रस्तुत हैं:—

तू रहा दिल में दिल रहा तुझमें।
तिस प तेरा मिलाप हो न सका॥
हँसना और बोलना तो एक तरफ़।
सामने उसके मैं तो रो न सका॥

× × ×

दिल ग़म से तेरे लगा गए हम।
किस आग से घर जला गए हम॥
खोया गया उसम गे दिल अपना।
पर यार तुझे तो पा गए हम॥

× × ×

बस गया जब से यार आँखों में।
तब से फूली बहार आँखों में॥

× × ×

गुल हुए जाते हैं चिराग़ की तर्ह।
हमको टुक जल्द आन कर देखो॥

शैख़ क़लन्दर बख्श "जुरअत" भी दिल्ली से फ़ैज़ाबाद आए थे और वहीं शिक्षा प्राप्त की। जुरअत दिल्ली ही के कवि "हसरत" के शिष्य थे। कहा जाता है कि हसरत की कविता में जो अश्लीलता और रंगीनी पाई जाती थी उसे जुरअत ने केवल ग्रहण ही नहीं किया बल्कि उसमें बहुत आगे बढ़ गए। जिस समय वह लखनऊ आए यहाँ मिर्ज़ा सुलेमाँ शिकोह का दरबार गर्म था। सुलैमाँ शिकोह दिल्ली के बादशाह शाहआलम के बेटे थे और आसुफ़ुद्दौला के राज्य-काल में

लखनऊ चले आए थे। वह खुद भी कवि थे और कवियों का बड़ा आदर-सत्कार करते थे, चुनांचे दिल्ली से जो कवि आते थे पहिले उन्हीं का संरक्षण ढूँढ़ते थे। जुरअत भी उन्हीं के दरबारी बन गए। कहा जाता है कि जुरअत दोनों आँखों से अन्धे थे और कविता के अतिरिक्त संगीत और ज्योतिष में भी निपुण थे। सितार बजाने में भी कमाल रखते थे। सुलैमाँ शिकोह के दरबार में प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए जुरअत, इन्शा और मुसहफ़ी में चोटें चला करती थीं। सन् १८१० ई० में उनका देहान्त हो गया।

जुरअत कुछ बहुत शिक्षित पुरुष न थे परन्तु भाषा के प्रयोग में निपुण थे और प्रेम की भावनाओं को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करते थे कि उसमें एक प्रकार की अश्लीलता का उद्भव होने लगता था। यह रंग धीरे धीरे लखनऊ में अपना स्थान बनाने लगा था। जो बाद में लखनऊ की विशेषताओं में गिना जाने लगा। जुरअत का काव्य-संग्रह हर प्रकार की कविताओं से भरा हुआ है। अधिकतर तो ग़ज़लें हैं, पर मसनवी इत्यादि भी पाई जाती हैं। उनकी ग़ज़लें बहुधा एक ही भावना के अधीन होकर लिखी गई हैं, इसलिए जो चित्र वह बनाना चाहते हैं वह सुन्दरता के साथ बन जाता है। मनोभावों में उन्हें केवल शृङ्गार रस पसन्द था और उसी को वह विचित्र प्रकार से प्रस्तुत करते थे। उदाहरण के लिए कुछ शेर देखिए :—

बात ही औव्वल तो वह करता नहीं मुझसे कभी।
और जो बोले भी है कुछ मुंह से तो शरमाया हुआ॥
है क़लक़[1] से दिल की यह हालत मेरी अब तो कि मैं।
चारसू फिरता हूँ अपने घर में घबराया हुआ॥

× × ×

लगजा गले से ताब अब ऐ नाज़नी[2] नहीं।
है है ख़ुदा के वास्ते, मतकर "नहीं नहीं"॥

× × ×

१—दुःख, २—सुन्दर कोमल नारी,

परी सा जो मुखड़ा दिखा कर चले।
मुझे तुम दिवाना बना कर चले॥

× × ×

आए जो मेरे पास तो मुँह फेर के बैठे।
यह आज नया आपने दस्तूर[1] निकाला॥

मुग़ल शहज़ादे सुलैमाँ शिकोह के दरबार में एक और प्रसिद्ध कवि "इन्शा" थे। उनका नाम इन्शा अल्लाह खाँ था। दिल्ली के रहनेवाले थे पर जब दिल्ली की हालत बिगड़ी तो अपने पिता के साथ मुर्शिदाबाद चले गए और वहीं उनका बचपन और जवानी बीती। साधारणतः साहित्य के इतिहासकारों ने उनके मुर्शिदाबाद के रहने को कुछ महत्व नहीं दिया है पर यह नहीं भूलना चाहिए कि १८ वीं शताब्दी बंगाल दिल्ली से बहुत विभिन्न था। अँग्रेज़ी भाषा और सभ्यता का प्रभाव वहाँ के जीवन पर पड़ रहा था और एक प्रकार की नव-जागृति की झलक पैदा हो चुकी थी। इन्शा बड़े विद्वान और तीव्र बुद्धि रखने वाले पुरुष थे, कई भाषाएँ जानते थे और जीवन को एक खेल का मैदान समझ कर हर क्षण उसमें कूद पड़ने को तत्पर रहते थे। वह शाह आलम बादशाह के समय में दिल्ली पहुँचे जहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ पर यह वह समय था कि शाह आलम की आंखें निकाली जा चुकी थीं और दरबार एक शमशान की तरह सूना हो रहा था। इन्शा अपनी हँसी दिल्लगी की बातों से जीवन को सहनशील बनाने की चेष्टा करते थे, पर जो अँधेरा छा चुका था वह दूर न हुआ। कवियों में आपस में झगड़े होते रहते थे, और इन्शा उसमें एक पक्ष के रूप में सम्मिलित होते। जब यह झगड़े बहुत बढ़े तब इन्शा लखनऊ चले आए और यहाँ मिर्ज़ा सुलैमां शिकोह के दरबार में दाखिल हो गए। लखनऊ में जुरअत, मुसहफ़ी और अन्य कवि पहिले से अपनी धाक जमाए हुए थे, इन्शा किसी से पीछे रहनेवाले न थे इसलिए उनके आने से शेर शाइरी का रंग और चमक उठा। कवि सम्मेलनों में मुक़ाबिले होते, चोटें चलतीं, स्वांग बनते और हास्य बढ़कर व्यंग और

१—ढंग, नियम

निन्दा में परिवर्तित हो जाता। उस समय की पुस्तकों में इनका बड़ा रोचक वर्णन मिलता है। यहाँ उनका उल्लेख केवल इसलिए किया जाता है कि कविता में जो एक प्रकार की बनावट और उथलापन आ रहा था वह विचारणीय है। लखनऊ के जीवन में विलास और भोग की जो भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं उनका प्रभाव उस समय की कविता में पूरी तरह देखा जा सकता है।

बहुत दिन नहीं बीते कि इन्शा अपनी कविताओं, चुटकलों और बातों से केवल दरबार ही की जान नहीं बन गए बल्कि पूरे काव्य क्षेत्र में उत्तम गिने जाने लगे। लखनऊ में नौव्वाब सआदत अली खाँ का राज्य था। इन्शा वहाँ भी पहुँच गए और अपनी बातों से नौव्वाब को ऐसा मोहित किया कि उनकी नाक का बाल बन गए। दिन रात साथ रहते और इन्शा को वह मर्यादा प्राप्त हुई जो मुश्किल ही से उस समय के किसी और कवि को हुई होगी। कहा जाता है कि कभी कभी उनका हास्य नौव्वाब को भी काट कर रख देता था। धीरे धीरे उनका हृदय इन्शा की ओर से फिरने लगा। इसमें दूसरे कवियों और दरबारियों ने भी सहायता की। इसके अतिरिक्त उनका जवान पुत्र उनकी कमर तोड़ गया और अन्त में इन्शा एक उन्माद-पूर्ण अवस्था में पहुँच गए। वह जीवन में जितना हँसते हँसाते थे अन्तिम अवस्था में उतना ही दुःखी होना पड़ा और इसी दशा में उन्होंने सन् १८१७ ई० में अपने प्राण त्याग दिए।

इन्शा का काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुका है। जिसमें उनकी बहुत सी रचनाएँ सम्मिलित नहीं हैं। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वह तुर्की, पश्तो, पंजाबी, मारवाड़ी, काश्मीरी और हिन्दी इत्यादि अच्छी तरह जानते थे, कभी कभी अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते थे। इस संग्रह में उनकी हर प्रकार की कविताएँ मिलती हैं। कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं जो उनसे पहिले उर्दू में देखने में भी नहीं आती हैं—जैसे बिना बिन्दियों की कविताएँ। उर्दू में ऐसे अक्षर बहुत कम हैं जिन पर बिन्दु न हो, पर उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में ऐसी लम्बी लम्बी रचनाएँ की हैं, जिनमें एक बिन्दु भी नहीं आता। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्त्रियों की भाषा में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं जिनको "रेख़्ती" कहा जाता है, इसका वर्णन आगे आएगा। उनकी बहुत सी रचनाएँ फ़ारसी में भी हैं। कविता की दृष्टि से देखा जाए

तो इन्शा की काव्य रचना में वह गम्भीरता और वह हार्दिक वेदना नहीं मिलती जो श्रेष्ठ काव्य के लिए आवश्यक है। इसीलिए उनकी ग़ज़लें हलकी जान पड़ती हैं। इसी प्रकार उनके क़सीदे और मसनवी में भी गम्भीरता की कमी है। इसमें सन्देह नहीं कि वह एक बहुत बड़े कवि थे। उनके विचारों में नवीनता और उनकी शैली में नयापन है, पर वह उनके ज्ञान और बुद्धिमानी के स्तर पर नहीं है। उनके लिए यह ठीक कहा गया है कि अगर वह कविता न कहते तो उनके ज्ञान पर इतना बुरा प्रभाव न पड़ता और अगर वह दरबार के एक कवि न बन जाते तो उनकी कविता इस प्रकार नष्ट न होती।

इन्शा की सबसे महत्वपूर्ण रचना "दरियाए लताफ़त" है जो भाषा-विज्ञान, व्याकरण, काव्य शास्त्र और अन्य विषयों का एक बड़ा कोष है। इस किताब के अध्ययन से उनकी जानकारी और गहराई का अनुमान मिलता है। उस समय उर्दू भाषा का जो रंग रूप था, जिस प्रकार वह विभिन्न लोगों में प्रचलित थी, जिस तरह वह उस समय की सामाजिक परिस्थिति में विकसित हो रही थी, उस पर इन्शा ने बड़ी गम्भीरता से प्रकाश डाला है। यह पुस्तक फ़ारसी में है पर इसमें उर्दू गद्य और पद्य के जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे इन्शा की भाषा विज्ञान की जानकारी मालूम होती है। उनकी एक और महत्वपूर्ण गद्य रचना, "रानी केतकी और कुँवर उदयभानु की कहानी" है जो हिन्दी उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी है और जिसका वर्णन आगे के अध्याय में आएगा। इन्शा की कविता के इतने विभिन्न रंग हैं कि सबके उदाहरण नहीं दिए जा सकते, केवल कुछ ग़ज़लों के शेर दिए जाते हैं। उनकी बहुत प्रसिद्ध ग़ज़ल जो उनकी अन्तिम ग़ज़ल कही जाती है, उनकी दूसरी ग़ज़लों से अलग है :—

कमर बाँधे हुए चलने को यां सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गए बाक़ी जो हैं तैय्यार बैठे हैं॥
न छेड़ ऐ न कहते-बादे-बहारी[1], राह लग अपनी।
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं हम बेज़ार[2] बैठे हैं॥
तसौव्वुर[3] अर्श[4] पर है और सर है पाए-साक़ी[5] पर।
ग़रज़ कुछ और धुन में इस घड़ी मैख़ार[6] बैठे हैं॥

१—बहार की हवा की सुगन्ध, २—उचाट हृदय, ३—ध्यान, ४—आकाश, ५ मधुबाला का पाँव, ६—शराबी,

यह अपनी चाल है उफ़तादगी[1] से अब, कि पहरों तक।
नज़र आया जहाँ पर सायए-दीवार बैठे हैं॥
भला गर्दिश[2] फ़लक[3] की चैन देती है किसे इन्शा।
ग़नीमत है कि हम सूरत[4] यहाँ दो चार बैठे हैं।

× × ×

झिड़की सही अदा सही चीं-बर-जबीं सही।
सब कुछ सही पर एक नहीं की नहीं सही॥

× × ×

यह जो महन्त बैठे हैं राधा के कुण्ड पर।
औतार बन के गिरते हैं परियों के झुण्ड पर॥

× × ×

ले के मैं ओढ़ूं, बिछाऊँ या लपेटूँ क्या करूँ।
रूखी फीकी ऐसी सूखी मेहरबानी आपकी॥

× × ×

लगी है मेंह की झड़ी बाग़ में चलो झूलें।
कि झूलने का मज़ा भी इसी बहार में है॥

इन्शा के मित्रों में एक सआदत यार खाँ दिल्ली के सैनिक थे, उनका उपनाम "रंगीन" था। उन्हें इधर उधर घूमने फिरने का बहुत शौक़ था बड़े बड़े अमीरों और नौव्वाबों के दरबार में उनका आदर होता था। अन्त में नौकरी छोड़कर घोड़ों का व्यापार करने लगे थे। इस सम्बन्ध में भी इधर उधर बहुत आना जाना रहता था। जब लखनऊ आते थे तो इन्शा का हर घड़ी का साथ रहता था। जैसा उनका उपनाम था वैसा ही रंगीन स्वभाव भी था। चूँकि उनको एक विलास पूर्ण जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त था इसलिये

---

१ - लड़खड़ाहट, २ — चक्कर, ३ आकाश, ४ — अपनी शकल वाले

वह शेर शायरी में अपना अधिक समय बिताते थे। हँसने हँसानेवाले पुरुष थे, विचारों में कोई गम्भीरता नहीं थी पर उनकी कविताएँ और पुस्तकें बड़ी संख्या में हैं। कई रचनाएँ फ़ारसी में भी हैं। सन १८३४ ई० के लगभग उनका देहान्त हुआ। उनकी पुस्तकों में चार काव्य संग्रह, कई मसनवियाँ तथा एक किताब "मजलिसे-रंगी" के नाम से है जिसमें उन्होंने कवियों, कविसम्मेलनों और साहित्यिक जमघटों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक से उस समय के जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। रंगीन के चारों काव्य संग्रह एक साथ भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें हर प्रकार की कविताएँ मिलती हैं। उनकी ग़ज़लें कोई विशेषता नहीं रखतीं और सच यह है कि उन्हें जो कुछ महत्व उर्दू साहित्य में प्राप्त है वह इसलिए है कि उन्होंने स्त्रियों की बोलचाल में और उन्हीं के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर बहुत सी कविताएँ लिखीं और यह दावा किया कि वही इस शैली के जन्मदाता हैं। रंगीन ने इस कविता को "रेख़ता" के नाम से सम्बोधित किया है। इन्शा के उल्लेख में भी इसकी ओर संकेत किया जा चुका है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि रेख़ती का आरम्भ इन्शा के हाथ से हुआ या रंगीन के। इन्शा ने अपना और रंगीन का नाम एक साथ लिखा है। कुछ लोगों का विचार है कि दक्षिण के प्रसिद्ध कवि हाशिमी बीजापुरी ने पहिले पहिल रेख़ती लिखी पर यह बात ठीक नहीं है क्योंकि रेख़ती केवल स्त्री की भाषा में कुछ लिखने का नाम नहीं है बल्कि उन्हीं के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले हालात इस प्रकार बयान किए जाते हैं कि पारिवारिक जीवन में जो वेदना, घुटन और प्रतिबन्ध हैं उनका चित्र आँखों के सामने खिंच जाय। इसमें उनके योनि सम्बन्धी जीवन का वर्णन भी कभी कभी बड़े अश्लील भाव से आ जाता है।

रेख़ती को उर्दू साहित्यकारों ने कोई महत्व नहीं दिया है। क्योंकि उसमें उच्च नैतिक सिद्धान्तों के बदले घृणा से भरे हुए जीवन को सामने लाने की चेष्टा की जाती थी। एक मिटते हुए सामन्ती समाज में स्त्री का कोई स्थान नहीं होता उसका सुख और दुख नहीं समझा जाता। उसके जीवन का एक एक क्षण पुरुषों के इशारों पर निर्भर होता है पर गहरी दृष्टि से देखा जाय तो इस अवस्था में स्त्रियों के सीने में बड़े बड़े तूफ़ान उठते होंगे, उनकी भी कुछ भावनाएँ होंगी

जिनकी ओर पुरुषों ने ध्यान न दिया होगा, इसलिए अगर रंगीन और इन्शा ने अवध के उस विलास-युक्त समाज में स्त्री की ओर भी देखा और उसका वर्णन किया तो इसे एक ऐतिहासिक महत्व की वस्तु समझना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि यह कवि अपने सम्मुख कोई ऊँचा आदर्श नहीं रखते थे न उनका उद्देश्य यह था कि स्त्री समाज का उद्धार किया जाय परन्तु अवचेतन रूप से उनके जीवन का चित्रण करने में सफल हुए और उससे एक बड़ी कमी पूरी हुई। यह भी ठीक है कि अश्लीलता के कारण उनका साहित्यिक महत्व कम हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि दुराचार और वासना का प्रचार किया जा रहा है पर इसको क्या किया जाय कि उस समय जीवन में यह भ्रष्टाचार मौजूद था। अगर उसकी ओर किसी ने नहीं देखा था तो इससे यह न समझना चाहिए कि स्त्री जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत किये जाने के योग्य नहीं थी। रंगीन इस जीवन से परिचित थे इसलिए उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखीं। उदाहरण के लिए कुछ शेर दिए जाते हैं।

चलो चलकर क़ुतुब साहब में झूलें डाल कर झूला।
दुगाना[1] मेंह बरसता है महीना है यह सावन का॥

× × ×

कोई पीस कर खूब सी लाल मिर्चें।
तेरे दोनों दीदों में भर जाए आतूँ[2]॥

× × ×

नन्हें से कलेजे को क्या इसके हुआ लोगों।
कुछ इन दिनों रहती है दिलगीर[3] मेरी छू छू[4]॥

× × ×

जो तेरे पास से आता है, मैं पूछूं हूँ यही।
क्यों जी कुछ ज़िक्र हमारा भी वहाँ रहता है॥

१—सखी सहेली, २—दाई, ३—दुःखी, ४—बाई, खिलाई

इस युग के एक प्रसिद्ध कवि "मुसहफ़ी" भी हैं। इनका नाम शेख़ ग़ुलाम हमदानी था अमरोहे के रहने वाले थे और युवा-अवस्था ही में दिल्ली चले आए थे। दिल्ली में उस समय शेर शायरी की धूम थी! मुसहफ़ी भी कवि सम्मेलनों में जाते और दिल्ली के साहित्यिक जीवन में भाग लेते थे। नौकरी की खोज में इधर उधर फिरे और अन्त में लखनऊ चले आये। लखनऊ में मिर्ज़ा सुलेमाँशिकोह के दरबार में नौकर हो गये। यही इन्शा से उनके झगड़े हुआ करते थे। यह बताना तो असम्भव है कि झगड़ा आरम्भ किधर से हुआ पर यह बात स्पष्ट है कि राज दरबार में अपने स्थान को सुरक्षित रखने और अपने को उत्तम सिद्धि करने के लिये कवियों को भी एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा करनी पड़ती थी। यह झगड़े इतने बढ़ गये थे कि कभी कभी वह बड़ा गंदा और श्लील रूप धारण कर लेते थे। एक दूसरे की निन्दा करने के सभी साधनों से काम लिया जाता था और चूंकि यह लोग लखनऊ के श्रेष्ठ कवि थे इसलिए यहाँ के और सज्जन भी उसमें सम्मिलित होकर आनन्द प्राप्त करते थे। उर्दू साहित्य की अन्य पुस्तकों में यह कहानी बड़े रोचक शब्दों में कही गई है। जिसमें सच झूठ इस प्रकार मिल गए हैं कि उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि कविता को इस नीचे स्तर पर खींच लाना उचित न था पर सामाजिक जीवन में जो आमोद-प्रमोद और बिलास घर कर गया था उसने यह अनुचित बातें पैदा कर दी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि इन्शा और मुशहफ़ी और ऐसे ही दूसरे कवि हमारे हृदय में सम्मान की वही भावनाएँ जाग्रत नहीं करते जो मीर, सौदा, दर्द और दूसरे कवियों के लिए पैदा होती हैं। सारा दोष उस समय के राज दरबार पर डाला जा सकता है परन्तु यह बड़े कवियों और उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्हें गम्भीरता और संतोष से काम लेना चाहिए था। मुसहफ़ी की मृत्यु सन् १८२४ ई० में हुई और उन्होंने बहुत से शिष्य छोड़े जिन्होंने बड़ा नाम पैदा किया।

मुसहफ़ी के आठ काव्य संग्रह मिलते हैं। वह कुल के कुल अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इनमें अधिकतर ग़ज़लें हैं लेकिन उनके अतिरिक्त क़सीदे, मसनवी इत्यादि भी मिलते हैं। मुसहफ़ी ने फ़ारसी में तीन और किताबें लिखी हैं जिनमें फ़ारसी, उर्दू के कवियों

के जीवन चरित्र और उनकी रचनाओं पर आलोचना की गई है। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनको बड़ा महत्व प्राप्त है। क्योंकि उनसे केवल बहुत से कवियों के बारे ही में हमें ज्ञान प्राप्त नहीं होता वरन् उस समय के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। उनके नाम हैं "अक़्दे-सुरैया", "तज़किरयेहिंदी" और "रियाज़ुल फ़ुसहा"। इनमें मुसहफ़ी ने अपने हालात भी लिखे हैं जिनसे मालूम होता है कि उन्होंने फ़ारसी में भी दो संग्रह एकत्र कर लिये थे पर वह नष्ट हो गये।

मुसहफ़ी उर्दू के श्रेष्ट कवियों में गिने जाते हैं। उनकी ग़ज़लों में भावुकता, सादगी और कलात्मक निपुणता पाई जाती है। उनकी एक त्रुटि जिसकी ओर संकेत करना आवश्यक है यह थी कि वह बहुधा लड़े-बड़े फ़ारसी और उर्दू कवियों की शैलियों को अपनाने की चेष्ठा करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वयं उनका कोई रंग सम्पूर्ण प्रकार से सामने तहीं आता। उनकी कविताओं में मीर, सौदा, जुरअत और इन्शा सभी के रंग मिलते हैं। फिर भी उनको सदैव उर्दू के महान कवियों में जगह मिलती रहेगी। उनके कुछ शेर उदाहरण के लिये प्रस्तुत हैं :—

सोते ही हम रह गये अफ़सोस हाय।
क़ाफ़िला यारों का सफ़र कर गया॥
क़िस्सा कहूँ क्या दिले बीमार का।
इश्क़ की तप[1] थी न बचा मर गया॥

× × ×

तेरे कूचे[2] हर बहाने मुझे दिन से रात करना।
कभी इससे बात करना कभी उससे बात करना॥

× × ×

मैं एतमाद[3] करूँ किसकी आशनाई[4] पर।
कोई किसी का ज़माने में आशना भी है?॥

× × ×

१—ज्वर, २—गली, ३—विश्वास, ४—मित्रता

क्या जानते थे हम कि ख़फ़ा होगा बाग़बाँ
गुलशन में ले गई थी नसीमें-सहर[1] हमे ।।

× × ×

जो सैर करनी है करले, कि जब खिज़ाँ[2] आई ।
न गुल[3] रहेगा चमन में न ख़ार[4] ठहरेगा ।।
यही है लूट तो दस्ते-जुनूँ[5] के हाथों से ।
न एक मेरे गरीबाँ[6] में तार[7] ठहरेगा ।।

यहाँ तक जिन कवियों का उल्लेख हुआ उनकी आयु का बड़ा भाग कहीं और बीता पर अन्त में यह लोग लखनऊ के हो रहे। उर्दू साहित्य के इतिहासकार इन कवियों को दिल्ली और लखनऊ दोनों में गिनते हैं। इन लोगों की रचनायें दिल्ली के रंग से थोड़ा बहुत हटी हुई हैं पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह कवि लखनऊ केन्द्र के कवि थे। हाँ यह बात अवश्य है। कि इन्होंने काव्य रचना को जिस पथ पर डाल दिया था वह एक नई दिशा का पता देता है। जिन कवियों का वर्णन हुआ है उनके अतिरिक्त पचासों और कवियों के नाम मिलते हैं जो दिल्ली से लखनऊ आए। लखनऊ में पहिले से कोई बनबनाया रंग मौजूद नही था। इन कवियों ने नई सामाजिक स्थिति तथा एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिससे लखनऊ केन्द्र में कुछ नवीन विशेषताएँ उत्पन्न हो गईं। उन्हीं को कभी कभी "लखनऊ स्कूल" कहा जाता है।

इस विषय पर बहुत बाद विवाद हो चुका है कि दिल्ली और लखनऊ की काव्य रचना में क्या विशेष अन्तर है। बहुत से लिखने वाले बहुत सोच-विचार किए बिना दोनों को एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न सिद्ध करते हैं। वह यह नही सोचते कि सामन्ती पतन का जो युग दिल्ली में था वही साधारण अन्तर के साथ लखनऊ में भी था जीवन के जो मूल सिद्धान्त एक जगह माने जाते थे वही दूसरी जगह भी माने जाते थे। साहित्य, इतिहास, दर्शन-शास्त्र

१—प्रातः काल की हवा, २—पतझड़, ३—फूल, ४—काँटा, ५—उन्मादता, ६—गले, ७—धागा

की जो परम्पराएँ एक जगह आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं वही बात दूसरे स्थान पर भी थी। जो आर्थिक और सामाजिक स्थिति, वर्गों का जो आधार दिल्ली में था लगभग वही लखनऊ में भी था, इसलिए कविता के क्षेत्र में कोई महान परिवर्तन होना असम्भव था। कविता जीवन का प्रतिबिम्ब होती है और अगर जीवन के मूल आधारों में परिवर्तन नहीं हुआ तो साहित्य में भी नहीं हो सकता था। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि शैली और विचार दृष्टि में जो नवीनता लखनऊ में उत्पन्न हुई वह कुछ ऐसे कारणों से हुई जो इतने महत्वपूर्ण और गहरे नहीं थे कि वह साहित्य की धारा को बिल्कुल ही मोड़ देते।

साधारण ढंग से यह कहा जा सकता है कि दिल्ली का मुग़ल-राज्य शताब्दियों की उन्नति और प्रतिभा के बाद एक क्षय के रोगी की तरह धीरे धीरे अपनी मृत्यु की ओर जा रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि अब कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे इस विनाश से बचा सकेगी, इसलिए वहाँ के कवियों की भावना नैराश्य-पूर्ण थी और हृदय की गहराई से उत्पन्न होती थी। लखनऊ में यह बात नहीं थी, यहाँ नया नया राज्य स्थापित हुआ था जो वाह्य रूप से उन्नति की ओर बढ़ रहा। दिल्ली के मुक़ाबिले में यहाँ शान्ति भी अधिक थी और लोग एक प्रकार से अच्छी आर्थिक दशा में थे उस समय के कवि और अन्य कलाकार इतिहास की गति से अनिभिज्ञ थे। वह नहीं जानते थे कि जो घुन दिल्ली को खा रहा है वही लखनऊ को भी खा रहा है। इसलिए वह इस चढ़ते हुए सूर्य के प्रकाश में खो गए और सुन्दरता के बाह्य रूप के पुजारी बन के अपनी कविता को उन्होंने वह सुन्दरता नहीं दी जो हार्दिक भावों के प्रकट करने के लिए आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी थी कि कवियों को जो संरक्षण और सम्मान दिल्ली में नहीं मिल रहा था वह अब लखनऊ में प्राप्त था। इसलिए यह बात स्वाभाविक थी कि वह यहाँ के जीवन में घुल-मिल जायें और समस्याओं को एक नई दृष्टि से देखें। इसमें सन्देह नहीं कि यह दृष्टि एक प्रकार की बनावट रखती थी और गम्भीर से गम्भीर विषय को केवल ऊपर ही से देखती थी। इसका प्रभाव भी उस समय के साहित्य पर देखा जा सकता है। एक तीसरी बात जिस की ओर संकेत करना आवश्यक है यह है कि लखनऊ के नौव्वाब

और बादशाह मुसलमानों की उस जाति से सम्बन्ध रखते थे जिन्हें शीआ कहा जाता है। उनके विचार के ढंग और कुछ रीति-रिवाज दूसरे मुसलमानों से अलग थे। वह मुसलमानों के नबी, उनकी सुपुत्री, उनके चचेरे भाई और दामाद हज़रत अली और दो नाती हसन और हुसैन से असाधारण प्रेम रखने के नाते उनके जन्म और मृत्यु के दिवस बड़े उत्साह, जोश, समारोह और धूम-धाम से मनाते हैं, विशेषकर इमाम हुसैन की शोक-पूर्ण मृत्यु की याद में वर्ष के कई मास शोक और विलाप में व्यतीत करते हैं। अपने लौकिक जीवन को भी किसी-न-किसी प्रकार से उन्हीं महान पुरुषों के जीवन से सम्बन्धित करके अपने दुःख और सुख के हर अवसर पर उन्हें याद करते और उससे नैतिक बल प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। साहित्य के कई रूप इसी धार्मिकता के परिणाम-स्वरूप विकासित हुए थे जैसे मर्सिया, नौहा, सलाम इत्यादि।

यह सारी बातें साहित्य को एक नवीन मार्ग पर चलाने के लिए पर्याप्त हैं। एक बात जिसने इस नवीनता को प्रगट करने में सबसे अधिक भाग लिया वह भाषा की विभिन्नता थी। इस प्रश्न को भी लोगों ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया पर इसमें भी सन्देह नहीं कि लखनऊ की बोलचाल की हिन्दुस्तानी पर अवधी की नम्रता और मीठेपन का प्रभाव भी पड़ा था। जिस प्रकार यहाँ की सभ्यता में एक प्रकार की सूक्ष्म सुन्दरता पाई जाती है, उसी प्रकार यहां की बोलचाल में भी कोमलता का आविर्भाव होता है। कुछ शब्दों की ध्वनि, कुछ स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, कुछ मुहावरे एक दूसरे से विभिन्न हैं और साहित्य का कोई आलोचक जो गहरी दृष्टि से दिल्ली और लखनऊ की कविता को देखना चाहता है, इनसे आँखें नहीं मूँद सकता। इस प्रकार लखनऊ और दिल्ली की कविता में कई प्रकार के भेद-भाव मिलते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो त्रुटियाँ लखनऊ में थीं वह दिल्ली में नही पाई जाती थीं या जो विशेषताएँ दिल्ली में मिलती हैं उनसे लखनऊ का समस्त साहित्य वंचित था। हम केवल यह कह सकते हैं कि कुछ भावनाएँ और उन भावनाओं के प्रगट करने का ढंग एक जगह कम और विभिन्न हैं और दूसरी जगह अधिक। सम्भवतः यह बात सच है कि विचार-धारा में अधिक अन्तर न होते हुए भी शैलियों का अन्तर कभी कभी एक मौलिक मतभेद

का रूप धारण कर लेता है, जिसे एक दूसरे की प्रतिद्वंदिता ने और गूढ़ बना दिया।

विस्तार में न होते हुए भी इस विश्लेषण से उस साहित्यिक वाद-विवाद का थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकेगा जिसे दिल्ली और लखनऊ स्कूल का झगड़ा कहा जाता है। जिन विशेषताओं की ओर सचेत किया गया है उनके लिए एक वातावरण पहिले ही बन चुका था। थोड़ा समय और बीत जाने पर वह बिल्कुल स्पष्ट होकर सामने आ गया और सहस्त्रों कवियों ने अपने-अपने ढंग से उसे विकसित करने का प्रयत्न किया। कहा जाता है कि १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में लखनऊ के कोने कोने में कवि-सम्मेलन होते थे और कविता की भावनाएँ हर श्रेणी के लोगों में इस प्रकार बस गई थीं कि अपढ़ लोग तक काव्य की रचना कर लेते थे और कविता की सुन्दरता से आनन्द प्राप्त कर सकते थे। इस संक्षिप्त इतिहास में केवल प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों का परिचय दिया जा सकता है।

जब लखनऊ केन्द्र की कविता का उल्लेख किया जाता है तो सबसे पहिले "नासिख़"और "आतिश" के नाम हमारे सामने आते हैं। वास्तव में लखनऊ केन्द्र को जो व्यक्तित्व और महत्ता प्राप्त हुई वह इन्हीं दो कवियों और विशेष कर नासिख़ के कारण हुई है। उन्हें एक प्रकार से साहित्यिक डिक्टेटर कहा जा सकता है क्योंकि साहित्य क्षेत्र में उनकी अधीनता केवल लखनऊ ही के लोग स्वीकार नहीं करते थे बल्कि दिल्ली के बड़े-बड़े साहित्यकार भी उनका लोहा मानते थे।

नासिख़ का नाम इनाम बख़्श था। उनका जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ था। इस बात में आलोचकों में बड़ा मतभेद है कि वह किस वंश से सम्बन्ध रखते थे। इसकी ओर संकेत करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि उनके विपक्षी कवियों ने इसी की आड़ में उनकी निन्दा की है। नासिख़ ने थोड़े ही समय में इतना नाम पैदा कर लिया कि लखनऊ के बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी और धन-सम्पत्ति रखने वाले उनके शिष्य बन गए। नासिख़ ने कभी राज-दरबार से अपना नाता नहीं जोड़ा पर उनके चारों ओर राज-दरबार ही का वातावरण था। इसलिए वह इस बात पर मजबूर होते थे कि दरबार के नियमों का पालन करें। और जब वह अपने आत्मअभिमान के कारण ऐसा न कर सके तो उन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। उन्होंने कुछ समय इलाहाबाद

में भी बिताया, वहाँ वह दाएरे में रहते थे और अपनी कविता में कई स्थान पर इसकी चर्चा की है, जैसेः—

हिर फिर के दाएरे ही में रखता हूँ मैं क़दम।
आई कहाँ से गरदिशे - परकार पाँव में॥

× × ×

तीन त्रिवेनी व दो आँखें मेरी।
अब इलाहाबाद भी पंजाब है॥

इसी तरह उन्हें लखनऊ छोड़कर फ़ैज़ाबाद, बनारस और कानपूर में भी रहना पड़ा पर उन्होंने कभी बादशाह की सराहना में कोई कविता नहीं लिखी।

नासिख़ जैसे कविता में अपने रंग में एक थे उसी प्रकार उनका जीवन भी कुछ विचित्र था। कहा जाता है कि वह बहुत मोटे ताज़े और भद्दे शरीर के थे। व्यायाम का बहुत शौक़ था। रंग काला था और परिवारिक जीवन के झगड़ों से दूर रहने के लिये विवाह नहीं किया था। खाना दिन रात में केवल एक ही बार खाते थे, पर वह पाँच सेर के लगभग होता था। हर काम के लिए उनका समय नियुक्त था। जिस फल का मौसम होता उसे जी भर के खाते थे। चूंकि बहुत से अमीर लोग उनके शिष्य थे इसलिए उन्हें जीवन में कभी खाने-पीने की कठिनाई नहीं हुई। नौव्वाब आग़ामीर, जिनकी ड्योढ़ी लखनऊ में अब भी प्रसिद्ध है, उनका बहुत आदर करते थे। कहा जाता है कि ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने उनको कविराय की पदवी देनी चाही तो उन्होंने यह कहकर उसे स्वीकार नहीं किया कि इतने छोटे से बादशाह की दी हुई पदवी लेकर क्या करूँगा। नासिख़ का यश दूर दूर फैला और महाराजा चंदूलाल जो निज़ाम दक्किन के दीवान थे, दस बारह हज़ार रुपया भेजकर उन्हें हैदराबाद बुलाना चाहते थे पर वह न गए। सन १८३८ ई० में उनकी मृत्यु हुई।

नासिख़ ने तीन काव्यसंग्रह छोड़े हैं जिनमें से दो बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने एक मसनवी भी धार्मिक विषय पर लिखी जिसका नाम "नज़्मे-सिराज" है। कहा यह जाता है कि उन्होंने व्याकरण और काव्य शास्त्र

के सम्बन्ध में भी छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं पर निश्चित रूप में उनका पता नहीं चलता। नासिख़ एक ग़ज़ल लिखने वाले कवि थे और उन्होंने जो शैली चलाई थी, उसी के कारण उन्हें बहुत बड़े कवियों में गिना जाता है। ग़ज़ल में जो भावुकता और हार्दिक वेदना का अंश होता है वह नासिख़ के यहाँ बहुत कम है। वह भाषा के एक बहुत बड़े पंडित और काव्य-शास्त्र के निपुण ज्ञाता माने जाते हैं। विचार क्षेत्र में वह बहुत से कवियों से पीछे हैं। पर शुद्ध भाषा के प्रयोग में उन्हें प्रथम स्थान दिया जाता है। उनकी कविता में बड़ी बनावट और अलंकारों का अधिक प्रयोग पाया जाता है। इसलिए उनकी ग़ज़लें बहुधा रूखी, फीकी और नीरस होती हैं। अगर कविता केवल शब्दों के शुद्ध प्रयोग का नाम होता तो नासिख़ से बड़े बहुत कम कवि निकलते, पर भावनाओं की कमी और गंभीरता के न होने से उनकी कविता हृदय पर कोई चिन्ह नहीं छोड़ती। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी कविता अच्छे शेरों से एकदम ख़ाली है। बल्कि सच यह है कि किसी प्रकार की स्पष्ट त्रुटि न होते हुये भी उनकी कविता बेजान सी जान पड़ती है। भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ किया उससे भाषा को लाभ भी हुआ और हानि भी। हानि यह हुई कि उसके विकास की दिशायें सीमित हो गईं और कवियों का पूरा ध्यान विचार के बदले शब्दों और अलंकारों पर केन्द्रित हो गया, और लाभ यह हुआ कि भाषा के प्रयोग में एक प्रकार की समानता आ गई और एक ऐसा अस्त्र बन गया जिससे विमुख होना काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध ठहरा। संक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि नासिख़ एक कवि के रूप में असफल हैं क्योंकि वह भावनायें जो कविता को प्रभावशाली बनाती हैं, बुझी बुझी और दबी दबी सी हैं। इसके विरुद्ध भाषा, मुहावरे और अलंकार सारी कविता पर इस प्रकार छाए हैं कि वही उनकी रचनाओं का मूल अङ्ग जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिये ये शेर देखिए:—

आज होता है दिला[1] ! दर्द जो मीठा मीठा।
ध्यान आता है तुझे किसके लबे-शीरीं[2] का॥

× × ×

१—ऐ दिल, २—मीठे अधर,

सैकड़ों आहें करूँ पर ज़िक्र क्या आवाज़ का।
तीर जो आवाज़ दे है नक़्स[1] तीरअँदाज़ का॥
नाज़नीनों[2] से करूँ क्या रब्त[3] में नाज़ुक-मिज़ाज।
बोझ उठ सकता नहीं मुझसे किसी के नाज़ का॥

× × ×

तुर्फ़ा-गुल[4] इस बाग़ में है और शबनम[5] है अजीब।
हंस के बैठा जो तेरी महफ़िल में वह रो कर उठा॥
बात जिन नाज़ुक मिज़ाजों से न उठती थी कभी।
बोझ उनसे सैकड़ों मन ख़ाक का क्योंकर उठा॥

× × ×

रश्क[6] से नाम नहीं लेते कि सुन ले न कोई।
दिल ही दिल में उसे हम याद किया करते हैं॥

× × ×

वह नही भूलता जहाँ जाऊँ।
हाए मैं क्या करूँ कहां जाऊं॥

× × ×

किसी का कब कोई रोज़े-सियह[7] में साथ देता है।
कि तारीकी[8] में साया भी जुदा रहता है इन्साँ से॥

नासिख़ की भाँति प्रसिद्ध और उतने ही महत्वपूर्ण लखनऊ के दूसरे कवि ख़्वाजा हैदर अली थे, जिनका उपनाम "आतिश" था। इनका परिवार दिल्ली के सूफ़ियों का एक परिवार था। आतिश के पिता दिल्ली से फ़ैज़ाबाद चले आए थे और वहीं आतिश ने जन्म लिया। बालपन ही में पिता ने साथ छोड़ दिया और आतिश को अपने पैरों पर आप खड़ा होना पड़ा। एक स्वच्छन्द और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत

१—त्रुटि, २—कोमल प्रेमिकाएँ, ३—सम्बन्ध, ४—अनोखा फूल, ५—ओस, ६—डाह ७—बुरे दिन, ८—अन्धेरा

करने का अवसर मिला तो आतिश कुछ अधिक शिक्षा प्राप्त न कर सके और फ़ौजी छाउनी के सिपाहियों और उनके लड़कों के साथ खेल-कूद कर तलवार चलाना और निर्भीक जीवन व्यतीत करने का गुर सीख गए। उनके स्वभाव में एक प्रकार की स्वतंत्रता और बाँकपन पैदा हो गया था। कुछ तो सूफ़ी घराने से सम्बन्ध रखने और कुछ स्वतंत्र जीवन बिताने के कारण एक प्रकार का संतोष और आत्माभिमान पैदा हो गया था, जिसकी झलक उनकी कविता में पग पग पर दिखाई देती है। फ़ैज़ाबाद में एक नौव्वाब के यहाँ तलवार चलाने वालों में नौकर हो गए थे और उन्हीं के साथ लखनऊ आगए। उस समय का लखनऊ शेर शायरी का केन्द्र था। इंन्शा और मुसहफ़ी का बोलबाला था और हर जगह इसी की चर्चा थी। आतिश भी मुसहफ़ी के शिष्य हो गए पर किसी बात पर उनसे अप्रसन्न होकर यह नाता तोड़ लिया। उनके अन्दर स्वयं कविता के ऐसे तत्व थे कि थोड़े ही समय में वह लखनऊ के कवि-सम्मेलनों में चमक उठे और उनका नाम भी बड़े कवियों में लिया जाने लगा। बहुत से लोग उनके शिष्य हो गए पर वह राज-दरबार और अमीरों से अलग थलग एक संतुष्ट जीवन बिताते थे। कहा जाता है कि अवध के राजदरबार से उनको ८० रू० महीना मिलता था पर वह उसे दीन और आश्रितों में बाँट देते थे।

आतिश का स्वभाव भी विचारणीय है। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम और इच्छाएं न होने के बराबर थीं। बड़े लोगों से कभी मिलते न थे। दरिद्र और दीन भाइयों के साथ बैठकर प्रसन्न होते थे। एक लम्बा गेरुवा वस्त्र पहनते, हाथ में मोटा डंडा और कमर में तलवार लटकती रहती थी। भाँग पीने का शौक़ था। कभी कभी अपनी कविता में उसका उल्लेख किया है। लोगों ने नासिख़ से मनमुटाव पैदा करा दिया था पर उसने कभी कोई गन्दा रूप धारण नहीं किया। सन् १८४६ ई० में उनका देहान्त हो गया।

आतिश की कविता एक प्रकार से लखनऊ के उस रँग से मिलती जुलती हैं, जिसको नासिख़ ने प्रचलित किया था। इसका अर्थ यह है कि उनकी कविता भी अलँकारों से भरी हुई है और कभी कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि यह भी भाव-शून्य होकर केवल शब्दों और अलंकारों के लिए शेर लिखते थे पर ऐसी कविताओं को अलग कर लिया जाए तो आतिश का दूसरा रंग जिस में भावनाओं और कल्पनाओं का ज़ोर

है, बोलचाल की शुद्ध भाषा में बड़े प्रवाह के साथ प्रगट होता है, और भाषा की सुन्दरता के साथ साथ हार्दिक भाव हथौड़े की तरह दिल पर चोट करते हैं। आतिश के जीवन में जो स्वच्छन्दता, निर्भीकता और सरलता थी वही उनकी काव्य-रचना में भी देख पड़ती है। उन्होंने बहुत अधिक कविताएँ नहीं लिखीं। केवल उनके दो छोटे छोटे काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उनमें ग़ज़लों के सिवा और कुछ नहीं है पर इन्हीं ग़ज़लों में वह तसौव्वुफ़ के कोमल से कोमल भाव और प्रेम के गहरे से गहरे विचार प्रगट करते हैं। उनके यहाँ नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार बार आता है। जिनसे पता चलता है कि वह जीवन में संघर्ष और सुन्दरता की खोज को मानव जीवन का कर्तव्य समझते थे। अगर्चे नासिख भाषा के बहुत बड़े पण्डित थे, पर यह बात पूरे विश्वास से कही जा सकती है कि आतिश भाषा का उनसे अधिक मनोहर और रोचक ढँग से प्रयोग करते थे। उनका विचार था कि कविता एक कला है जिसमें शब्दों का सुन्दर से सुन्दर प्रयोग होना चाहिए। इसलिए उनके यहाँ कला के साथ भावनाएँ इस प्रकार सम्मिलित हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए:—

ज़मीने-चमन गुल खिलाती है क्या क्या।
बदलता है रंग आसमाँ कैसे कैसे॥

न गोरे[1]-सिकन्दर न है क़ब्रे-दारा।
मिटे नामियों के निशाँ कैसे कैसे॥

बहारे गुलिस्तां की है आमद आमद।
खुशी फिरते हैं बाग़बाँ कैसे कैसे॥

× × ×

बुतखाना[2] खोद डालिए मस्जिद को ढाइए।
दिलको न तोड़िए यह खुदा का मुकाम है॥

× × ×

---

१ - क़ब्र, २—मन्दिर,

दिल की कुदूरतें[1] अगर इन्सां से दूर हों।
सारे निफ़ाक़[2] गब्रो[3]-मुसलमां से दूर हों॥

× × ×

नामर्द और मर्द में इतना ही फ़र्क़ है।
वह नान[4] के लिए मरे यह नाम के लिए॥

× × ×

मेरे सनम[5] का किसी को मकां नहीं मालूम।
खुदा का नाम सुना है निशाँ नहीं मालूम॥
अखीर हो गए ग़फ़लत[6] में दिन जवानी के।
बहारे-उम्र हुई कब खिज़ाँ नही मालूम॥
खुली है खानए-सैय्याद[7] में हमारी आँख।
क़फ़स[8] को जानते है, आशियां[9] नही मालूम॥

× × ×

हम क्या कहें, किसी से, क्या है तरीक़[10] अपना।
मज़हब नही है कोई मिल्लत नहीं है कोई॥

× × ×

सर शमअ-साँ[11] कटाइए पर दम न मारिए।
मनज़िल हज़ार सख्त[12] हो हिम्मत ना हारिए॥

नासिख़ और आतिश की काव्य रचना का गहरा अध्ययन किया जाय तो प्रगट होगा कि जहाँ तक लखनऊ की काव्य धारा का

१—मनमुटाव, २—झगड़े, ३—जो मुसलमान नही हैं, ४—रोटी, ५—मूर्ति अर्थात् ईश्वर, ६—अचेतना, ७—शिकारी का घर, ८—पिंजरा, ९—घोंसला, १०—पथ, ११—दीपक के समान, १२—कठिन

सम्बन्ध है दोनों में कई प्रकार की समानताएँ मिलती हैं, पर मूल तत्वों को देखा जाय तो उनमें बड़ा मतभेद है। उर्दू साहित्य के प्रत्येक इतिहास में उनकी तुलना की गई है, जिसके देखने से मालूम होता है कि एक की समस्त कविता बनावट और अलंकारों पर निर्धारित है, और दूसरा भावनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि अच्छे शब्द और अलंकार के प्रयोग से उनकी कविताओं की सुन्दरता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। आतिश सूफ़ी-मत से बहुत निकट थे, लखनऊ के कवियों ने तसौव्वुफ़ को कोई स्थान नहीं दिया था, इसलिए आतिश की ध्वनि लखनऊ काव्य क्षेत्र में कुछ नई नई सी जान पड़ती है। उनके यहाँ संसार को ठुकरा देने, संघर्ष करके आगे बढ़ने और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की भावना इतनी प्रबल है कि वह केवल लखनऊ ही में नहीं समस्त उर्दू काव्य में अपना एक उच्च स्थान बना लेते हैं। इन दोनों महान् कवियों के बहुत से शिष्य थे जिन्होंने उनकी चलाई हुई परम्पराओं को और पुष्ट किया। यह बात याद रखने योग्य है कि इस समय तक नासिख़ की काव्य-परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले उसी प्रकार भाषा की शुद्धता पर ज़ोर देते रहे हैं जैसा स्वयं नासिख़ ने किया, पर इसके विपरीत आतिश के शिष्यों में कई ऐसे हुए जिन्होंने भाषा के साथ साथ विषय और विचारों पर भी ज़ोर दिया।

नासिख़ के शिष्यों में प्रसिद्ध नाम यह हैं, "वज़ीर", "बर्क़", "रश्क", "बह्र", "मुनीर" और "मेह्र" इत्यादि, इसी प्रकार आतिश के शिष्यों में प्रमुख हैं, "रिन्द", "सबा", "नसीम", "ख़लील", "शौक़" इत्यादि। फिर इन शिष्यों के शिष्य चलते रहे और यह क्रम इस समय तक जारी है। इनमें से हर एक का उल्लेख इस संक्षिप्त पुस्तक में नहीं किया जा सकता, पर दो-चार के बारे में कुछ लिखना आवश्यक है क्योंकि इसी से लखनऊ काव्य-परम्परा की पूरी स्थिति समझ में आ सकेगी। इससे यह बात भी प्रतीत होगी कि इन दोनों महान कवियों के शिष्यों ने जो काव्य-धारा चलाई थी वह चलती तो रही पर उसमें कुछ विशेष वृद्धि उस समय तक न हो सकी जब तक कि मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर ने मर्सिए को पृथ्वी से उठा कर आकाश पर नहीं पहुँचा दिया।

नासिख़ के प्रसिद्ध शिष्य वज़ीर लखनऊ के रहने वाले थे और एक उच्च-कुल से सम्बन्ध रखते थे। सारी आयु संसार से विरक्त

रह कर अपने ढंग से बिता दी। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह ने दो दफ़ा बुलाया पर वह टाल गए। नासिख़ के रंग में बहुत अच्छी कविताएँ लिखते थे। उनके भी बहुत से शिष्य थे और वह लोग भी उस शैली को प्रचलित करने में लगे हुए थे जिसे नासिख़ चलाना चाहते थे। उन्होंने अपना कोई काव्य-संग्रह एकत्र नहीं किया पर जब सन् १८५३ ई० में उनकी मृत्यु हो गई तो उनके शिष्यों ने उनकी ग़ज़लें एकत्र करके प्रकाशित कर दीं और उसका नाम "दफ़्तरे-फ़साहत" रक्खा। उनके कुछ शेर यह हैं :—

जब ख़फ़ा होता है तो यूं दिल को समझाता हूँ मैं ।।
आज है ना मेहरबाँ कल मेहरबाँ हो जाएगा ।।

× × ×

थाम लूं दिल को ज़रा हाथों से।
आप पहलू से न उठ जाइए गा ।।

× × ×

जो कहता हूँ तेरा बीमार हूँ मैं।
तो क्या कहता है कुछ अपनी दवा कर ।।

नहीं उठने के क़ातिल की गली से।
कि हम बैठे हैं सर से हाथ उठाकर ।।

× × ×

तिरछी नज़रों से न देखो आशिक़े-दिलगीर को।
कैसे तीर अंदाज़ हो, सीधा तो कर लो तीर को ।।

रश्क भी नासिख़ के प्रमुख शिष्यों में से थे। उन्होंने भाषा को शुद्ध करने, शब्द-कोश तैयार करने और अपने गुरू के बताए हुए सिद्धान्तों का प्रचार करने में बड़ा नाम पैदा किया। उनके दो काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं पर वह बहुत रूखी-फीकी कविताओं से भरे हुए हैं। वह केवल यह देखते थे कि उनके शब्द और मुहावरे

ठीक हैं या नहीं, उन्हें इसकी चिन्ता न थी कि कविताओं में कुछ मज़ा भी होना चाहिए। उनकी मृत्यु सन् १८६७ ई० में हुई। उन्हों ने भी बहुत से शिष्य छोड़े जिनमें "मुनीर" और "जलाल" प्रमुख हैं।

आतिश के शिष्यों में नौव्वाब सैय्यद मुहम्मद खाँ "रिन्द" और पंडित दयाशंकर "नसीम" बहुत बड़े कवियों में गिने जाते हैं। रिन्द अवध के शाही परिवार से सम्बन्ध रखते थे। फ़ैज़ाबाद में बालपन और युवावस्था बड़े आराम से कटी, उसके बाद लखनऊ चले आए। यहाँ भी उनका जीवन राज-दरबार में विलास-पूर्वक कटता रहा। आतिश को अपनी कविता दिखाते थे और अन्त में उन्हीं की प्रकार सादा जीवन बसर करने लगे थे। उन्होंने सन् १८५७ ई० में मृत्यु पाई। उनकी भाषा साफ़-सुथरी है और कविता में भावनाओं की कमी नहीं। उन्होंने दो काव्य-संग्रह तैय्यार किए थे जो प्रकाशित हो चुके हैं। उनके कुछ शेर यह हैं:—

हज़ार बार किया मेरा इम्तिहाँ उसने।
बस आज़मा चुका, अब आज़माए गा फिर क्या॥

× × ×

मैं भला क्यों कर कहूँ तुमको बुरा।
आप ने जो कुछ किया अच्छा किया॥

× × ×

वादे प तुम न आए तो कुछ हम न मर गए।
कहने को बात रह गई दिन तो गुज़र गए॥

× × ×

धूप दिन की, ओस शब[1] की खाइए।
आस्ताने यार[2] पर मर जाइए॥

× × ×

१—रात, २—प्रेमिका की चौखट

पड़ गई जान किस अज़ाब[1] में हाए
चाहना भी बड़ी मुसीबत है ॥

× × ×

न खुलवाओ मेरी ज़ुबाँ, चुप रहो।
कोई बात मुँह से निकल जाएगी ॥

पंडित दयाशंकर कौल, जिनका उपनाम "नसीम" था, एक कुलीन कशमीरी परिवार से सम्बन्ध रखते थे। सन् १८११ ई० में पैदा हुए थे और बालपन ही से कविताएँ लिखते थे। उर्दू के साथ-साथ फ़ारसी के भी विद्वान थे और अमजद अली बादशाह की सेना में बख़्शी की पदवी पर नियुक्त थे। वह आतिश के प्रसिद्ध शिष्यों में गिने जाते हैं। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं पर वास्तव में वह अपनी प्रसिद्ध और अमर मसनवी "गुलज़ारे-नसीम" की वजह से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कुल ३२ वर्ष की आयु पाई और १८४३ ई० में लखनऊ में ही परलोक सिधारे। कहा जाता है कि उन्होंने "आलिफ़ लैला" की कुछ कहानियों का अनुवाद भी उर्दू में किया था।

'गुलज़ारे-नसीम" उर्दू की प्रसिद्ध मसनवी है जिसका नाम मीर हसन की मसनवी के बाद लिया जाता है। कहते हैं कि जब उन्होंने यह कविता लिखी तो बहुत लम्बी थी। लिख कर जिस समय अपने गुरू आतिश को दिखाई तो उन्होंने उसे पढ़कर कहा—"बेटा,भला इतनी लम्बी कविता कौन पढ़ेगा, या तो तुम पढ़ोगे कि तुमने लिखी है या मैं पढ़ूँगा कि मैं तुम्हारा गुरू हूँ, जाओ इसे संक्षिप्त कर डालो।" नसीम ने उसे संक्षिप्त किया और आज वह उर्दू साहित्य-कोष में एक अनमोल रत्न समझी जाती है। इस मसनवी में गुलबकावली की प्रसिद्ध कहानी लिखी गई है। इसमें बहुत से अलंकारों का प्रयोग किया गया है और हार्दिक भावनाओं को भी बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। इस मसनवी में से उदाहरण देना कठिन है क्योंकि यह एक क्रमबद्ध कविता है, जिसके भागों को अलग करके पढ़ने से अधिक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। उनकी ग़ज़लों से उदाहरण दिए जा सकते हैं:—

१—जंजाल, मुसीबत

नाम मेरा सुनते ही शर्मा गए।
तुमने तो खुद आपको रुस्वा[1] किया ॥

× × ×

गर यही है इस गुलिस्ताँ की हवा।
शाख़े-गुल[2] एक रोज़ झोंका खाएगी ॥

× × ×

रूहे-रवानों-जिस्म[3] की सूरत में क्या कहूँ।
झोंका हवा का था इधर आया उधर गया ॥

× × ×

अब दर्दे-जिगर हो के निकलता है दहन[4] से।
वह जोश जो बरसों मेरे सीने मे निहाँ[5] था ॥

× × ×

जब हो चुकी शराब तो मैं मस्त मर गया।
शीशे के खाली होते ही पैमाना भर गया ॥

उस समय अवध में (बल्कि सारे भारतवर्ष से) ग़ज़ल ही लोक प्रिय कविता समझी जाती थी। क़सीदे बहुत कम लिखे जाते थे। हजो (निन्दा) का बाज़ार ठंढा पड़ चुका था। मसनवी भी बहुत नहीं लिखी जा रही थी, परन्तु इसी युग में मर्सिए ने सबसे अधिक उन्नति की। इसका सबसे बड़ा कारण तो यह था कि लखनऊ राज्य शिआ धर्म का अनुकरण करता था और उसके प्रदर्शन के लिए मुहर्रम और दूसरे त्यौहार बड़े उत्साह से मनाता था। यहाँ के बड़े-बड़े अमीर और जागीरदार चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान, किसी-न-किसी प्रकार से उसमें सम्मिलित होते थे। अवध की सभ्यता में आरम्भ ही से यह विशेषता देख पड़ती है कि यहाँ कई त्यौहारों में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित होते थे। मुहर्रम में शोकसभाएँ (मजलिसें) सहस्त्रों की संख्या

१—बदनाम २—फूलकी डाली, ३—प्राण और शरीर, ४—मुख, ५—गुप्त

में होती थीं और उनमें मर्सिए पढ़े जाते थे। इसलिए मर्सिए की बड़ी उन्नति हुई। इस सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है वह यह कि लखनऊ की कविता में जो बनावट और एक प्रकार का पतन था उसकी प्रतिक्रिया होना आवश्यक था और मर्सिया ही कविता का एक ऐसा रूप था जिसमें जीवन के नैतिक और उत्कृष्ट सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सके। अतः इससे अधिक उचित समय मर्सिए की प्रगति के लिए नहीं मिल सकता था। कला के विकास के लिए एक वातावरण का होना ज़रूरी है और वह वातावरण मर्सिए के लिए लखनऊ में मौजूद था।

मर्सिया साधारणतः उस कविता को कहते हैं। जिसमें किसी धार्मिक या राष्ट्रीय नेता या किसी प्रिय जन की मृत्यु पर शोक प्रगट किया गया हो और उसकी अच्छाइयों का उल्लेख इस प्रकार से किया जाए कि सुनने वाले भी प्रभावित हों। उर्दू में अधिकतर मर्सिए इमाम हुसैन (और उनके साथियों) के बारे में लिखे गए हैं जो मुसलमानों के रसूल के नवासे थे और जिनको नाम-मात्र के मुसलमान बादशाह यज़ीद ने कर्बला की रणभूमि में तीन दिन का भूखा प्यासा रखकर बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला। उनके साथ केवल ७२ पुरुष थे जिसमें ८० वर्ष के बूढ़े और छः महीने के बच्चे तक सम्मिलित थे। वह सबके सब भूखे प्यासे ही मारे गए और इमाम हुसैन अपने आदर्श के लिए अन्तिम समय तक बड़ी वीरता से लड़कर एक बहु संख्यक सेना के हाथों शहीद हुए। उनके खेमों डेरों में आग लगा दी गई और आदरणीय स्त्रियों को बन्दी बनाकर नगर नगर फिराया गया। मर्सिए में इसी घटना को बड़े रोचक और हृदय-विदारक रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

उर्दू में मर्सिए दक्षिण ही से मिलने लगते हैं पर उनमें कोई साहित्यिक सुन्दरता नहीं थी, वह केवल अपना शोक प्रगट करने और इमाम हुसैन के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए लिखे जाते थे। इसी प्रकार दिल्ली काव्य के आरम्भिक काल में भी मर्सिए लिखे गए, वह भी कोई साहित्यिक महत्व नहीं रखते पर मिर्ज़ा सौदा ने मर्सियों का एक पूरा संग्रह तैय्यार किया और इस बात को चेतना-पूर्वक अपने सामने रक्खा कि मर्सिए में साहित्यिक सुन्दरता का होना आवश्यक है। उसके बाद से लखनऊ में मर्सिया कविता का एक महत्वपूर्ण रूप

धारण कर गया और बहुत से कवि धार्मिक पुण्य प्राप्त करने के लिए मर्सिए लिखने लगे। इनमें "दिलगीर", "फ़सीह", "ख़लीक़" और "ज़मीर" बहुत प्रसिद्ध हैं। ख़लीक़ मीर हसन के पुत्र थे, उनके घर में चार पीढ़ियों से मर्सिए लिखे जाते थे, उन्होंने भी बड़े श्रेष्ठ मर्सिए लिखे। मीर ज़मीर ने पहिले पहिल मर्सिए को कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया और उसमें कुछ ऐसे अंश बढ़ाए जिनसे वह केवल एक शोक-मय काव्य नहीं रह गया बल्कि एक बड़ा विशाल और व्यापक काव्य बन गया जिसमें क्रमिक ढंग से कर्बला की दुर्घटना का उल्लेख होने लगा। उन्होंने स्वयं इस का दावा किया है कि सबसे पहिले उन्होंने मर्सिए को यह रूप दिया। मीर ज़मीर के मर्सियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है और उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वह पहिले बड़े कवि थे जिन्होंने अपना सारा जीवन केवल मर्सिया लिखने ही में व्यतीत किया। ज़मीर के दो शिष्य थे, मीर बबर अली "अनीस" और मिर्ज़ा सलामत अली "दबीर"। यह दोनों उर्दू मर्सिए के सूर्य और चन्द्रमा कहे जाते हैं, और इन्होंने मर्सिए का एक ऐसा विशाल भवन तैय्यार कर दिया जिसमें फिर कोई वृद्धि न हो सकी।

मीर अनीस मीर ख़लीक़ के सुपुत्र थे। उनका जन्म फ़ैज़ाबाद में सन् १८०४ ई० के लगभग हुआ पर जल्दी ही अपने बाप के साथ लखनऊ चले आए। ख़लीक़ स्वयं एक बड़े कवि और मर्सिया लिखने वाले थे पर उन्होंने अपने पुत्र अनीस को मीर ज़मीर का शिष्य करा दिया क्योंकि उनकी इच्छा थी कि अनीस केवल मर्सिए लिखें। मीर अनीस ने उस समय की रीति के अनुसार फ़ारसी अरबी पढ़ी थी और धार्मिक ग्रन्थों का अवलोकन किया था। इसके अतिरिक्त वह घोड़े की सवारी, व्यायाम, शस्त्रविद्या से भी भली भाँति परिचित थे। उनका स्वभाव नर्म था पर एक विरोष प्रकार की उदारता और आत्माभिमान भी उनमें मिलता है। वह अपने सिद्धान्तों को बहुत प्रिय रखते थे और किसी के सामने सिर झुकाने को बहुत बुरा समझते थे। सन्तोष और नम्रता को प्रिय रखते थे इसीलिए किसी बड़े से बड़े सज्जन का भय उनके हृदय में न था। उन्होंने अपनी आयु का अधिकतर भाग लखनऊ में ही व्यतीत किया। उनका विचार था कि उनकी कविता का सबसे अधिक आदर लखनऊ ही के लोग

कर सकते हैं जिनकी नस नस में काव्य रचना को परखने और सुन्दरता से आनन्द प्राप्त करने की भावना रची हुई है। लखनऊ के बाहर वह केवल इलाहाबाद, बनारस, पटना और हैदराबाद गए जहाँ उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। उन्होंने लखनऊ ही में सन् १८७४ ई० में समाधि पाई।

कहा जाता है कि बचपन में मीर अनीस ने एक आध ग़ज़लें भी लिखी थीं पर वास्तव में उन्होंने केवल मर्सिए लिखे है। थोड़े से सलाम और रुबाइयाँ भी मिलती हैं। उनकी रचनाओं का संग्रह पाँच भागों मे प्रकाशित हो चुका है और कुछ भाग ऐसा भी है जो उनके परिवार के पास सुरक्षित है और अभी प्रकाशित नहीं हुआ। मीर अनीस की कविता में वह सब विशेषताएँ पाई जाती हैं जो एक महान कलाकार के लिए आवयश्क हैं। मर्सियों में हर प्रकार के लोग आते हैं, अच्छे और बुरे, साथी और शत्रु, बूढ़े, जवान और बालक, स्त्री और पुरुष, दोस्त और नातेदार, उनके एक दूसरे से सम्बन्ध कही बड़े जटिल हैं और कहीं सरल, उनके स्वभाव और व्यवहार में विभिन्नता है पर मीर अनीस का कमाल यह है कि वह इनमें से प्रत्येक का उल्लेख उसी के स्वभाव के अनुसार करते हैं और उसे देख कर ऐसा जान पड़ता है कि वह मानव-विज्ञान के बड़े पंडित थे उनके पास शब्दों का एक ऐसा कोष था कि वह मिलती जुलती भावनाओं और जटिल हालतों का चित्रण बिलकुल ठीक ठीक कर सकते थे। उनके लिए कठिनाई यह थी कि वह एक धार्मिक और ऐतिहासिक विषय पर कविताएँ लिखते थे और उसमें अपनी ओर से घटाने बढ़ाने को वह पाप समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में इमाम हुसैन और उनके साथी दैवी गुणों से परिपूर्ण थे इसलिए वह बहुत सोच समझ कर उनके सम्बन्ध में वह बातें कह सकते थे जिनकी चर्चा इतिहास के पन्नों में नहीं थी मगर उनकी निरक्षण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि वह उन घटनाओं का विवरण भी कर सकते थे जो उस स्थिति में सम्भव थी। यहीं कवि की विचार-शक्ति की परीक्षा होती हैं और मीर अनीस इसमें निपुण जान पड़ते हैं। उन्होंने प्रकृति का वर्णन भी बड़ी सुन्दरता से किया है और भावनाओं के प्रगट करने में तो दुनिया के बहुत कम कवि उनके बराबर रक्खे जा सकते हैं। उनके मर्सिए नैतिक और उदार भावों का एक बहुत बड़ा कोष हैं जिनके अध्ययन से मनुष्य

के भीतर आत्म-गौरव और पवित्र भाव जाग उठते हैं। मर्सिया वास्तव में शोक प्रकट करने और सुनने वालों में करुण भावना पैदा करने के लिए लिखा जाता था। मीर अनीस के मर्सिए इस दृष्टि से भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। कैसा ही व्यक्ति उन्हें पढ़े, प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

अनीस को भाषा प्रयोग में बड़ी निपुणता प्राप्त थी। उस समय लखनऊ में अलंकारों का प्रयोग बड़े अनुचित ढँग से होता था पर मीर अनीस ने अपनी कविता को इससे बचाने की चेष्टा की। उनकी भाषा बहुत सरल, मीठी और शुद्ध थी। इसके अतिरिक्त वह उसे समय, स्थान और स्थिति के अनुकूल बनाने में कमाल रखते थे। उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने जिस दृश्य का चित्रण किया है वह आदर्शवादी होते हुए भी वास्तविकता के निकट रहता है। उनका विषय जैसा गम्भीर और उच्च था उसके लिए उन्होंने वैसी ही शैली का प्रयोग भी किया। उदाहरण देना इस लिए लाभदायक नहीं होगा कि जब तक कोई उस पृष्टभूमि से परिचित न हो जिसमें मर्सिए लिखे जाते हैं उस समय तक दो चार छन्दों से न तो आनन्द प्राप्त होगा और न आलोचना में सहायता मिलेगी।

मर्सिए के दूसरे कवि जो उतने ही महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, वह मिर्ज़ा सलामत अली "दबीर" थे। उनकी जन्म-भूमि दिल्ली थी। उनके पिता लखनऊ चले आये थे और दबीर का समस्त जीवन यहीं व्यतीत हुआ। मिर्ज़ा दबीर ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और उस समय जिन विषयों का पढ़ना आवश्यक था उन सब को बड़ी उत्सुकतासे प्राप्त किया था। वह बाल-पन ही से धर्म और कविता दोनों को प्रिय रखते थे इस-लिए उन्होंने काव्य निर्माण के लिए मर्सिये को ही पसन्द किया और मीर ज़मीर के शिष्य हो गए। थोड़े ही समय में लखनऊ में और लखनऊ के बाहर उनका यश फैल गया। अवध राज्य-दरबार में भी उन का सम्मान होता था। जिस समय उनके सुयश का सूर्य ऊँचाई पर पहुँच चुका था, मीर अनीस का नाम भी चमका और दोनों में मुक़ाबिले होने लगे, मिर्ज़ा दबीर भी लखनऊ के बाहर जाना पसन्द नहीं करते थे, उनका भी यही विचार था कि उन की कविता से पूरा आनन्द यहीं के लोग उठा सकते हैं,

पर सन् १८५७ के विप्लव के बाद मुर्शिदाबाद और पटने गये। सन् १८७५ ई० में लखनऊ ही में मिर्ज़ा दबीर का देहान्त हुआ।

मिर्ज़ा दबीर के लिए कहा जाता है कि उन्होंने लगभग तीन हज़ार मर्सिए लिखे, जिसका अधिकतर भाग लखनऊ की कविता से प्रभावित है। उनके विचार बड़े उदार और शैली बड़ी कठिन थी उसमें अलंकारों के बाहुल्य से और भी जटिलता पैदा हो जाती थी। इसमें सन्देह नहीं कि मिर्ज़ा दबीर बड़े विद्वान थे और कर्बला की शोक-पूर्ण घटना को बड़े विस्तार से जानते और बयान कर सकते थे। पर उन्होंने कला के उन सूक्ष्म यंत्रों से काम नहीं लिया जिनका प्रयोग मीर अनीस ने किया था। अपने समय में तो उन्होंने लोगों को बहुत प्रभावित किया पर जब बाद में अलंकारों का कौतुक समाप्त हुआ तो उनकी कविता बड़ी बनावटी जान पड़ने लगी। मर्सिये के लिये जो गम्भीरता और महिमा आवश्यक है वह दबीर के यहाँ नहीं मिलती। जब कविता के सुनने वाले शब्दों के अर्थ और अलंकारों के गुप्त भेद खोजने में लग जाएँ तो उस का प्रभाव अवश्य ही कम होगा। यही बात मिर्ज़ा दबीर की कविताओं में भी पाई जाती है। चूँकि अनीस और दबीर के विषय एक थे, समय एक था, काव्य-रूप एक था, इसलिये हर आलोचक उन की तुलना करने लगता है। लखनऊ में तो दो दल बन गये थे जो "अनीसिये" और "दबीरिये" कहलाते थे और इसमें आपस में खूब चोटें चला करती थीं, पर आज का आलोचक बिना किसी कठिनाई के यह निर्णय कर सकता है कि दबीर अनीस की महानता को नहीं पहुँचते। भाषा, शैली और वास्तविकता किसी दृष्टि से भी देखा जाए, अनीस संसार के महान कवियों में गिने जाएँगे और दबीर उन के निकट भी नहीं पहुँचेंगे। उनके यहाँ से भी उदाहरण देना बहुत कठिन है, क्योंकि उनकी अधिकतर कविताएँ कठिन फ़ारसी, अरबी शब्दों और अलंकारों से भरी हुई हैं। मीर अनीस और दबीर की शैली का अन्तर निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा, अर्थ एक ही है, शैली दोः--

दबीर—ज़ेरे-क़दमे-वालिदा फ़िरदौसे-बरीं है।
अनीस—सुनते हैं माँ के पाँव के नीचे बिहिश्त है।
दबीर—जिस तर्ह ज़लज़ले में कोई साहबे के मकाँ।
अनीस—जैसे कोई भूचाल में घर छोड़ के भागे।

लखनऊ में मर्सिए की जो उन्नति हुई उसने पूरी उर्दू कविता

को सीमाओं को विस्तृत कर दिया और लखनऊ में जो पतन अग्रसर हो चुका था उसको रोक कर काव्य-रचना के नए द्वार खोल दिए। बहुत से आलोचकों का विचार है कि मर्सिए में जो शैली अपनाई गई उससे आधुनिक काव्य-धारा को भी प्रेरणा मिली पर यह कुछ बहुत ठीक नहीं है क्योंकि आधुनिक काव्य-रचना जिन समस्याओं के फल-स्वरूप लिखी गई है वह मर्सिया लिखनेवालों के सामने नहीं थी। नई कविता में एक नई चेतना का उद्भव देख पड़ता है। मर्सिए में जो नवीनता है वह चेतना की नवीनता नहीं है बल्कि विषय के प्रस्तुत करने के ढँग और शैली की नवीनता है। मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर के बाद भी मर्सिए लिखे जाते रहे। अनीस के दो भाई "मूनिस" और "उन्स" भी बहुत बड़े कवि थे जिन्होंने भी मर्सिए ही लिखे। मीर अनीस के तीन पुत्र मर्सिए ही लिखते थे जिनमें "नफ़ीस" को लगभग वही महत्व दिया जाता है जो अनीस को प्राप्त है। इस वंश में आज तक मर्सिया लिखनेवाले चले आ रहे हैं परन्तु सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बदल जाने के कारण अब साहित्य में मर्सिए का वह स्थान नहीं रह गया है। इसी प्रकार मिर्ज़ा दबीर के पुत्र "औज" भी बड़े प्रसिद्ध मर्सिया लिखने वाले हुए हैं। इस परिवार में भी आजतक मर्सिया लिखा जा रहा है और यह बात सबसे अधिक मनोरंजक है कि दोनों कुल अपने अपने पूर्वजों की प्रथा का निरन्तर पालन कर रहे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त इनके नातेदारों में भी कई प्रसिद्ध मर्सिया लिखने वाले हुए हैं जैसे "इश्क़" "तअश्शुक़" "रशीद" "आरिफ़" और "वहीद" इत्यादि और इनके परिवारों में भी आजतक मर्सिया लिखने वाले बराबर उस परम्परा को चलाए जा रहे हैं।

अगर लखनऊ काव्य केन्द्र की विशेषताओं को संक्षिप्त रूप में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यहाँ काव्य-रचना का आरम्भ उन्हीं कवियों के हाथों हुआ जो दिल्ली से यहाँ आए थे पर थोड़ा समय बीतने के बाद यहाँ की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कुछ ऐसे छोटे मोटे परिवर्तन हुए जिन में यहाँ की भाषा और साहित्य दोनों दिल्ली से अलग हो गये। आरम्भ में तो यह परिवर्तन अनजान और अचेत रूप से हुआ होगा पर बाद में यहाँ के कवियों और लेखकों ने चेतना-पूर्वक अपने रंग को दिल्ली से अलग करने की चेष्टा की और इसमें उनको सफलता भी हुई। अवध के समस्त जीवन और सभ्यता में एक विशेष

प्रकार की लचक और कोमलता पैदा होगई जिसने बाह्य सुन्दरता और उसके वर्णन को बनावट के रंग में रंग दिया और लिखने वालों ने एक ऐसा शब्दाडम्बर खड़ा कर दिया कि जीवन की समस्याओं और विषयों की गम्भीरता उसी में डूब कर रह गई। इसमें सन्देह नहीं कि लखनऊ ने भाषा को सुन्दर और लचकदार बनाने में बड़ा काम किया पर उसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवियों ने केवल शब्दों के प्रयोग को कविता समझ लिया और अलंकारों के प्रयोग पर अपनी सारी शक्ति लगादी। कुछ कवि और विशेषकर मर्सिया लिखने वाले ऐसे अवश्य हुये जिन्होंने अपनी नौका इसी समुद्र में चलाकर भी गम्भीर और महान काव्य की रचना की और अपने दामन को उन बुराइयों से बचा लिया जिनके लिये लखनऊ बदनाम हो रहा था।

ऊपर के पन्नों में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि लखनऊ और दिल्ली का झगड़ा आलोचकों ने जिस प्रकार से प्रस्तुत किया है उसका वह रूप नहीं है क्योंकि भारत की राजनीतिक स्थिति जिस प्रकार से बदल रही थी उसमें दिल्ली और लखनऊ में कोई बड़ा भेद नहीं था। अर्थिक ढाँचा भी जैसा का तैसा था केवल ऊपरी तौर से और स्थायी परिवर्तन हुए थे जो साहित्य के आधार को नहीं बदल सकते थे। अभी तक वह परिपाटियाँ प्रबल थीं जिनको सामन्ती सभ्यता ने जन्म दिया था। अगर्चे भारत के जीवन में योरप के विचार प्रवेश कर रहे थे पर साधारण जीवन उससे प्रभावित नहीं हो रहा था और अधिकतर लोग अपने भूतकाल ही से चिपटे हुए थे।

अध्याय ५

नज़ीर अकबराबादी और एक विशेष परम्परा

इस संक्षिप्त इतिहास के पाठक ने इस बात का अनुभव अवश्य किया होगा कि अगर्चे उर्दू पर फ़ारसी भाषा और उसी के साथ साथ ईरानी विचारों का प्रभाव पड़ा किन्तु उर्दू साहित्य में फिर भी स्थानीय रंग इतना गहरा रहा है कि उसे दबाया नहीं जासकता। मेरा विचार है कि उस विदेशी प्रभाव के बहुत से ऐतिहासक कारण हैं जो समय की परिस्थितियों का परिणाम थे। उन पर किसी का अधिकार नहीं था। परन्तु सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि बहुरंग होने पर भी भारतीय सभ्यता में एक प्रकार की एकरंगी पाई जाती है जो समय के साथ साथ और स्पष्ट होती जा रही है। १८ वीं शताब्दी के अंत और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में जागीरदारी काल का पतन और नई शक्तियों का उभरना नई समस्याऐ पैदा कर रहा था और राजनीतिक परिवर्तनों ने संस्कृति की बाढ़ को रोक दिया था। इसलिये उसके किसी अँग में प्रगति नहीं देख पड़ती। केवल राजदरबार और राजधानी या इससे थोड़ा आगे बढ़कर कुछ प्रमुख नगर साहित्य, कला और सँस्कृति का केन्द्र बने हुए थे। ऐसा हर देश में और हर युग में होता है। भाषा इस प्रकार साहित्यिक होकर सीमित हो जाती है। यही नहीं बल्कि साहित्य में भी कुछ विशेष बातें स्वीकार कर ली जाती हैं और जो उन्हें तोड़ने की चेष्टा करता है उस को उस समय महत्व नहीं दिया जाता।

उर्दू बोलचाल की भाषा के रूप में विकासित हुई, पर जब

उसने साहित्य में एक स्थान ग्रहण कर लिया तो उसके नाप-तौल के पैमाने बदल गए और केन्द्रों में सीमित हो जाने के कारण उसका सम्बन्ध थोड़ा बहुत जन-साधारण से टूट गया। साहित्य पर तो अवश्य ही इसका गहरा प्रभाव पड़ा। जैसा कई स्थानों पर संकेत किया जा चुका है उस समय सामाजिक और आर्थिक जीवन की मूल्य धाराएँ दो थीं: एक ओर जन-समूह था जिन में अधिकतर किसान और बिल्कुल नीचे की श्रेणी के धंधे करने वाले थे, दूसरी ओर बादशाह, जागीरदार, सेना के बड़े कर्मचारी और दरबार से सम्बन्ध रखने वाले लोग थे जिन्हें उच्चवर्ग कहा जा सकता है। मध्यवर्ग ठीक से पैदा नही हुआ था, अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि जो लोग मध्यम वर्ग में हो सकते थे वह भी नान्सिक स्थिति में सामन्ती जीवन से प्रभावित थे। इसलिए साहित्य में भी दो रंग हो जाते हैं जो कभी किसी बड़े लेखक की रचनाओं में व्यापक रूप से मिलते देख पड़ते हैं, इस का यह अर्थ नहीं है कि समस्त लेखक केवल उच्चवर्ग के लोगों की भावनाओं का चित्रण करते थे बल्कि यथार्थ यह है कि उनकी चेतना सामन्ती युग के विचारों, नैतिक सिद्धान्तों, शिक्षा-सम्बन्धी नियमों से बनती थी और वह उन्हीं परम्पराओं का पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। फिर भी जहाँ कहीं मानव जाति की भलाई और दलित लोगों के प्रति न्याय का प्रश्न उठता था, यह कवि सारे बंधनों को तोड़ देते थे। वह धर्म, राज्यनीतिक परम्पराओं और आर्थिक भेदभावों का विरोध करते थे क्योंकि उन्ही की सहायता से मनुष्य को जातियों और वर्गों में बाँटा जाता था। यह बातें कुछ तो तसौव्वुफ़ की उदार और व्यापक दृष्टि का परिणाम कही जा सकती हैं और कुछ व्यक्ति और समाज के बीच नैतिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा में पैदा हुईं। इस परम्परा को चलाने में सभी महान कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह, वली, सिराज, मीर, दर्द, आतिश, ग़ालिब और अन्य कवि इसी परम्परा का पालन करते थे। उच्च काव्य-साहित्य की यह विशेषता सभी भाषाओं में पाई जाती है क्योंकि मनुष्य के विरुद्ध अन्याय का अनुभव सहृदय कवियों को पहिले होता है और वह एक विशेष वर्ग-विभाजित समाज में रहते हुए भी साधारण जीवों के प्रति उदार भाव प्रगट करने का साहस रखते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उर्दू में अच्छा लोक-साहित्य जन्म नहीं ले

सका; इसका सब से बड़ा कारण यह है कि उर्दू भाषा का आरम्भ उस समय हुआ जब भारतीय संस्कृति एक विशेष रूप धारण कर चुकी थी, कई भाषाओं के साहित्य प्रचलित थे और जब उर्दू एक नई भाषा के रूप में उभरी तो उसके सम्मुख साहित्य के अच्छे नमूने मौजूद थे, उसने उन्हीं की राह ग्रहण कर ली। जब तक वह बोलचाल के काम में लाई जाती रही उसने जनता के विचारों और व्यवहारों के आधार पर प्रगति की, और बहुत से मुहावरे जो जीवन की साधारण समस्याओं से सम्बन्ध रखते थे, प्रचलित हो गए। प्रारम्भिक अवस्था में उर्दू साहित्य में सादगी थी परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया साहित्यिक भाषा में फ़ारसी अरबी शब्दों से मदद ली जाने लगी और अधिकतर उन विचारों की चर्चा होने लगी प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध नहीं रखते थे। ग्राम्यजीवन और नगर-जीवन में अन्तर पैदा हो चुका था और नगरों में भी लोग अपनी ही श्रेणी के लोगों से मिलते थे और इस बात को मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यक समझते थे। इस प्रकार उर्दू कविता लोक साहित्य से दूर होती चली गई।

उर्दू कविता का अध्ययन करते समय एक और दिशा में ध्यान देना लाभदायक होगा। उर्दू के अधिकतर कवि फ़ारसी भाषा और उस के काव्य-शास्त्र के ज्ञाता थे, वरन उनमें से बहुत से ऐसे थे जो फ़ारसी को उर्दू से उत्तम समझते थे और उसी भाषा में लिखने को सभ्यता का चिन्ह जानते थे। उनमें से कुछ हिन्दी से भी परिचित थे पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दी काव्य-शास्त्र के विद्वान थे इसलिए वह अपनी काव्य-रचना में फ़ारसी काव्यशास्त्र और काव्य-आलोचना से प्रेरणा लेते थे। फ़ारसी काव्य-आलोचना पर अरिस्टाटल (Aristotle) का गहरा प्रभाव पड़ा था और इसी के कारण फ़ारसी-आलोचक भी इस सिद्धान्त को मानने लगे कि कविता और इतिहास में प्रस्तुत की जाने वाली घटनाओं में अन्तर होना चाहिए। इतिहास में विशेष घटनाओं का बयान होगा और कविता में सार्वजनिक और साधारण घटनाओं का। यही कारण है कि ग़ज़ल में, जो उर्दू और फ़ारसी काव्य-साहित्य का सबसे लोकप्रिय रूप है, ऐसे भावों और अनुभवों का वर्णन होता है, जो एक ही प्रकार की बहुत सी घटनाओं पर लागू हों। उर्दू काव्य की इस विशेषता को ध्यान में रखने से कई बातों के समझने में सहायता मिलेगी और यह भी ज्ञात होगा कि विशेष घटनाओं और विषयों पर

अधिक कविताएँ क्यों नहीं लिखी गईं। कविता को अधिक से अधिक विश्व-व्यापी और अलौकिक प्रगट करने के लिए उन्होंने यह राह पकड़ी थी। इसके सामाजिक और आर्थिक कारणों का समझना कुछ ऐसा कठिन नहीं है पर सबसे बड़ी बात यह थी कि बहुत से कवि पूरी तरह जनता के साधारण जीवन से परिचित भी न थे। जिन को इसका थोड़ा बहुत अनुभव था और जिस प्रकार का अनुभव था उसका उल्लेख उन्होंने किसी न किसी प्रकार से अवश्य किया है।

ऐसे एक कवि "नज़ीर" अकबराबादी हैं जो अपना कोई समान नहीं रखते। नज़ीर का जन्म दिल्ली में १७४० ई० में हुआ परन्तु उस का समस्त जीवन आगरा (अकबराबाद) में बीता, वही आगरा जो मुग़ल सम्राट अकबर की राजधानी रह चुका था और जिसके चारों ओर कृष्ण भक्ति का वह वैश्नव आन्दोलन फैला हुआ था जिसने सूरदास, नंददास और मीराबाई के गीतों और भजनों को जन्म दिया था, जहाँ विशाल क़िला और ताजमहल खड़े किए गए थे, जहाँ की वायु में राधा-कृष्ण प्रेम और भक्ति के गीत गूँज रहे थे, जहाँ से निकट मथुरा और वृन्दावन के मेलों और त्योहारों में सम्मिलित होकर जनता के दिल की धड़कन तेज़ हो जाती थी। इन परम्पराओं के साथ साथ यह भी याद रखना चाहिए कि नई आर्थिक स्थिति में भारत दीन होता जा रहा था, व्यापारी और धंधे करने वाले बेकार हो रहे थे, देश की सम्पत्ति समुद्र पार जा रही थी और ग्रामीण- जीवन का वह ढाँचा टूट-फूट रहा था जो शताब्दियों से देश के जीवन को बाँधे हुए था। नज़ीर की आयु इसी आगरे में कटी, उसके कण-कण से उन्हें प्रेम था। स्वयं कहते हैं—

आशिक़ कहो, असीर कहो, आगरे का है।
मुल्ला कहो, दबीर कहो, आगरे का है॥
मुफ़लिस कहो, फ़क़ीर कहो, आगरे का है।
शाइर कहो "नज़ीर" कहो, आगरे का है॥

इसलिए उनकी कविता में वही जीवन साँस लेता जान पड़ता है जो आगरे में और उसके चारों ओर था।

नज़ीर का नाम वली मुहम्मद था। रीतिनुसार उन्होंने फ़ारसी

अरबी पढ़ी थी पर उन्हें बड़ा विद्वान नहीं कहा जा सकता। उन्होंने जीवन का बड़ा भाग लड़कों के पढ़ाने में बिताया। अंत में लाला विलासराए के लड़कों को १७) रुपया मासिक पर फ़ारसी पढ़ाने लगे थे। एक समय का भोजन उन्हीं के यहाँ करते थे। युवावस्था में जीवन के आमोद-प्रमोद, विलास और हास्य सबमें भाग लिया। खेल-कूद, पतंगबाज़ी, पैराकी, व्यायाम, कुश्ती, कबूतरबाज़ी सभी मनोरंजनों से जी बहलाते रहे थे। मुसलमानों और हिन्दुओं के त्योहारों, विशेष कर होली, दिवाली, राखी, कृष्ण-जन्मोत्सव, में अवश्य भाग लेते थे। आगरा के बाहर नहीं जाते थे मगर मथुरा और वृन्दावन के मेलों में जाए बिना न रहते। कहा जाता है कि उन्हें अवध और भारतपूर के राज-दरबार से निमन्त्रण मिले पर उन्होंने आगरे को छोड़ना स्वीकार नहीं किया और लाभ अथवा शान्ति के जीवन को ठुकरा दिया। देखने में तो यह एक साधारण बलिदान है पर वास्तव में यह जन-जीवन से प्रेम की वह रुचि है जो दरबार से बँध जाने के बाद समाप्त हो जाती।

नज़ीर ने एक लम्बी आयु पाई। उसमें उन्होंने सुख भी भोगा और जीवन के कष्ट भी सहे। उसमें वह प्रेम के त्रंगों में भी झूले और भक्तों के ऐसा जीवन भी बिताया। आगरे के बड़े बड़े लोग उनका आदर-सम्मान करते थे और जनता के शोशित वर्गों के लोग उन्हें अपना समझते थे। जनता से उनका ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध था कि उनके यहाँ ऊँच-नीच, हिन्दू-मुस्लिम, बड़े-छोटे का भेद-भाव मिट गया था। उन के स्वभाव में ऐसी सरलता और व्यवहार में ऐसी स्वच्छंदता पाई जाती थी कि सभी उनके मित्र थे। भिखारी और खोनचेवाले भी उनसे अपने लिए कविताएँ लिखा लेते थे। आगरे के मुहल्ला ताजगंज में रहते थे, वहीं १८३० ई० में उनकी मृत्यु हुई और घर ही के अन्दर उनकी समाधि बनी। नज़ीर ऐसे सत्पुरुष थे कि उनकी मृत्यु के बाद बहुत से लोगों ने उन्हें बड़ा सूफ़ी फ़क़ीर समझा और बहुत दिनों तक उनकी समाधि पर हर वर्ष मेला लगता रहा। उनके पुत्र ख़लीफ़ा गुलज़ार अली "असीर" भी कवि थे। कई शिष्य भी थे, जिनमें "बातिन" नामक एक शिष्य ने कवियों का एक तज़किरा भी लिखा है जिसमें नज़ीर का उल्लेख विशेष प्रकार से किया गया है।

नज़ीर के दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। एक में उनकी कविताएँ हैं और उसका नाम "कुल्लियाते-नज़ीर" है। यह संग्रह बारं-

बार छप चुका है। हिन्दी में भी उसके कुछ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। दूसरा संग्रह अभी कुछ वर्ष पहिले प्राप्त हुआ। उसमें केवल ग़ज़लें हैं। उसे भी प्रकाशित कर दिया गया है। अनुमान है कि अभी उनकी बहुत सी कविताएँ लोगों के पास इधर-उधर हैं, मगर विश्वस्त रूप से इस सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव है। दूसरा संग्रह मिलने से यह तो हुआ कि हम नज़ीर की ग़ज़लों के बारे में भी बहुत कुछ कह सकते हैं पर आज भी उन्हें भारतीय साहित्य में जो महिमा प्राप्त है वह पहिले संग्रह के कारण है क्योंकि उसमें भारतीय जीवन अपनी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों के संग जीवित हो उठा है। इस संग्रह का एक भाग कृष्ण जी, महादेव जी, भैरों, बलदेव जी इत्यादि पर लिखी हुई कविताओं से भरा हुआ है। नज़ीर से पूर्व अधिकतर कवि साधारण विषयों पर लिखने और जनता के जीवन का चित्रण करने में संकोच करते थे पर नज़ीर ने उच्च वर्ग के विचारों में एक ऐसा चोर दरवाज़ा बना दिया जिसमें से होकर जनता का जुलूस साहित्य-भवन में घुस आया। कविता की इस महान परम्परा के साथ नज़ीर अकबराबादी का नाम सदैव जीवित रहेगा। वास्तव में तो यह वही प्रम्परा थी जिसे अमीर ख़ुसरो ने जन्म दिया था पर बीच में जीवन से उसका वह पहिला सा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रह गया था। नज़ीर ने उसे प्रबल, व्यापक और लोक-प्रिय बनाया। अमीर ख़ुसरो के पश्चात भक्त कवियों ने, गोलकुन्डा के क़ुली क़ुतुब शाह ने, दिल्ली के फ़ाइज़ ने उसे विनाश से बचाया था, नज़ीर ने उसे आकाश तक ऊँचा उठा दिया।

एक हिन्दी लेखक ने नज़ीर की उदार-हृदयता और उर्दू साहित्य की एक नई धारा निकालने की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि[1] "·····उस शुष्क और उजाड़ संगम पर आकर नज़ीर ने अज़ान भी दी और शंख भी फूँका। तसबीह भी ली और जनेऊ भी पहना। मुहर्रम में रोए तो होली में भड़ुवे भी बने। रमज़ान में रोज़े रखे और सलूनों पर राखी बाँधने को मचल पड़े। शब्बरात पर महताबियाँ छोड़ीं तो दिवाली पर दीप सजाए। नबी, रसूल, वली, पीर, पैग़म्बर के लिए जी भर कर लिखा, तो कृष्ण, महादेव, नरसी, भैरों और नानक

१—लेर-ओ-शायरी—लेखक अयोध्याप्रसाद गोयलीय १९४८ ई०

पर भी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई। गुलो-बुलबुल पर कहा तो आम और कोयल को पहिले याद रखा। पर्दे के साथ बसन्ती साड़ी भी याद रही। और तो और, गर्मी, बरसात और सर्दी पर भी लिखा। बच्चों के लिये रीछ का बच्चा, कौआ और हिरन, गिलहरी का बच्चा, तरबूज़, पतँगबाज़ी, बुलबुलों की लड़ाई, ककड़ी, तैराकी, तिल के लड्डू पर लिखने बैठे तो बच्चे बन गये। हर एक बालक गली-कूचे में गाता फिर रहा है। जवानों और बुड्ढों को नसीहत देने बैठे तो लोग वज्द में आ गये। मानो क़ुरान, हदीस, वेद, गीता उपनिषद्, पुराण सब घोल कर पी जाने वाला कोई सिद्ध पुरुष बोल रहा है।"

यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि नज़ीर के यहाँ उर्दू कविता की वह परम्पराएँ बिल्कुल नहीं हैं जिन्हें सामन्ती सभ्यता और ईरानी प्रभावों ने जन्म दिया था और न यही कहना ठीक होगा कि आधुनिक युग की वास्तविकता और राष्ट्रीय चेतना का उद्भव नज़ीर की काव्य-रचना में देखा जा सकता है क्योंकि यह दोनों बातें असम्भव थीं। परन्तु उनकी कविता में जो सचाई, जो देश-भक्ति, साधारण जन-जीवन का जो ज्ञान, मानव जाति का जो प्रेम, जो सहृदयता और जो सरलता मिलती है वह इस से पूर्व किसी कवि के यहाँ नहीं मिलती थी। उनकी कविताओं का अध्ययन करते ही ऐसा ज्ञात होता है कि हम पैर जमाए पृथ्वी पर खड़े हैं, हमारे चारों ओर हर प्रकार के मनुष्य बेखटके चल फिर रहे हैं, भारतवर्ष के जाड़े, गर्मी, बरसात आते हैं और हम इन जानी बूझी ऋतुओं का आनन्द उठाने लगते हैं, भिन्न भिन्न दलों और जातियों के लोग, अन्य धर्मों और वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले, जानवर, पंछी सब प्रस्तुत हैं और सारा वातावरण वह है जिसमें हम रहते हैं। इन छोटे-विषयों पर जीवित कविताएँ लिखना किसी साधारण या छोटे कवि के बस की बात नहीं है। नज़ीर के अनुभव का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वह भारतीय जीवन के बारे में सभी कुछ जानते हुए जान पड़ते हैं। यह ठीक है कि नज़ीर के पास कोई गहरी दार्शनिक दृष्टि नहीं है परन्तु वह जीवन की समस्याओं में इस प्रकार से प्रवेश किये हुए हैं कि उन्हें सब बातें अपने आप मालूम हैं। वह दरिद्रता के कारण, जीवन और धर्म के सम्बन्ध, वर्गों की विभिन्नता, मानवता की अवश्यकताएँ सब कुछ जानते हैं और यह देख कर आश्चर्य होता है कि उनकी सीधी सादी कविताओं में यह सारी बातें

कैसे समा गई हैं। जब वह बरसात, आँधी, अंधेरी रात, आटादाल, पैराकी इत्यादि पर लिखते हैं तो यह अनुमान नहीं होता कि यह बातें केवल उनके मुख से निकल रही हैं बल्कि इनको उन्होंने हर स्थान और हर दृष्टि से देखा है। उन्होंने जीवन को जैसा देखा और पाया था वैसा ही उसका चित्रण कर दिया परन्तु प्रत्येक स्थान पर उनका दृष्टिकोण जनता का दृष्टिकोण रहा है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह देश की आर्थिक समस्याओं को वैज्ञानिक रूप से नहीं जानते थे, वर्गों के आन्तरिक संघर्ष का कोई विशेष ज्ञान नहीं रखते थे पर एक सच्चे मानव-प्रेमी होने के नाते वह जनता के दुःख-सुख का अनुमान लगा लेते थे क्योंकि वह उन्हीं में से एक थे।

नज़ीर की कविताओं का अध्ययन करते समय उनकी भाषा पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए क्योंकि उनकी भाषा आगरा की बोलचाल की भाषा से बहुत निकट है। उसमें खड़ी बोली और ब्रज का मेल है। एक आध कविताओं से यह भी पता चलता है कि वह अरबी, फ़ारसी के अतिरिक्त ब्रज, अवधी और पंजाबी भी जानते थे। संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि सारे महान कवियों की भाँति भाषा का प्रयोग नज़ीर के व्यक्तित्व का भी पता देता है। कला की दृष्टि से उनकी काव्य रचना में त्रुटियाँ हैं, विचार की दृष्टि से नाना प्रकार की जटिल विषमताएँ हैं पर उनकी सच्चाई और मानव-प्रेम सब पर परदा डाल देते हैं, और उनकी कविताएँ पढ़ते हुए बन्द और रुँधे हुए स्थान से निकल कर हम खुली हुई वायु में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ कविताओं के भाग दिये जाते हैं:—

दुनिया में बादशह है सो है वह भी आदमी।
और मुफ़लिसो-गदा[1] है सो है वह भी आदमी॥
ज़रदार[2] बेनवा[3] है सो है व भी आदमी।
नेमत[4] जो खा रहा है सो है वह भी आदमी॥
टुकड़े जो माँगता है सो है वह भी आदमी॥

१—दरिद्र, २—धनवान, ३—ग़रीब, ४—ईश्वर की दी हुई अच्छी अच्छी पदार्थ,

मस्जिद भी आदमी ने बनाई है यां मियां।
बनते हैं आदमी ही इमाम[1] और खुतबा-ख़्वां[2] ॥
पढ़ते हैं आदमी ही क़ुरान और नमाज़ यां।
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियां ॥
जो उनको ताड़ता है सो है वह भी आदमी ॥

यां आदमी प जान को वारे है आदमी।
और आदमी प तेग[3] को मारे है आदमी ॥
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी।
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी ॥
और सुन के दौड़ता है सो है वह भी आदमी ॥

—आदमी नामा

× × ×

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे हैं।
झड़ियों की मस्तियों से धूमें मचा रहे हैं ॥
पड़ते हैं पानी हर जा जल थल बना रहे हैं।
गुलज़ार भीगते हैं सबज़े नहा रहे हैं ॥
क्या क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ॥

मारे हैं मौज डाबर, दरियां उमँड़ रहे हैं।
मोरो पपीहे कोइल क्या क्या उमँड़ रहे हैं ॥
झड़ कर रही हैं चिड़ियां नाले उमँड रहे हैं।
बरसे हैं मेंह झड़ाझड़ बादल घुमँड रहे हैं ॥
क्या क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ॥

—बरसात की बहार

× × ×

१—नमाज में अगुवाई करने वाला, २—नमाज में व्याख्यान देने वाला, ३—तलवार

बेरोजगारी ने यह दिखाई है मुफ़लिसी ।
कोठे की छत नहीं है ये छाई है मुफ़लिसी ।।

दीवारो-दर के बीच समाई है मुफ़लिसी ।
हर घर में इस तरह से फिर आई है मुफ़लिसी ।।

पानी का टूट जावे है जूँ एकबार बन्द ।।

अब आगरे में जितने हैं सब लोग हैं तबाह ।
आता नज़र किसी का नहीं एक दम निबाह ।।

माँगो अज़ीज़ो ऐसे बुरे वक़्त से पनाह ।
वह लोग एक कौड़ी के मुहताज अब हैं आह ।।

कस्बो-हुनर के याद हैं जिनको हज़ार बन्द ।।

सर्राफ़, बनिये, जौहरी और सेठ साहूकार ।
देते थे सब को नक़्द सो खाते हैं अब उधार ।।

बाज़ार में उड़े है पड़ी खाक बेशुमार ।
बैठे हैं यूँ दुकानों पर अपनी दुकानदार ।।

जैसे कि चोर बैठे हों क़ैदी क़तार बन्द ।।

क़िस्मत से चार पैसे जिन्हें हाथ आते है ।
अलबत्ता रूखी सूखी वह रोटी पकाते है ।।

जो खाली आते हैं वह क़रज़ लेके जाते हैं ।
यूँ भी न पाया कुछ तो फ़क़त ग़म को खाते हैं ।।

सोते हैं कर किवाड़ को इक आह मार बन्द ।।

जितने है आज आगरे में कारखाना-जात ।
सब पर पड़ी है आन के रोज़ी की मुश्किलात ।।

किस किस के दुःख को रोइए और किसकी कहिये बात ।
रोज़ी के अब दरख़्त का मिलता नहीं है पात ।।

ऐसी हवा कुछ आ के हुई एक बार बन्द ।।

—शहर आशोब

× × ×

जब आदमी के हाल प आती है मुफ़लिसी।
किस किस तरह से उसको सताती है मुफ़लिसी॥
प्यासा तमाम रोज़ बिठाती है मुफ़लिसी।
भूखा तमाम रात सुलाती है मुफ़लिसी॥
यह दुःख वह जाने जिस प कि आंती है मुफ़लिसी।
मुफ़लिस की कुछ नज़र नहीं रहती है आन[1] पर।
देता है अपनी जान वह एक एक नान पर॥
हर आन[2] टूट पड़ता है रोटी के खान[3] पर।
जिस तर्ह कुत्ते लड़ते है एक उसतखान[4] पर॥
वैसा ही मुफ़लिसों को लड़ाती है मुफ़लिसी॥

—मुफ़लिसी

× × ×

है रीति जनम[5] की यों होती जिस घर में बाला होता है।
उस मँडल में हर मन भीतर सुख चैन दो बाला होता है॥
सब बात व्यथा की भूले है जब भोला भाला होता है।
आनन्द मंडली बाजत है नित भवन उजाला होता है॥
यूं नेक नछत्तर लेते है इस दुनिया में संसार जनम॥
पर उनके और ही लच्छन हैं जब लेते है औतार जनम॥
शुभ साअत से यूं दुनिया में औतार गर्भ में आते हैं।
जो नारद मुनि है ध्यान भली सब उसका भेद बताते हैं॥
वह नेक महूर्त से जिसदम इस सृष्टि में जनमे जाते हैं।
जो लीला रचनी होती है वह रूप यह दिखला जाते हैं॥
यूं देखने में और कहने में वह रूप तो बाले होते हैं।।
पर बालेहीपन में उनके उपकार निराले होते हैं॥

—जन्म कन्हैयाजी

१—मर्यादा, २—क्षण, ३—टोकरी या लगन, ४—हड्डी, ५—शब्दों के जो उच्चारण नज़ीर के यहां हैं वही लिख दिए।

इस अवसर पर इस से अधिक कविताएँ नहीं दी जा सकतीं। पर इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि नज़ीर की काव्य-रचना का उल्लेख अलग से एक अध्याय में इसी लिये किया गया है कि थोड़ा बहुत रीतिगत का अनुसरण करने के बाद भी नज़ीर ने अपनी शैली सबसे अलग बनाई। वह न दिल्ली के केन्द्र में रखे जा सकते हैं और न लखनऊ केन्द्र में। वह स्वयं नई परिपाटियों के जन्मदाता हैं और किसी बने-बनाए पथ पर चलने के बदले अपना पथ आप बनाने वाले। यह विशेषता उन्हें इसलिए प्राप्त हुई थी कि उन्होंने जीवन के समझने में किसी दर्शन या परम्परा का सहारा नहीं लिया बल्कि उसमें स्वयं डूब गए और वह लिखा जो किसी और ने नहीं लिखा था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके समय में आलोचकों ने उनको कोई महत्व नहीं दिया और वह शैली प्रचलित न हो सकी जिसे नज़ीर ने अपनाया था। परन्तु आज उनका प्रभाव स्वीकार किया जा रहा है। उर्दू के महान कवि "जोश मलीहाबादी" और "इहसान दानिश" केवल उनके बड़प्पन ही को नहीं मानते बल्कि उनसे प्रभावित भी हैं। आज के आलोचक उन्हें काव्य-श्रेणी में बड़े उच्च स्थान पर रखते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक दृष्टिकोण से कविता और जीवन में जिस सम्बन्ध की खोज की जा रही है उसके सुन्दर उदाहरण नज़ीर के यहाँ मिलते हैं और वह परम्परा दिव्य होकर पथ-प्रदर्शन करती है जिस पर चले बिना साहित्य एक छोटे से क्षेत्र में सीमित होकर रह जाएगा।

———

अध्याय ६

दिल्ली की अन्तिम प्रतिभा

१८ वीं शताब्दी की दिल्ली की चर्चा करते हुए बारबार इस बात की ओर संकेत किया गया था कि भारतवर्ष का यह प्रमुख नगर और सहस्रों सम्राटों का यह राजगढ़ उजड़ रहा था इसलिये उसके कवि और कलाकार दूसरे सुरक्षित स्थानों पर चले जा रहे थे। शायद मीर ने दिल्ली ही को "दिल" बना कर कहा था :—

दिल की वीरानी का क्या मज़कूर है।
यह नगर सौ मरतबा लूटा गया॥

मगर दिल्ली मिट-मिट कर बसती और मर मर कर जी जाती थी। हर पतझड़ के बाद उसमें बहार आ जाती थी। कई दफ़ा तो यह हुआ कि उसकी मिटती हुई शोभा उसकी उन्नति के दिनों की शोभा से अधिक आकर्षक प्रतीत हुई।

उस समय भी जब दिल्ली के कवि अवध की ओर जा रहे थे, वहाँ कवियों की वाणी गूँज रही थी। हाँ, यह बात अवश्य है कि लोगों की आँखें अवध पर जमी हुई थीं और ऐसा जान पड़ता था कि अब यहाँ एकमात्र सन्नाटा हो जाएगा। पर जैसे अस्थाई शान्ति के बाद तूफ़ान आता है उसी प्रकार दिल्ली में कविता के सोते फूट बहे और एक महान युग का आरम्भ हुआ। इसका यह अर्थ नहीं है कि मरता हुआ मुग़ल राज्य सँभल गया था बल्कि सामन्ती मुग़ल सभ्यता की सुन्दरता इसी पतनशील युग में अपनी अन्तिम बहार दिखा रही थी। "ज़ौक़", "मोमिन", "ज़फ़र," और "ग़ालिब" उर्दू साहित्य के रत्नों में गिने जाते हैं। उन्होंने एक बार फिर बुझते हुए दीपक की शिखा तेज़

कर दी और उन परम्पराओं को और अधिक प्रबल और व्यापक बना दिया जिन्हें मीर, सौदा और दर्द ने सहारा देकर आगे बढ़ाया था।

दिल्ली के पुराने कवियों में एक कवि "शाह नसीर" थे, जिन्होंने इसी युग में नाम पैदा किया इसलिए उनका परिचय यहीं दिया जाता है। शाह नसीर दिल्ली के रहने वाले थे और बालपन से ही काव्य-रचना करते थे, थोड़े ही समय में बहुत प्रसिद्ध हो गए और शाह आलम बादशाह के दरबार में पहुँच हो गई जहाँ उनका बड़ा आदर होने लगा। जब इसमें कमी हुई तो उनको भी बाहर निकलना पड़ा। रोज़गार की खोज में वह दो दफ़ा लखनऊ और चार दफ़ा हैदराबाद गए। जब पहिली दफ़ा लखनऊ गए थे तो वहाँ इन्शा, मुसहफ़ी और जुरअत की छेड़छाड़ चल रही थी, शाह नसीर ने भी उसमें भाग लिया और जब दूसरी दफ़ा वहाँ पहुँचे तो नासिख़ का बोलबाला था, इनकी कुछ न चल सकी। हैदराबाद के दीवान चन्दूलाल ने, जो स्वयं उर्दू के कवि और कवियों के संरक्षक थे, शाह नसीर को अपने पास बुला लिया। उनके हैदराबाद जाने के फलस्वरूप वहाँ उर्दू कविता की चर्चा एक दफ़ा फिर बड़े उत्साह से हुई और उन्होंने बहुत से शिष्य एकत्र कर लिए। वहीं से उनका काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ और वहीं सन् १८३५ ई० में देहान्त भी हो गया।

शाह नसीर की भाषा कठिन और शैली बनावटी है। उनके यहाँ अलंकारों की भरमार होती हैं। नई-नई उपमाएँ गढ़ने में वह सबसे आगे थे और कभी-कभी तो वह इतनी पेचदार होती थीं कि उनका समझना कठिन जान पड़ता है। कहा जाता है कि उन पर लखनऊ की काव्य रचना का प्रभाव पड़ा था पर यह बात कुछ बहुत ठीक नहीं, क्योंकि आरम्भ ही से उनकी कविता में वही रंग था। उनकी कल्पना शक्ति प्रबल थी पर उनके विचारों में कोई गहराई नहीं होती थी। अपने समय में वह बड़े कवियों में गिने जाते थे परन्तु आज उनकी शैली ऐसी बनावटी और उनकी रचनाएँ ऐसी निस्सार जान पड़ती हैं कि उन्हें केवल ऐतिहासिक महत्व दिया जा सकता है। उनके शिष्यों में "ज़ौक़" सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

सच पूछा जाय तो इस युग की महत्ता मोमिन, ग़ालिब और ज़ौक़ पर निर्भर है। साधारणतः इनमें से ग़ालिब को सबसे उत्तम

स्थान दिया जाता है पर कुछ लोग मोमिन की उर्दू ग़ज़लों पर मुग्ध हैं, एक आध ज़ौक़ को सबसे बड़ा कवि मानते हैं।

"मोमिन" का नाम मोमिन खाँ था और पेशा हकीमी। दिल्ली के एक उच्च परिवार में सन् १८०० ई० में पैदा हुए और वहीं शिक्षा प्राप्त की, जिसका आधार साहित्यिक और धार्मिक था। ज्योतिश, गणित और काव्य-रचना में भी निपुण थे। शतरंज से बहुत प्रेम था और संगीत कला से भी परिचित थे। एक खाते पीते परिवार से सम्बन्ध रखने के कारण उनके जीवन में भोग-विलास की कमी न थी, इसी-लिये उन्होंने अपनी कविता को पेट पालने का साधन नहीं बनाया। राज्य-दरबार से दूर रहे और किसी की प्रशंसा में कविताएँ नही लिखीं। एक दफ़ा पटियाला के महाराजा ने उनको एक हथिनी भेंट कीतो उनकी प्रशंसा में एक क़सीदा अवश्य लिखा। कुछ क़सीदे धार्मिक नेताओं की सराहना में भी लिखे हैं। मोमिन ने शृंगार और प्रेम रस में डूबी हुई कुछ मसनवियों की रचना भी की है, जिनमें प्रेम-कहानियाँ बड़ी भावुक तथा कभी-कभी बड़े नग्न ढँग से बयान की गई हैं। कहा जाता है कि युवावस्था में मोमिन प्रेम तरंगों में खूब झूले थे यह उसी का प्रभाव है। अन्त में वह धार्मिक जीवन बिताने लगे थे। सन १८५१ ई० में उनका देहान्त हुआ।

मोमिन की रचनाओं में उर्दू काव्य संग्रह के अतिरिक्त एक फ़ारसी काव्य संग्रह और फ़ारसी गद्य में एक पुस्तक मिलती है। मोमिन की ग़ज़लों ने मोमिन को कवियों में उच्च स्थान दिलाया है। वह प्रेम और उससे सम्बन्ध रखने वाले भावों से भरी हुई हैं और कहा जा सकता है कि उन्होंने इसी सीमित क्षेत्र में मनोभावों को जिन नए-नए ढँगों से प्रस्तुत किया है वह दूसरे कवि नहीं कर सके हैं। उनके भावों और विचारों में सचाई अवश्य है पर गहराई नहीं है। एक दृष्टि से कविता में वह उस परम्परा का पालन करते हैं जिसे जुरअत ने प्रच-लित किया था। इसका अर्थ यह है कि प्रेम के सम्बन्ध में वह भी कहीं-कहीं अशलीलता की ओर झुके हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रेम भावना उनके लिए कामना-पूर्ति की एक साधारण भावना है जिसमें उदारता और पवित्रता नहीं पाई जाती। कहा जाता है कि युवावस्था में उन्हें किसी वेश्या या ऐसी ही बाज़ारू स्त्री से प्रेम हो गया था और उसी का प्रभाव उनकी ग़ज़लों पर मिलता है।

मोमिन की भाषा अधिकतर फ़ारसी मिश्रित है और अलंकारों के प्रयोग के कारण कठिन भी जान पड़ती है। उनकी शैली उर्दू के दूसरे कवियों से विभिन्न है क्योंकि वह मनोभावों के साधारण प्रकटीकरण में कोई ऐसी जटिलता पैदा कर देते हैं कि उसका समझना दुष्कर हो जाता है और कभी-कभी अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ने पर ही अर्थ निकलता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनकी ग़ज़लों में बड़ी सुन्दरता और रस पाया जाता है। उदाहरण के लिए ये शेर देखिए:—

सहर[१] से शाम तक तुझ बिन यही हालत रखी दिल ने।
न मुझ को चैन देता था न आप आराम लेता था॥

न मानूंगा नसीहत,[२] पर न सुनता मैं तो क्या करता।
कि हर हर बात पर नासेह[३] तुम्हारा नाम लेता था॥

× × ×

कुछ क़फ़स[४] में इन दिनों लगता है जी।
आशियाँ[५] अपना हुआ बरबाद क्या?॥

× × ×

जाने दे चारागर[६] शबे-हिज्राँ[७] में मत बुला।
वह क्यों शरीक हो मेरे हाले-तबाह[८] में॥

× × ×

असर उसको ज़रा नहीं होता।
रंज राहत-फ़िज़ा[९] नहीं होता॥

तुम हमारे किसी तरह न हुए।
वर्ना दुनिया में क्या नहीं होता॥

१—प्रातःकाल २—उपदेश ३—उपदेशक, ४—पिंजड़ा, ५—घोंसला, ६—वैद्य, ७—विरह की रात ८—दुर्दशा, ९—सुखदाई

तुम मेरे पास होते हो गोया[1]।
जब कोई दूसरा नहीं होता॥

× × ×

बर्क़[2] का आसान पर है दिमाग़[3]।
फूँक कर मेरे आशियाने को॥

× × ×

यह हालत है तो क्या हासिल बयाँ से।
कहूँ कुछ और कुछ निकले ज़बाँ से॥
वह आए हैं पशीमाँ[4] लाश पर अब।
तुझे ऐ ज़िन्दगी लाऊँ कहाँ से॥

इस युग के प्रसिद्ध कवियों में शैख़ मुहम्मद इब्राहीम "ज़ौक़" भी थे। इनका जन्म सन् १७८९ ई० में हुआ। वह एक ग़रीब सिपाही के पुत्र थे। जिस समय शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उसी समय शेर कहने का शौक़ पैदा हुआ। उन दिनों दिल्ली में शाह नसीर का बहुत बोल-बाला था, ज़ौक़ उन्हीं के शिष्य हो गए। शाह नसीर ने उनका नाम फैलते देखा तो उन्हें इस भय से टालना शुरू किया कि कहीं वह उनसे आगे न बढ़ जाएँ। यह देख कर ज़ौक़ उनसे अलग हो गए और थोड़े ही समय में उनका यश फैल गया, यहाँ तक कि बहादुर शाह "ज़फ़र" ने जो उस समय मुग़ल नरेश के उत्तराधिकारी थे, ज़ौक़ को बुलाकर अपना उस्ताद बना लिया। उस समय ज़ौक़ की आयु केवल २० वर्ष की थी। उसी आयु में उन्होंने बादशाह की प्रशंसा में जो कविता लिखी उस पर उसको "ख़ाक़ानीए-हिन्द" की उपाधि मिली। जब बहादुर शाह बादशाह हुए तो उन्होंने ज़ौक़ को अपने राज्य का कविराए नियुक्त कर दिया और उनकी तनख़ाह जो आरम्भ में केवल चार रुपए थी, १००) रुपए तक पहुँच गई। उन्होंने बहुत से क़सीदे लिखे

१—इसके दो अर्थ हैं : बात करनेवाला और जैसे-कि, २—बिजली,
३—मस्तिष्क ४—लज्जित

ज़िन पर उनको गाँव भी जागीर में मिले और अन्य पुरस्कार भी। १८५४ ई० में उनका देहान्त हो गया।

दिल्ली के बहुत से कवि उनके शिष्य थे जैसे "ज़फ़र", "आज़ाद", "दाग़", "अनवर", "ज़हीर", "मारूफ़" और "वीरान"। वह सदैव दिल्ली ही में रहे, महाराजा चन्दूलाल ने उनको भी हैदराबाद बुलाया था पर वह नहीं गए। उनका प्रसिद्ध शेर है :—

गर्चे है मुल्के-दकन में इन दिनों क़द्रे-सुख़न।
कौन जावे जौक़, पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर॥

ज़ौक़ का केवल एक ही उर्दू काव्य-संग्रह मिलता है जिसमें अधिकतर क़सीदे और ग़ज़लें हैं। सौदा के पश्चात् उनको उर्दू का सबसे बड़ा क़सीदा लिखने वाला समझा जाता है। आलोचकों ने दोनों के क़सीदों की तुलना भी की है पर यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि वह सौदा के बराबर नहीं पहुँचते। ज़ौक़ के अधिकतर क़सीदे बादशाहों की प्रशंसा में हैं और चूँकि वह विद्वान और ज्ञानी पुरुष थे इसलिए उनके क़सीदे उच्च कोटि के जान पड़ते हैं परन्तु केवल निर्बल बादशाहों की प्रशंसा का एक झूठा पोट होने के कारण उनमें अधिक शक्ति नहीं है। फ़ारसी और उर्दू के कई बड़े बड़े कवियों ने क़सीदे ही को काव्य-रचना में निपुणता की कसौटी क़रार दिया है। पर भावनाओं की दृष्टि से क़सीदा काव्य का एक कृत्रिम रूप है। उसमें विचार से विचार पैदा किया जाता है, ऐसी अवस्था में शब्दों के प्रयोग पर बहुत ध्यान देना पड़ता है। क़सीदे में मनोभावों को कोई महत्व प्राप्त नहीं होता, यही कारण है कि क़सीदा लिखने वाले कवियों की ग़ज़ल में भी भावुकता का वह जोश और हार्दिक व्याकुलता का वह चित्रण नहीं पाया जाता जो ग़ज़ल के लिए आवश्यक है।

कई आलोचकों ने ज़ौक़ की भाषा की सरलता, उनके स्वभाव की नम्रता और उनकी प्रतिष्ठा को मिलाकर उन्हें ग़ालिब से भी बड़ा कवि कहा है पर यह विचार ठीक नहीं है। ज़ौक़ की कला बहुत कुछ शब्दाडम्बर और अलंकारों के प्रयोग पर निर्भर है। कविता का मूल तत्व जिसका सम्बन्ध भावनाओं से है, उनके यहाँ बहुत कम

है। उनकी कविता हृदय में धड़कन और गर्मी नहीं पैदा करती पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी समस्त काव्य रचना इसी ढँग की है। वह माने हुए उस्ताद थे, भाषा पर उनका बड़ा अधिकार था, जीवन की साधारण समस्याओं को नैतिक रूप देकर प्रस्तुत करते थे और काव्य-शास्त्र के बहुत बड़े पंडित थे। उनकी अच्छी कविताएँ देखी जाएँ तो ज्ञात होगा कि उनके जीवन की सरलता और सहृदयता उनकी रचनाओं में पाई जाती है। उर्दू भाषा को उसके शुद्ध रूप में देखने वाले ज़ौक़ की रचनाओं में अवश्य आनन्द प्राप्त करेंगे। ज़ौक़ के कुछ शेर यह हैं :—

कहते हैं आज "ज़ौक" जहाँ[1] से गुज़र गया।
हक़[2] मग़फ़िरत[3] करे अजब आज़ाद-मर्द[4] था॥

× × ×

किसी बेकस[5] को ऐ बेदादगर[6] मारा तो क्या मारा।
जो आपी मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा॥

गु क्या शैतान मारा एक सिजदे के न करने से।
अगर लाखों बरस सिजदे में सर मारा तो क्या मारा॥

× × ×

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे।
मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे॥

× × ×

आदमीयत[7] और शै[8] है इल्म[9] है कुछ और चीज़।
कितना तोते को पढ़ाया पर वह हैवाँ[10] ही रहा॥

× × ×

१—संसार, २—ईश्वर, ३—मुक्ति, ४—स्वतंत्र पुरुष, ५—लाचार, ६—अत्याचारी, ७—मानवता, ८—चीज, ९—विद्या, १०—पशु,

किया हमने सलाम ऐ इश्क़ तुझको।
कि अपना हौसला[1] इतना न पाया॥

× × ×

ऐ शमअ[2] ! तेरी उमरे-तबीई[3] है रात भर।
हँस कर गुज़ार, या इसे रोकर गुज़ार दे॥

× × ×

एहसान[4] नाख़ुदा[5] का उठाए मेरी बला।
किश्ती ख़ुदा प छोड़दूँ, लंगर को तोड़ दूँ॥

× × ×

उलफ़त[6] का नशा जब कोई मर जाए तो जाए।
यह दर्दे-सर ऐसा है कि सर जाए तो जाए॥

× × ×

तुम भूल कर भी याद नहीं करते हो कभी।
हम तो तुम्हारी याद मे सब कुछ भुला चुके॥

इसी युग में नहीं, पूरे उर्दू साहित्य के इतिहास में सबसे महान नाम मिर्ज़ा ग़ालिब का माना जाता है। पद्य और गद्य दोनों ही में उन को महानता प्राप्त है। वह फ़ारसी के भी उतने ही बड़े लेखक थे जितने बड़े उर्दू के। उनमें और उनकी कविता में मुग़ल सभ्यता की समस्त अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सिमट आई थीं और वह उसका एक जीता-जागता प्रतीक थे। जिस दृष्टि से भी देखा जाए वह एक प्रतिभाशाली पुरुष और एक महान लेखक थे, यही कारण है कि पुराने और नए सभी आलोचकों ने उन पर बहुत सी पुस्तकें और बहुत से निबन्ध लिखे हैं।

१—साहस, २—दीपक, ३—जीवन-काल, ४—कृतज्ञता, ५—खेवनहार, ६—प्रेम,

ग़ालिब का नाम ख़्वाजा असदुल्लाह था, घर पर मिर्ज़ा नौशः के नाम से पुकारे जाते थे। मुग़ल राज्य की ओर से "नजमुद्दौला", "दबीरुलमुल्क" और "निज़ाम जंग" की उपाधि प्राप्त थी। सन १७९७ ई० में उनका जन्म आगरा में हुआ था। अभी वह केवल पाँच वर्ष के थे कि पिता परलोक सिधारे, वह महाराजा अलवर की सेना में उच्च पदाधिकारी थे। अब ग़ालिब अपने चचा के सँग रहने लगे पर वह भी चार वर्ष बाद मर गए और ग़ालिब अपने ननिहाल में रहने लगे। उनकी आरम्भिक युवावस्था बड़े आनन्द और विलास में बीती। अभी वह केवल १३ वर्ष के थे कि दिल्ली के एक बड़े कुल में विवाह हो गया, जिसके लिए ग़ालिब ने स्वयं लिखा है कि संसार के कारागार में आए अभी १३ वर्ष हुए थे कि पैरों में बेड़ी डाल दी गई। विवाह के बाद वह दिल्ली में रहने लगे। अपने पत्रों में उन्होंने अपने बालपन, आगरे के जीवन, विवाह, अपने कुल, अपनी शिक्षा इत्यादि का वर्णन बड़े रोचक शब्दों में किया है।

ग़ालिब ने कविता लिखना आगरे ही में आरम्भ कर दिया था जिसमें फ़ारसी बहुत होती थी। उन्हें फ़ारसी भाषा से हार्दिक लगाव था और संयोगवश ऐसा हुआ कि ईरान का एक पारसी, अब्दुससमद, आगरे आया और ग़ालिब ने फ़ारसी भाषा की शिक्षा और ज्ञान प्राप्त किया। दिल्ली पहुँच कर उनको वहाँ के उच्च और शिक्षित वर्ग के लोगों में उठने बैठने का अवसर मिला। वह स्वयं तुर्किस्तान के सलजूक़ी बादशाहों के वंश से सम्बन्ध रखते थे और उसकी चर्चा बारबार करते थे। उनका विचार था कि उनकी नसनस में बड़े बड़े सम्राटों और विजई सैनिकों का रक्त दौड़ रहा है इसलिए वह अपने आदर और सम्मान के प्रति केवल काव्य-रचना को आधार नहीं बनाना चाहते थे वरन यह भी प्रगट करते रहते थे कि किसी समय उनका सम्बन्ध उच्च वर्ग से रह चुका है। यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि उन्होंने कितनी शिक्षा प्राप्त की पर उनके लेखों को पढ़कर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन समस्त विद्याओं से भली भाँति परिचित थे जो कई शताब्दियों से मुसलमानों में प्रचलित थीं, इसलिए २१ वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते उन्होंने दिल्ली के कवियों और विद्वानों में अपना स्थान बना लिया।

दिल्ली में ग़ालिब को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा,

सबसे बड़ी कठिनाई आर्थिक संकट थी। उनके चचा की पेन्शन कई नातेदारों में बट गई थी और ग़ालिब को जो भाग मिलना चाहिए था, कई कारणों से वह भी नहीं मिल रहा था। इसके लिए ग़ालिब को ३० वर्ष की आयु में कलकत्ता जाना पड़ा और वहाँ लगभग तीन वर्ष रहकर उन्होंने अपना हक़ प्राप्त करने की चेष्टा की। कलकत्ते की यात्रा उनके लिए बड़ी शिक्षापूर्ण सिद्ध हुई। उन्होंने लखनऊ, बनारस और कलकत्ते के कवियों और लेखकों का परिचय प्राप्त किया। वहाँ के साहित्यिक वाद-विवाद में भाग लिया और कलकत्ते के उस नए जीवन का अनुभव किया जो इस्ट-इन्डिया कम्पनी के बंगाल पर अधिकार प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप पैदा हो रहा था। उस समय के सारे कवियों में केवल एक ग़ालिब ही थे जो जीवन की इस नई धारा से परिचित थे। उसका प्रभाव उनके विचारों पर भी देखा जा सकता है। कलकत्ते में जो नवजागरण पैदा हो रहा था उसको केवल उन्होंने देखा ही नहीं, समझने का प्रयास भी किया। पेन्शन की दृष्टि से उनकी यह यात्रा असफल रही परन्तु उन्हें सारे देश में फैली हुई साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुभव हो गया। सन् १८५० ई० के लगभग वह मुग़ल दरबार में इस काम के लिए नियुक्त किए गए कि मुग़ल वंश का एक इतिहास फ़ारसी भाषा में लिख दें। उसका एक भाग उन्होंने शुद्ध फ़ारसी में लिख भी डाला, जो "मेहरे-नीमरोज़" के नाम से उनके जीवन ही में प्रकाशित भी हो गया था। जब ज़ौक़ की मृत्यु हो गई तो ग़ालिब, बहादुरशाह "ज़फ़र" के उस्ताद भी नियुक्ति हो गए पर दो ही वर्ष के अन्दर वह विद्रोह हो गया जिसको ग़दर कहा जाता है। ग़ालिब के लिए जीवन फिर संकटों से भर गया। घर के अन्दर बन्द रहकर उन्होंने फ़ारसी में अपनी एक डायरी भी लिखी, जिससे उस घटना के बारे में बहुत सी बातें मालूम होती हैं। उस समय ग़ालिब ने जो पत्र अपने शिष्यों और मित्रों को लिखे हैं उनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें भारतवर्ष की उस दुर्दशा पर कितना दुःख था, पर उनसे यह भी जान पड़ता है कि उन्हें सामन्ती युग के मिटने का विश्वास था और मुग़ल राज्य के समाप्त होने का उनको बहुत दुःख नहीं हुआ जैसे उन्हें मालूम हो कि यह दीपक अवश्य ही बुझेगा।

सन् १८५६ ई० में उनका सम्बन्ध रामपुर के राज-दरबार से हो गया और वहाँ से उनको मृत्यु के समय तक सौ रुपया महीना मिलता

रहा जिसमे उन्हें कुछ शान्ति प्राप्त हो गई थी। उनके शिष्य और मित्र भी सहायता करते रहते थे और वह अपनी आवश्यकताओं को उनमे छिपाते भी नहीं थे। ७३ वर्ष की आयु पाकर ग़ालिब फ़रवरी १८६९ ई० में परलोक सिधारे।

मिर्ज़ा ग़ालिब में कुछ विशेषताएँ ऐसी एकत्र हो गई थीं जो बहुत कम लेखकों में मिलती हैं। उनकी बुद्धि की तीव्रता, बात में बात निकालने की शक्ति, उनका हास्यप्रिय स्वभाव, जीवन की कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति, उनके गुण और ज्ञान, सहृदयता, आत्माभिमान और नम्रता, नई बातों को स्वीकार करने की शक्ति, मित्रता का निर्वाह और प्रिय बन जाने का ढंग—यह सारी बातें ऐसी थीं जो उनको महान और लोकप्रिय बनाती थीं। बादशाह से लेकर डाक के हरकारे तक सब उनको भली भाँति जानते थे। उनमें जो त्रुटियाँ थीं वह उन पर पर्दा नहीं डालते थे। शराब पीते थे, धर्म के बाह्य संस्कारों की हंसी उड़ाते थे परन्तु मानवता के प्रेम से उनका हृदय भरा हुआ था। वह मानवजीवन के कोमल भावों, उनके दुःख सुख और उनकी आवश्यकताओं को समझते थे और अपनी कविताओं में जीवन की जटिल समस्याओं को ऐसे सुन्दर रूप से प्रस्तुत करते थे कि पढ़ने या सुनने वाला उसे अपने हृदय में अनुभव करने लगता था। भारतीयों के अतिरिक्त उनकी मित्रता अंगरेज़ों से भी थी और उनमें से कई उनके शिष्य थे। उनकी दृष्टि में संकीर्णता नाम को भी न थी और वह किसी जाति या धर्म के लोगों से भेद-भाव नहीं बरतते थे। उनकी कविताएँ ऐसे ही भावों से भरी हुई हैं।

ग़ालिब की बहुत सी रचनाएँ विद्यमान हैं। इस दृष्टि से उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त है कि उनकी छोटी से छोटी रचनाएँ खोज खोजकर निकाली जा रही हैं और उनके बारे में पुस्तकों पर पुस्तकें और निबन्ध पर निबन्ध लिखे जा रहे हैं। उर्दू में उनका काव्य-संग्रह और पत्रों के कई संग्रहों के अतिरिक्त दो तीन छोटी छोटी पुस्तकें और मिलती हैं। फ़ारसी में गद्य के कई संग्रह और कई पुस्तकें हैं। उन्होंने अपना पहिला उर्दू काव्य-संग्रह केवल २१ वर्ष की आयु में तैय्यार कर लिया था। यहाँ हम केवल उनको एक उर्दू कवि के रूप में देख रहे हैं, नहीं तो बड़े विस्तार में जाना पड़ेगा, जो इस पुस्तक के लिए उचित नहीं।

ग़ालिब की उर्दू कविता कई शैलियों में मिलती है। आरम्भिक

जीवन में उन्हें फ़ारसी भाषा की ऐसी चाट पड़ गई थी कि उन्होंने उर्दू को भी फ़ारसी ही के साँचे में ढाल लिया था। उस समय उनका विचार था कि उर्दू भाषा में इतनी शक्ति नहीं है कि वह जटिल दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत कर सके। उन्होंने एक फ़ारसी शेर में स्वयं कहा है कि यदि कोइ मेरी कविता से आनन्द उठाना चाहता है तो वह मेरी फ़ारसी कविताएँ पढ़े, उर्दू काव्य तो निस्सार और नीरस है। पर ग़ालिब का यह विचार ठीक नहीं सिद्ध हुआ। जिस उत्साह से उनकी उर्दू रचनाएँ पढ़ी जाती हैं फ़ारसी की नहीं पढ़ी जाती। उनका फ़ारसी का यह प्रेम एक और रूप में प्रकट हुआ। उन्होंने उर्दू में भी एक प्रसिद्ध फ़ारसी कवि 'बेदिल" का अनुकरण करने की चेष्टा की। उस समय उनकी कविताओं का बहुत थोड़ा सा भाग साधारण लोगों की समझ में आता था। २५ वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते उन्होंने अपनी शैली में परिवर्तन किया। केवल कल्पनाओं से हटकर वह जीवन की उन समस्याओं की ओर आए जिनका उन्हें वास्तविक अनुभव था। बहुत थोड़े समय में उनकी काव्य रचना में कलात्मक पूर्णता पैदा होगई। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ नवीन होती थीं, उनकी कल्पना शक्ति इतनी प्रबल थी कि वह बेजोड़ वस्तुओं और अनमिल विषयों में समानता और सम्बन्ध ढूँढ़ लेते थे। जितना समय बीतता गया उतना ही ग़ालिब की कविता में दार्शनिक गहराई और कलात्मक सुन्दरता बढ़ती गई।

इसमें सन्देह नही कि वह सर से पाँव तक सामन्ती सभ्यता के रंग में डूबे हुए थे और उसकी अच्छाइयाँ बुराइयाँ सब उनमें भी मौजूद थीं पर उनकी आँखें खुली हुई थीं और निरीक्षण शक्ति से काम लेकर वह जीवन से ऐसी सच्चाइयाँ ढूँढ़ निकालते थे जो दूसरों को नहीं देख पड़ती थीं। बदलती हुई दुनिया को देखकर उन्हें यह विश्वास हो गया था कि यह समय बदल जाएगा, परन्तु इतिहास का कोई दार्शनिक दृष्टिकोण न होने के कारण वह भविष्य-निर्माण के बारे में कुछ नहीं बता सकते थे। वह स्वयं उस पतनशील सभ्यता के एक प्रतीक थे और अत्यन्त सुन्दरता रखने के बावजूद निराशा और भय की एक हल्की सी घटा उन की कविताओं पर छाई हुई थी। उनकी रचनाओं में नैराश्य की भावना कम नहीं है पर वह इस साहस का प्रचार करते थे कि जीवन से उसका सारा रस निचोड़ लेना चाहिए।

जैसा कि कहा जा चुका है उनमें संकीर्णता नाममात्र को भी न थी। धर्म का भेदभाव उनके विचारों में कोई विशेष स्थान नहीं रखता था। वह सहानुभूति और मानव-प्रेम को सबसे बड़ा धर्म समझते थे। उनके यहाँ शैख़ और ब्राह्मण में कोई अन्तर न था। उनका विचार था कि अपने-अपने ढंग से सच्चाई का पथ खोजनेवाले और विश्वासपूर्ण अपने विचारों पर दृढ़ रहनेवाले एक ही होते हैं, चाहे वह किसी धर्म से सम्बन्ध रखते हों। उनके मित्रों और शिष्यों में हिन्दू और ईसाई भी थे जिनसे उन्हें उतना ही प्रेम था जितना मुसलमानों से। मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह धर्म और सभ्यताओं की उन सीमाओं को तोड़ चुके थे जो किसी-न-किसी प्रकार से धार्मिक नैतिकता पर अवलम्बित थीं। इन विचारों को तसौव्वुफ़ का गूढ़ ज्ञान रखने का परिणाम भी कह सकते हैं।

ग़ालिब की काव्य-रचना में कल्पना और दर्शन का ऐसा मेल है कि उनके विचार जटिल और कठिन होते हुए भी हृदय पर तीर की तरह जाकर बैठ जाते हैं। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में अपनी राह अलग निकाली थी। इस दृष्टि से जैसे उनका जीवन एक प्रकार की विचित्रता रखता था उसी प्रकार उनकी रचनाएँ भी नवीनता से भरी हुई थीं। उर्दू में उन्होंने कुछ क़सीदे और अधिकतर ग़ज़लें लिखी हैं। उर्दू क़सीदे ईरानी कवियों के लिखे हुए क़सीदों के ढंग पर लिखे जाते थे और उनकी रीति में परिवर्तन अनुचित समझा जाता था परन्तु ग़ालिब ने अपने क़सीदों में नया रंग पैदा किया और ग़ज़लों में कई प्रकार के प्रयोग करने के बाद अपना मार्ग आप बना लिया जो अनुपम है। उनका उर्दू काव्य-संग्रह बहुत संक्षिप्त है क्योंकि अपने मित्रों की अनुमति से उसमें से वह कविताएँ निकाल दीं जो फ़ारसी मिश्रित होने के कारण बहुत कठिन होगई थीं। इस संग्रह के सम्बन्ध में एक आलोचक ने कहा है कि इसमें मुश्किल से सौ पन्ने होंगे मगर क्या है जो इसमें विद्यमान नहीं है, कौन सा ऐसा राग है जो जीवन के इन तारों में स्पष्ट या गुप्त रूप से मौजूद नहीं है। उनकी विशेषताओं में वास्तविकता, शैली की सुन्दरता, ताज़गी, दार्शनिक गहराई, भावुकता और नवीनता सब इस प्रकार से मिला-जुला हैं कि कोई दूसरा कवि उनके बराबर नहीं लाया जा सकता। इस समय तक उन पर जो कुछ लिखा गया है उसमें से दो एक को छोड़कर सब उनकी

प्रशंसा से भरा हुआ है परन्तु अभी तक बहुत कम आलोचकों ने उनको सामन्ती सभ्यता के पतन का विश्लेषण करनेवाले कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। जीवन को उल्लास और विलास के साथ व्यतीत करने की इच्छा उनमें प्रबल थी पर वह युग उसमें बाधक था इसलिए व्यक्तित्व और पतनशील समाज के संघर्ष के बड़े सुन्दर चित्र उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। यह ठीक है कि उनकी कविता कोई दार्शनिक आदर्श नहीं प्रस्तुत करती पर जीवन की प्रबलता, महानता और सुन्दरता के गीत गाकर जीवन से प्रेम करना अवश्य सिखाती है। इसलिए कोई व्यक्ति भी जो जीवन की गहराइयों को समझना और उनमें प्रवेश करना चाहता है उसे ग़ालिब की कविता में बहुत कुछ मिलेगा। उदाहरण के लिए उनके कुछ शेर लिखे जाते हैं :—

ये न थी हमारी क़िस्मत जो विसाले-यार[1] होता।
अगर और जीते रहते यही इनतिज़ार होता॥
यह कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह[2]।
कोई चारा-साज़[3] होता कोई ग़म-गुसार[4] होता॥

× × ×

किससे महरूमिए-क़िस्मत[5] की शिकायत कीजे।
हमने चाहा था कि मर जाएँ सो वह भी न हुआ॥

× × ×

ज़िन्दगी यूँ भी गुज़र ही जाती।
क्यों तेरा राहगुज़र[6] याद आया॥
कोई वीरानी[7] सी वीरानी है।
दश्त[8] को देख के घर याद आया॥

× × ×

१—प्रेमिका से मिलन, २—उपदेशक, ३—चिकित्सा करने वाला, ४—दुःख का साथी, ५—दुर्भाग्य, ६—पथ, ७—उजाड़पन, ८—मरुभूमि

वह आए घर में हमारे ख़ुदा की क़ुदरत[1] है।
कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं॥
नज़र लगे न कहीं उनके दस्तो-बाज़ू[2] को।
ये लोग क्यों मेरे ज़ख़्मे-जिगर[3] को देखते हैं॥

× × ×

नींद उसकी है, दिमाग उसका है, रातें उसकी हैं।
तेरी ज़ुलफें जिसके बाज़ू पर परीशाँ[4] हो गई॥
रंज से ख़ूगर[5] हुआ इन्साँ तो मिट जाता है रँज।
मुशकिलें इतनी पड़ीं मुझपर कि आसाँ हो गईं॥

× × ×

इस सादगी प कौन मर जाए ऐ ख़ुदा।
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं॥
मिलना अगर नहीं तेरा आसाँ तो सहल है।
दुश्वार[6] तो यही है कि दुश्वार भी नहीं॥

× × ×

क़ैदे-हयातो-बन्दे-गम[7] अस्ल[8] में दोनों एक हैं।
मौत से पहिले आदमी गम से नजात[9] पाए क्यों॥

× × ×

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब!।
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे॥

× × ×

पूछते हैं वह कि ग़ालिब कौन है?।
कोई बतलाओ कि हम बतलाएँ क्या॥

× ×

१—ईश्वर की लीला, २—हाथ और बाँह, ३—हृदय का घाव, ४—बिखर जाना, ५ अभ्यस्त, ६—दुष्कर ७—जीवन की क़ैद और दुःख की क़ैद, ८—वास्तव, ९—मुक्ति

गो हाथ को जुम्बिश[1] नहीं आँखों में तो दम[2] है।
रहने दो अभी साग़रो-मीना[3] मेरे आगे॥

× × ×

हमको मालूम है जन्नत[4] की हक़ीकत लेकिन।
दिल के खुश रखने को गालिब ये ख्याल अच्छा है॥

× × ×

हज़ारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश प दम निकले।
बहुत तिकले मेरे अरमान[5] लेकिन फिर भी कम निकले॥

ग़ालिब इस युग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं पर दूसरे कवियों ने भी जीवन के इन्हीं दुःखों का उल्लेख किया है जिनका एक मिटती हुई सभ्यता दान करती है। विशाल मुग़ल परिवार के अन्तिम दिन आ चुके थे और आख़री बादशाह बहादुर शाह "ज़फ़र" का राज्यकाल था, उस समय कुछ बड़े कवियों ने अपनी रचनाओं से यह सिद्ध कर दिया कि एक पुरानी और उच्च कोटि की सभ्यता का दीप बुझते बुझते भी अपनी अन्तिम प्रभा दिखा जाता है। बहादुरशाह का जीवन एक नाम-मात्र बादशाह का जीवन था, बादशाहत की प्रतिभा खोकर उन्होंने काव्य-संसार में अपने लिए एक ऊँचा स्थान बना लिया और एक असफल बादशाह होते हुए वह एक सफल कवि बन गए। युवावस्था में ही उन्होंने कविता में नाम पैदा कर लिया था। बारी बारी से शाह नसीर, ज़ौक़ और ग़ालिब को उन्होंने उस्ताद बनाया। सन् १८५७ ई० के विद्रोह में उन्होंने राज्य से हाथ धोया और एक बन्दी बन कर अपने जीवन के अन्तिम दिन रंगून में बिताए और वहीं १८६८ में उनका देहान्त हुआ।

१—हिलाने की शक्ति, २—जान, ३—प्याला और बोतल, ४—स्वर्ग, ५—इच्छाएँ

ज़फ़र के चार काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं, कहा जाता है कि पाँचवाँ संग्रह ग़दर में नष्ट हो गया। कुछ आलोचकों का विचार है कि वह स्वयं कविताएँ नहीं लिखते थे बल्कि ज़ौक़ उनके लिए लिख दिया करते थे पर यह बात कुछ बहुत ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि उनकी कविताओं में दुःख और करुणा की जो अनन्त भावना पाई जाती हैं वह उनके आत्म-जीवन की कथा प्रतीत होती हैं। ज़फ़र बड़ी शीघ्रता से कविताएँ लिखते थे और कठिन से कठिन मात्रिक और वार्णिक छन्दों में गतिपूर्ण रचनाएँ कर सकते थे। उनकी विचारधारा वैसे तो पुरानी रीति पर चलती है पर जहाँ कहीं वह स्वयं अपनी दशा दिखाते हैं वहाँ वही भावुकता और सच्चाई पाई जाती है जो एक अच्छे कवि की विशेषता है। तसौव्वुफ़ और नैतिक आदर्शों के अतिरिक्त शृंगार रस से भी उनके संग्रह भरे हुए हैं। उन्होंने कुछ धार्मिक कविताएँ भी लिखी हैं पर उनको जो कुछ मान प्राप्त है वह एक ग़ज़ल के कवि होने के नाते।

ज़फ़र की भाषा दिल्ली की बोलचाल की शुद्ध भाषा थी। वह हिन्दी शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से करते थे और हिन्दी में गीत और ठुमरियाँ सँगीत कला के अनुसार रचते थे। उनकी कविता में उपदेश, संसार के त्याग की भावना और जीवन का तुच्छ होना भी मिलता है। अगर्चे वह प्रथम श्रेणी के कवि नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके यहाँ कोई नवीनता या दार्शनिक गहराई नहीं है, परन्तु उनकी काव्य-रचना का एक बड़ा भाग उनके जीवन का चित्र होने के कारण वास्तविक भावनाओं से भरा हुआ है। उनके कुछ शेर देखिएः—

न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का क़रार हूँ।
जो किसी के काम न आसके, मैं वह एक मुश्ते-ग़ुबार[1] हूँ॥
पए-फ़ातिहा[2] कोई आए क्यों, कोई चार फूल चढ़ाए क्यों।
कोई शमअ लाके जलाए क्यों, मैं तो बेकसी[3] का मज़ार[4] हूँ॥
न ज़फर किसी का हबीब[5] हूँ, न ज़फ़र किसी का रक़ीब[6] हूँ।
जो बिगड़ गया वह नसीब हूँ, जो उजड़ गया वह दयार[7] हूँ॥

१—मुट्ठी भर मिट्टी। २—समाधि पर श्रद्धांजली भेंट करने के लिए, ३—जिसका कोई नहीं ४—समाधि, ५ - मित्र ६—प्रतिद्वन्दी, ७—बस्ती

ठंढी ठंढी जो कोई साँस है आती जाती।
दिल में है आग मेरे और लगाती जाती॥

इस युग में दिल्ली की मरती हुई आत्मा जाग उठी थी और असंख्य कवि शोकमय सुरों में अपने गीत गा रहे थे। इन कवियों की आवाज़ में समय की आवाज़ भी सुनी जा सकती है। मुग़ल राज्य जो एक प्रतीक के समान लोगों के हृदय में अपना स्थान बनाए हुए था वह भी मिट गया था मगर जो कवि देश की बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक स्थिति को नहीं समझ सके थे वे अपना ही राग अलापे जारहे थे। इस अध्याय में दिल्ली के केवल उन कवियों का उल्लेख हुआ है जो किसी-न-किसी दृष्टि से उर्दू साहित्य के अनमोल रत्नों में गिने जाते थे और बड़ा ऊँचा स्थान रखते थे। ये कवि एक ओर तो उन परम्पराओं का पालन करते थे जो दिल्ली में लगभग डेढ़ सौ वर्षों से प्रचलित थी, दूसरी ओर उनमें एक विशेष प्रकार की नवीनता थी जो उनको प्राचीन कवियों से अलग करती है। उनके हाथों में उर्दू भाषा मँजकर शुद्ध, साफ़ और सुडौल हो गई थी। विषयों की व्यापकता बढ़ गई थी और ग़ज़ल मोमिन और ग़ालिब के हाथों में पहुँच कर हार्दिक भावों और मानसिक अनुभवों का जीता-जागता दर्पण बन गई थी। दिल्ली के यह कवि लखनऊ की भाषा-सम्बन्धी क्रान्ति से प्रभावित हुए थे और जो आलोचक भी दोनों स्थानों के समकालीन कवियों का एक साथ अध्ययन करेगा उसे इस प्रभाव का अनुमान लगाना कठिन न होगा।

सारांश यह कि जो दीप दिल्ली में सौदा, दर्द और मीर ने जलाया था उसे इस युग के कवियों ने और दिव्य कर दिया। विशेष कर ग़ालिब ने जीवन की बुझती हुई राख को कुरेद कर ऐसी चिनगारियाँ निकालीं जिनमें ज्वाला की गरमी और प्रकाश देखा जा सकता है। उनके मधुर रागों में एक ऐसी करुणा का अनुभव होता है जो एक नाश होती हुई संस्कृति ही प्रदान कर सकती थी।

अध्याय ७

उर्दू गद्य का विकास

पिछले अध्यायों में उर्दू भाषा के प्रारम्भिक साहित्य का परिचय दिया जा चुका है और दकिनी उर्दू में उसके विकास की खोज करते हुए हम देख चुके हैं कि वहाँ कई महत्वपूर्ण रचनाएँ हुईं जिनमें अधिकतर धार्मिक और सूफ़ियाना थीं। साहित्यिक दृष्टि से उनमें केवल दो ही चार कुछ महत्व रखती हैं। सूफ़ी फ़क़ीरों के बोल और कथन के अतिरिक्त छोटे-छोटे लेखों का पता पुराने फ़ारसी इतिहासों और सूफ़ी मत के ग्रंथों में मिलता है जिनका आरम्भ तेरहवीं शताब्दी से हो चुका था पर पहिली पुस्तक जिसका वर्णन किया जा चुका है, स० गेसूदराज़ (मृ० १४२१ ई०) की "मेराजुल-आशिक़ीन" ही मानी जाती है। कुछ लेखक इससे पहिले की किताबों का पता भी देते हैं, जैसे शैख़ ऐनुद्दीन गंजुलइल्म के रिसाले या स० मख़दूम अशरफ़ जहाँगीर किछौछवी की एक पुस्तक। पर इनके सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से कुछ कहना कठिन है।

गेसूदराज़ के दो सौ वर्ष बाद तक किसी महत्वपूर्ण गद्य-रचना का चिन्ह नहीं मिलता। यहाँ महत्वपूर्ण का शब्द चेतनापूर्वक लिखा गया है क्योंकि बीच में मीरानजी और बुरहानुद्दीन जानम इत्यादि की कई रचनाएँ मिलती हैं परन्तु ऐसी किताब जिसे साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कहा जा सके मुल्ला वजही की 'सबरस' है जो १६३५ में लिखी गई। यह एक महान रचना है जो एक प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक पर आधारित होते हुए भी बिल्कुल नई कही जा सकती है क्योंकि लेखक ने बहुत ही गूढ़ दार्शनिक समस्याओं को साहित्यिक भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि आश्चर्य होता है। गद्य की जिस शैली में

यह रचना की गई है हम उसको तुकान्तिक गद्य कह सकते हैं। इसमें प्रेम और सौन्दर्य, बुद्धि और हृदय को प्रतीक बनाकर जीवन के सभी नैतिक विषयों पर एक रहस्यमय कथा में प्रकाश डाला गया है। वास्तव में यह एक सूफ़ियाना पुस्तक है परन्तु भाषा-विज्ञान और साहित्य की दृष्टि से इसको आज भी प्रथम श्रेणी की पुस्तकों में गिना जाएगा। वजही ने अपनी पुस्तक में कहीं भी इस बात की ओर संकेत नहीं किया है कि उसने यह कहानी कहाँ से ली है बल्कि आरम्भ में यह लिखा है कि मैं ही इसका आविष्कारक हूँ। उसने बड़े गर्व से यह लिखा है कि :—

"आज लगन (तक) कोई इस जहान में, हिन्दुस्तान में हिन्दी ज़बान में इस लताफ़त, इस छन्दों सों नज्म हौर नस्र मिलाकर, गुलाकर नहीं बोल्या"

और इस दृष्टि से उसका यह दावा कुछ ऐसा ग़लत भी नहीं है कि ऐसी कलात्मक और सुन्दर भाषा में इससे पहिले उर्दू या हिन्दी गद्य में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई। बाईस वर्ष हुए 'सबरस' प्रकाशित हो चुकी है।

दक्षिण में उर्दू साहित्य के विकास में जो बातें सहायक हुईं उनका उल्लेख दूसरे अध्याय में किया जा चुका है परन्तु वह गद्य की उन्नति का युग ही नहीं था इसलिये पद्य की रचनाओं के मुक़ाबिले में गद्य रचनाएं बहुत कम हैं। अच्छे गद्य का विकास संसार के हर साहित्य में उस समय होता है जब जीवन प्रगति का कुछ मार्ग तै कर लेता है। वजही के बाद उस समय तक भी दक्षिण में गद्य रचनाएं की जाती रहीं जब तक कि औरंगज़ेब ने १६८७ ई० में भारतवर्ष के उस भाग को अपने राज्य-क्षेत्र में मिला नहीं लिया। इस बीच में अधिकतर धार्मिक पुस्तकें लिखी गईं, क्योंकि धर्म उस जीवन का बड़ा अंश होता है जिसको वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के अवसर प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि आरम्भ में विजयानगर के प्रबल हिन्दू राज्य के सन्मुख अपना गौरव और महत्व सिद्ध करने और आत्मिक दृष्टि से अपने को दृढ़ बनाने के लिये धर्म का सहारा लेना आवश्यक मालूम हुआ हो। पर ऐसा नहीं है कि दूसरे विषयों पर पुस्तकें लिखी ही नहीं गईं। 'तूतीनामा' के नाम से पंचतन्त्र और हितोपदेश की प्रसिद्ध कहानियों को दक्षिणी उर्दू में परिवर्तित किया

गया। यह कहानियां फ़ारसी अनुवादों पर आधारित थीं। इनकी भाषा भी "सबरस" की भांति दक्षिणी उर्दू है पर वैसी सुन्दर नहीं है।

१८वीं शताब्दी में जब भारतवर्ष का बड़ा भाग एक होकर फिर टुकड़े-टुकड़े हो गया तो दक्षिण में अरकाट, मैसूर और हैदराबाद के राज्य स्थापित हुए और दक्षिणी उर्दू की पुरानी परम्पराओं के कारण अरकाट, मदरास और मैसूर में उर्दू फैली। यही नहीं, बल्कि मराठी भाषा पर उर्दू ही के द्वारा फ़ारसी का प्रभाव पड़ा जो इस समय तक बाक़ी है। यही समय था कि उत्तरी भारत में भी उर्दू साहित्य की जड़ें फैल रही थीं। पिछले अध्यायों में उसके विकास और उन्नति का वर्णन हम कर चुके हैं, यहाँ केवल गद्य रचना की प्रगति को देखना है।

भाषा वैज्ञानिकों ने दिल्ली के आसपास की उर्दू भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि बोलचाल के लिए यह भाषा एक प्रगतिशील रूप में प्रचलित थी और बहुत पहिले ही से आपस के व्यवहार में बहुत सी ऐसी कहावतें, मुहावरे और वाक्य पैदा हो गए थे जो जनता से उसके सम्बन्ध का पता देते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरणमीर जाफ़र "ज़टल" की कविताओं और गद्य के छोटे-छोटे टुकड़ों में मिलता है। ज़टल केवल हास्य-रस और मनोरंजन से काम नहीं लेते थे बल्कि अश्लील और निर्लज्ज भावों के प्रगट करने में भी नहीं सकुचते थे। किसी की प्रशंसा करते थे किसी की निन्दा। ज़टल औरंगज़ेब और बहादुरशाह प्रथम के युग के कवि हैं। फ़ारसी और बोलचाल की मिली जुली भाषा में वह अपनी कविताएँ और लेख लिखते थे। उनकी रचनाओं के गहरे विवेचन से उस युग की दुर्दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। वह बादशाह से लेकर सेना तक किसी का भय नहीं करते थे और जो कहना चाहते थे कह डालते थे। भाषा का अध्ययन करने वालों के लिये उनके लेखों और कविताओं का पाठ बहुत लाभदायक होगा। ज़टल की रचनाओं का संग्रह कई बार प्रकाशित हो चुका है लेकिन अपनी अश्लीलता के कारण बहुत कम पढ़ा जाता है और साहित्य के इतिहासकार भी उसका नाम नहीं लेते।

उर्दू साहित्य के प्रचलित इतिहासों में उर्दू गद्य का आरम्भ भी मुहम्मद शाही युग (१७१६-१७४८) से माना जाता है और सबसे पहिली पुस्तक "फ़ज़ली" की "करबल कथा" या "दह मजलिस" समझी जाती है। फ़ज़ली का नाम फ़ज़ल अली था, उन्होंने अपना

यह ग्रन्थ १७३१ ई० में तैय्यार किया, फिर स्वयं १७४७ ई० में उसमें संशोधन किए। मुल्ला हुसैन वाइज़ काशिफ़ी की लिखी हुई एक प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक "रौज़तुशशुहदा" धार्मिक सभाओं में बहुत पढ़ी जाती थी पर फ़ारसी में होने के कारण बहुत से लोगों की समझ में नहीं आती थी, इसलिये फ़ज़ली ने उसे उर्दू में परिवर्तित कर लिया। इसमें करबला की करुणाजनक घटना और इमाम हुसैन का बयान ऐतिहासिक और शोक-पूर्ण रूप में किया गया है। दुर्भाग्य से यह पुस्तक अब नहीं मिलती पर इसके कुछ उदाहरण और विशेषकर इसकी भूमिका अन्य ग्रन्थों में मिल जाती है जिससे पता चलता है कि फ़ज़ली उस समय तक उर्दू गद्य की किसी रचना से परिचित न थे। वह अपनी रचना को प्रथम रचना समझते थे। उन्होंने जिस भाषा में अपनी रचना रची है उसको हिन्दी कहा है। कुछ लोगों ने यह संदेह प्रगट किया है कि फ़ज़ली भी दक्षिण के रहने वाले थे क्योंकि एक आध मुहावरे उनके यहाँ भी वही मिलते हैं जो दक्षिणी उर्दू में पाए जाते थे। यह कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं कहा जा सकता। उनकी शैली दक्षिणी लेखकों की शैली से विभिन्न है। अगर वह दक्षिणी होते तो उन्हें वहाँ की रचनाओं और अनुवादों का ज्ञान अवश्य होता। फ़ज़ली की भाषा में फ़ारसी अरबी के शब्द बहुत आते हैं, इसका कारण यह हो सकता है कि एक धार्मिक ग्रन्थ में उन शब्दों का प्रयोग अनिवार्य था जिनको उसके पाठक जानते रहे होंगे। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है उत्तरी भारत में जो उर्दू विकासित हो रही थी वह दिल्ली से निकट होने और ईरानी भाषा और साहित्य से प्रभावित होने के कारण आसानी से फ़ारसी अरबी शब्दों को स्वीकार कर लेती थी क्योंकि सिकन्दर लोदी और टोडरमल की आज्ञानुसार सरकारी कर्मचारियों का फ़ारसी जानना आवश्यक था। इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रभाव बोल-चाल की भाषा पर पड़ा होगा।

शाही और जागीरदारी जीवन में कविता को जो महत्ता प्राप्त होती है वह गद्य को नहीं होती, फिर समय भी वह था जो पतन की ओर अग्रसर था। उदार विचारों का युग समाप्त हो चुका था और अगर कोई कभी किसी गंभीर विषय पर कुछ लिखना भी चाहता था तो फ़ारसी में लिखता। फिर भी उर्दू साधारण जीवन में अपनी जगह बनाती और आवश्यकताओं के प्रगट करने में अपना काम करती

रही। मिर्ज़ा सौदा ने जब अपना मरसियों का संग्रह तैय्यार किया तो उस पर उर्दू में एक भूमिका लिखी। उनकी गद्य रचना का यह नमूना उनके संग्रह के साथ बारमबार प्रकाशित हो चुका है। इस में फ़ारसी अरबी के शब्द बहुत हैं और फ़ारसी गद्य के अनुसरण में इसकी गद्य भी तुकान्तिक है। सौदा ने मीर तक़ी मीर की एक सुविख्यात मसनवी "शोलए-इश्क़" को भी पद्य से गद्य में परिवर्तित किया पर अब वह हस्तलिखित रूप में भी नहीं मिलती। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कहानी लिखते समय सौदा किस प्रकार की गद्य रचना करते थे।

१८ वीं शताब्दी के अन्त से कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में "क़ुरान शरीफ़" के दो अनुवाद हुए। शाह रफ़ीउद्दीन और शाह अब्दुल क़ादिर दिल्ली के एक प्रसिद्ध विद्वान् और धार्मिक नेता शाह वलीउल्लाह के पुत्र थे और अपने पिता की भाँति धर्म प्रचार में लगे हुए थे। शाह रफ़ीउद्दीन ने क़ुरान का अनुवाद १७८६ ई० में और शाह अब्दुल क़ादिर ने १७९० में किया। इन अनुवादों का उद्देश इसके सिवा और कुछ न था कि जो लोग अरबी नहीं जानते वे भी इसका पाठ ज्ञान-पूर्वक कर सकें। दोनों अनुवादों की भाषा ऐसी है जिसे बहुत सरल नहीं कह सकते। परन्तु यह आरम्भिक प्रयत्न थे और इन का महत्व साहित्यिक से अधिक ऐतिहासिक है। बाद में क़ुरान शरीफ़ के बहुत से अच्छे-अच्छे अनुवाद उर्दू में हुए जिनको उर्दू साहित्य में भी ऊँचा स्थान दिया जाता है।

इस प्रकार की धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त १७७५ ई० के लगभग एक फ़ारसी कथा-ग्रन्थ का अनुवाद मीर अता हुसैन "तहसीन" ने किया जिसे उस युग की महान् रचनाओं में गिना जाता है। ग्रन्थ का नाम "नौ-तर्जे-मुरस्सा" है और फ़ारसी के "क़िस्सए-चार दरवेश" से उर्दू में परिवर्तित किया गया है। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के लेखक अमीर ख़ुसरौ थे पर यह बात निश्चयात्मक रूप से नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिन विद्वानों ने अमीर ख़ुसरौ की रचनाओं का गवेषणात्मक अध्ययन किया है उनको इस नाम की कोई पुस्तक अमीर ख़ुसरौ के यहाँ नहीं मिली। परन्तु यह आश्चर्य-जनक बात है कि यह चिरकाल से उन्हीं के नाम से संबन्धित रही है। तहसीन इटावा के रहने वाले थे। एक अंगरेज़ी फ़ौजी अफ़सर के मीर मुन्शी थे, उसके संग कलकत्ते में रहे। जब वह अपने देश चला गया तो तहसीन पटना होते हुए फ़ैज़ाबाद

पहुँचे और वहाँ नौव्वाब शुजाउद्दौला के दरबार से उनका सम्बन्ध हो गया।

तहसीन फ़ारसी अच्छी जानते थे और फ़ारसी में कई पुस्तकें लिख भी चुके थे पर वह उर्दू साहित्य के इतिहास में अपने इसी अनुवाद के कारण जीवित हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ। "नौ-तर्ज़े-मुरस्सा" की शैली कठिन फ़ारसी अरबी शब्दों से भरी हुई है। अलंकारों का इतना प्रयोग किया गया है कि साधारण बोल-चाल की भाषा का जानने वाला उसे समझ नहीं सकता। कहीं-कहीं तो वाक्य के वाक्य फ़ारसी हैं केवल क्रिया के रूप में आने वाले शब्दों का अनुवाद कर दिया गया है। पूरी पुस्तक तो नहीं परन्तु इसका अधिकांश इसी विचित्र शैली में लिखा गया है।

१८ वीं शताब्दी का अन्त होते-होते भारतवर्ष के इतिहास की रूपरेखा बहुत कुछ बदल चुकी थी। मुग़ल राज्य की दुर्बलता के कारण उसके खंडहर पर नई शक्तियाँ अपने राज-महल खड़े कर रही थीं, पर सब की सब जागीरदारी के आर्थिक नियमों पर निर्भर थीं। एक विदेशी शक्ति अलबत्ता व्यापार की राह से भारतवर्ष पर छाई जा रही थी। उसके प्रवेश ने नई आर्थिक समस्याएँ पैदा कर के जीवन में नया संकट और विचारों में नई धाराएँ पैदा कर दी थीं। उनकी राजनैतिक चालों के सम्मुख यहाँ के दुर्बल और भ्रष्ट राजा और अमीर ठहर न सके। व्यापार की ओट में ब्रिटिश राज के उभारे हुए पूँजीपतियों ने वह जाल बिछाया जिसमें केवल भारतवर्ष की सँपत्ति ही फँस कर नहीं रह गई बल्कि यहाँ का जीवन भी अपने केन्द्र से हट गया। उन्होंने कुछ ऐसा जादू किया कि यहाँ सँगठन की भावना मर गई। देश में अली वर्दी खाँ, शुजाउद्दौला, हैदरअली, मराठे, निज़ाम, मुग़ल, राजपूत और सिख सभी थे परन्तु यह कभी मिल न सके, एक दूसरे के विरुद्ध लड़कर दुर्बल हो गए या अँगरेज़ों ने उन्हें परास्त करके तबाह कर दिया और अभी १८ वीं शताब्दी का अन्त भी नहीं हुआ था कि बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई और दक्षिणी भारत के कुछ भाग, सब किसी-न-किसी रूप से उनके अधीन हो गए। जो भाग नाम-मात्र स्वतन्त्र थे वह भी किसी न किसी प्रकार उनके आश्रय में थे। सच यह है कि दुर्बल होते हुए सामंती ढाँचे को नई, और एक दृष्टि से प्रगतिशील, जीवन-नीति के सम्मुख सर झुकाना ही था।

जब अंग्रेज़ों ने अपना राज्य यहाँ स्थापित कर लिया तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी उन्होंने हाथ डालना आरम्भ किया। अगर उनकी शिक्षा-सम्बन्धी नीति का गहरा अध्ययन किया जाए तो मालूम होगा कि राजनीति के यन्त्र को अधिक उपयोगी बनाने के लिये उन्होंने विशेष रूप से शिक्षा पर विचार किया। इसी के साथ-साथ कुछ ज्ञानात्मक और कुछ राजनीतिक दृष्टि से यहाँ की भाषाओं पर भी ध्यान दिया। जब ईस्ट-इन्डिया कम्पनी की स्थापना हुई और कुछ समय बीतने के बाद उनका प्रभाव-क्षेत्र भी बढ़ गया तो उन्होंने भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति पर भी विचार किया परन्तु इस पर दृढ़ रहे कि यहाँ के अन्य धर्मों और धार्मिक व्यवहारों में हस्तक्षेप न किया जाए। मगर यह नीति बहुत दिनों तक न चली और १६ वीं शताब्दी में ईसाई धर्म-प्रचारकों को केवल इसी बात की स्वाधीनता प्राप्त नहीं हुई कि वह अपने धर्म का प्रचार करें बल्कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने और मसीही हो जाने पर उनको लाभ पहुँचाने की नीति पर चलना भी एक साधारण बात हो गई। इस सम्बन्ध में योरुप के कुछ लेखकों और विद्वानों ने भी उर्दू की ओर ध्यान दिया। योरप और भारत के आर्थिक और सांस्कृतिक सम्पर्क का उल्लेख दूसरे अवसर पर किया जाएगा, यहाँ केवल इतना ही देखना है कि उर्दू की उन्नति के सिलसिले में उनसे कितनी और किस प्रकार की सहायता मिली और इस सहायता का मुख्य उद्देश्य भाषा की ज्ञानात्मक सेवा था या राजनीतिक चाल!

सबसे पहिले एक डच लेखक जोशुआ केटलर ने १७१५ ई० में हिन्दुस्तानी की एक व्याकरण लिखी। यह पुस्तक लैटिन भाषा में है परन्तु इसमें कुछ उदाहरण ऐसे भी दिये गए हैं जो उर्दू में हैं। केटलर डच ईस्ट-इन्डिया कम्पनी के कर्मचारी होने के नाते सूरत, लाहौर, दिल्ली और आगरा में रहा; इसलिये उसे उर्दू भाषा का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। पर साधारणतः अब यह किताब नहीं मिलती इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार कई और योरप-निवासियों ने व्याकरण और शब्द-कोश इत्यादि की रचनाएँ कीं जिनका उद्देश्य उस भाषा को सीखना था जो सारे देश में सामान्य रूप से समझी जाती थी। पादरी बेन्जिमन शुल्ज़ ने १७४४ में एक और व्याकरण लिखी और १७४८ ई० में

बाइबिल का अनुवाद उर्दू में किया। अन्य लेखकों ने उर्दू अक्षरों और लिपि पर छोटे-छोटे लेख लिखे। इस सम्बन्ध में मिल, फ़िट्ज़, बेली-गाटो, हेडले और डफ़ के नाम लिए जा सकते हैं, परन्तु सबसे महत्व-पूर्ण नाम डाक्टर जान गिलकराइस्ट का है। उन्होंने सन् १७८७ ई० से उर्दू के बारे में लिखना आरम्भ किया और यह सिलसिला लगभग बीस वर्ष तक चलता रहा। हिन्दुस्तानी भाषा के जानकार के रूप में उनका यश इतना फैल गया था कि जब कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालिज स्थापित हुआ तो वही उसके प्रथम मुखाध्यक्ष नियुक्त किए गए और उनकी देख-रेख में उर्दू के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए, जिनका सविस्तार वर्णन आगे आएगा।

गिलकराइस्ट, ईस्ट-इन्डिया कम्पनी में एक कर्मचारी थे। भारत पहुँचकर उनको हिन्दुस्तानी भाषा से दिलचस्पी पैदा हो गई और उन्होंने बोलचाल, व्याकरण, शब्द-कोश इत्यादि पर अंग्रेज़ी और उर्दू में कई पुस्तकें लिखीं। १८०४ ई० में वह अपने देश को लौट गए और वहाँ कम्पनी के उन कर्मचारियों को उर्दू सिखाने लगे जो यहाँ भेजे जाते थे। जब लन्दन में ओरियन्टल इन्सटीटियूट स्थापित हुआ तो गिलकराइस्ट उसमें उर्दू के अध्यापक नियुक्त किये गए। इस शिक्षालय के बन्द हो जाने के पश्चात् भी वह लोगों को उर्दू पढ़ाते रहे। उनका देहान्त १८४१ ई० में पेरिस में हुआ। गिलकराइस्ट ने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनकी संख्या एक दर्जन तक पहुँचती है पर उनमें महत्व कुछ ही को प्राप्त है, जैसे, "अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानी डिकशनरी" (१७९३ ई०), "हिन्दुस्तानी ग्रामर" (१७९६ ई०), "ओरियनटल लिंगुइस्ट" (१७९८ ई०), "क़ससे-मशरिक़ी" (१८०३ ई०), "रहनुमाए-ज़बाने-उर्दू (१८०४ ई०), "क़वाइदे-उर्दू" (१८०९ ई०) और "अंग्रेज़ी बोलचाल" (१८२० ई०)। १९ वीं शती में और बहुत से अंग्रेज़ों ने भाषा पर काम किया और ऐसे शब्दकोश तैय्यार किये जो आज भी महत्व रखते हैं। इस सम्बन्ध में टेलर, रोबेक, शैक्सपियर, फ़ार्ब्स और फ़ेलन के नाम उल्लेखनीय और आदरणीय हैं। जो विद्वान भी हिन्दुस्तानी भाषा के शब्दकोश पर काम करेगा उसे इन लेखकों की कीर्ति से बड़ी सहायता मिलेगी। इनमें फ़ेलन ने चार शब्दकोश तैय्यार किए। इस काम में उनके सहायक लाला फ़क़ीर चन्द, लाला चिरंजी-लाल, ठाकुरदास, लाला जगन्नाथ और मिस्टर बाटलिंग थे। फ़ेलन

ने दिल्ली-निवासी मोलवी करीमुद्दीन के साथ मिलकर कवियों का एक तज़किरा भी लिखा जिसका अधिकतर भाग फ़ान्सीसी विद्वान गर्सां द-तासी की फ्रांसीसी रचना पर आधारित था। इस प्रकार बहुत से योरोपियन विद्वानों और लेखकों ने उर्दू को भारत की राष्ट्रभाषा और उसके साहित्य को मनोरंजक समझ कर उसमें रचनाएँ कीं।

१६ वीं शताब्दी आने से पहिले ही भारतवर्ष के बड़े भाग पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व की छाया मँडलाने लगी थी। क्लाइव की चालबाज़ी से मुग़ल सम्राट शाहआलम ने बंगाल और बिहार का भूमि-कर एकत्र करने का अधिकार ईस्ट-इन्डिया कम्पनी को सौंप दिया था और उनके लिए आवश्यक हो गया था कि वह यहाँ की भाषाएँ सीखें जिससे कि उन्हें राज करने में सुविधा हो। जो अंग्रेज़ी कम्पनी के कर्मचारी होकर आते उनके लिये हिन्दुस्तानी भाषा के सीखने का कोई उचित प्रबन्ध नहीं था। लार्ड वेलज़ली ने कम्पनी के डाइरेक्टों से आज्ञा लेकर ४ मई सन् १८०० ई० को कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालिज का उद्घाटन किया। इस कालिज का उद्देश यह था कि नए अँग्रेज़ी कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाए। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल उर्दू से है इसलिये उन अन्य भाषाओं की चर्चा की आवश्यकता नहीं है जो वहाँ सिखाई जाती थीं। यह भी समझ लेना चाहिए कि उस समय तक अंग्रेज़ अधिकतर फ़ारसी पढ़ते थे क्योंकि वही राजभाषा थी। पर जब उन्होंने यह देखा कि सारे देश में हिन्दुस्तानी प्रचलित है तो उन्होंने उसे छोड़ कर उर्दू की ओर ध्यान दिया। कालिज में शिक्षा की योजना तो बहुत प्रशस्त थी पर कम्पनी ने उस के चलाने का बोझ उठाना स्वीकार नहीं किया इस लिये उसका काम भाषाओं की शिक्षा तक सीमित रहा।

डाक्टर जान गिलकराइस्ट, उर्दू भाषा में जो कुछ भी था, उससे थोड़ा-बहुत परिचित थे। उन्होंने देखा कि इसमें कविता तो अधिक मात्रा में है किन्तु गद्य में बहुत कम है। अधिकतर लेख केवल धर्म से सम्बन्ध रखते थे, विदेशी कर्मचारियों को किस पुस्तक से शिक्षा दी जा सकती थी, इसलिये उन्होंने शिक्षा के साथ साहित्य निर्माण का एक विभाग भी खोल लिया और ढूँढ-ढूँढ कर उसमें ऐसे लोग रखे जो उनके निर्देश के अनुकूल गद्य में रचनाएँ कर सकें। उन्होंने इस का आयोजन भी किया कि जो पुस्तकें कालिज के निरीक्षण में लिखी जाएँ उनके प्रकाशित होने

के लिए एक प्रकाशनालय भी खोला जाए। कदाचित् भारतवर्ष का यही पहिला प्रकाशनालय है जो कलकत्ता में स्थापित हुआ।

फ़ोर्ट विलियम कालिज में जो साहित्यकार एकत्र हो गए थे उन्होंने अपना कर्तव्य बड़ी सुरीति से पूरा किया। इसमें संदेह नहीं कि वह जिस उद्देश से बुलाए गए थे वह शुद्ध रूप से साहित्यिक नहीं था क्योंकि वहीं से उर्दू हिन्दी मतभेद ने एक प्रकार का राजनितिक रूप धारण कर लिया। परन्तु इस कालिज में जो गद्य-रचना हुई वह विचारणीय है। कुछ लेखकों का अनुमान है कि वहाँ की रचनाओं से उर्दू साहित्य को कुछ अधिक लाभ नहीं हुआ। उनका यह विचार कुछ ऐसा ग़लत भी नहीं है क्योंकि उससे साधारण उर्दू पढ़ने वाले बहुत दिनों तक अपरिचित रहे और वहाँ के ग्रन्थ केवल वहीं के काम आते रहे तथापि उन पर ध्यान न देना ठीक न होगा। कालिज में उर्दू लेखकों की संख्या जो भी रही हो, उनमें से लगभग पन्द्रह ऐसे हैं जिनके नाम और काम को महत्व प्राप्त है। सबसे पहिला नाम "मीर अम्मन" का सामने आता है क्योंकि उनकी रचना सबसे अधिक विख्यात और लोक-प्रिय है।

मीर अम्मन दिल्ली-निवासी थे। नाम मीर अमान था। कलकत्ता आने से पहिले कवि या लेखक के रूप में उन्हें कोई न जानता था। अब भी उनके जीवन-चरित्र के बारे में बहुत कम मालूम है। अपनी जीवनी, जितनी उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "बाग़ो-बहार" की भूमिका में लिख दी है उसी से उनके बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। जब दिल्ली की स्थिति बिगड़ी तो मीर अम्मन पटना पहुँचे। कुछ समय वहाँ बिताने के बाद कलकत्ता गए। वहाँ दो वर्ष यूँ ही बीत गए। फिर १८०१ ई० में मीर बहादुर अली हुसैनी के अनुमोदन से जान गिलकराइस्ट से भेंट हुई और मीर अम्मन फ़ोर्ट विलियम कालिज के साहित्य-निर्माण विभाग में नौकर रख लिये गये और यहाँ तीन वर्षों के बीच में उन्होंने दो पुस्तकें "बाग़ो-बहार" और "गँजे-ख़ूबी" लिखीं, जिनमें बाग़ो-बहार ने बड़ा यश प्राप्त किया है। यह पता नहीं कि १८०३ के बाद मीर अम्मन क्या हुए और उन्होंने कुछ और भी लिखा या नहीं?

बाग़ो-बहार के आरम्भ में मीर अम्मन ने रीति-अनुसार कहानी लिखने का कारण भी लिखा है। उन्होंने भी अता हुसैन "तहसीन" की भाँति यही कहा है कि यह अमीर ख़ुसरौ की "चहार दरवेश" पर

आधारित है। जैसा कि कहा जा चुका ख़ुसरौ की कोई रचना इस नाम से सम्बोधित नहीं थी पर यह विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है कि फ़ारसी में यह कहानियाँ उस समय बहुत प्रचलित थीं। क्योंकि थोड़े दिनों के बीच में उसके तीन अनुवाद उर्दू भाषा में हुए। कई लेखकों का विचार है कि मीर अम्मन ने इसका अनुवाद फ़ारसी से नहीं किया बल्कि तहसीन की पुस्तक को सामने रखकर उसे बोलचाल की सरल भाषा में लिख दिया है। मीर अम्मन ने लिखा है कि "·····जान गिलकराइस्ट साहब ने लुत्फ़ से फ़रमाया कि क़िस्से को ठेठ हिन्दुस्तानी गुफ़्तगू में, जो उर्दू के लोग, हिन्दू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले, खासो-आम आपस में बोलते चालते हैं तरजुमा करो। मुवाफ़िक़ हुक्म-हुज़ूर के मैंने भी उसी मुहावरे से लिखना शुरू किया जैसे कोइ बातें करता है।" हो सकता है कि मीर अम्मन ने फ़ारसी पुस्तक भी देखी हो परन्तु इसमें सँदेह नहीं कि उन्हों ने तहसीन की "नौ-तर्ज़े-मुरस्सा" ही का अनुसरण किया है। कहानी एक हो है परन्तु दोनों की शैलियाँ इतनी विभिन्न हैं कि दो पुस्तकें जान पड़ती हैं। मीर अम्मन ने वास्तव में "ठेठ हिन्दुस्तानी" भाषा का प्रयोग किया है और इसी ने उसको अति सुन्दर और लोक-प्रिय बना दिया है। अनुवाद होने पर भी यह स्वयं मीर अम्मन की रचना मालूम पड़ती है। इसके अनुवाद बहुत सी योरोपीय भाषाओं में भी हो चुके हैं और वहाँ के आलोचकों ने इसकी सराहना की है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसके पाठ से भारतीयों की सामाजिक स्थिति और विशेष कर मुसलमानों के जीवन के बारे में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं और जागीरदारी समाज की रीति-नीति खाना-पीना, वस्त्राभूषण, नैतिक विचार, प्रत्येक विषय पर प्रकाश पड़ता है। इसमें संस्कृत और भाषा के शब्द इस सुन्दरता से लिए गए हैं कि जैसे अंगूठी पर नग जड़ दिया हो। मीर अम्मन की बाग़ो-बहार उन रचनाओं में से है जो एक बार जन्म लेकर फिर नहीं मरतीं। उनकी दूसरी पुस्तक "गंजे-ख़ूबी" है और फ़ारसी की एक विख्यात पुस्तक "अख़लाक़े-मुहसिनी" का अनुवाद है। यह ग्रन्थ फ़ोर्ट विलियम कालिज से प्रकाशित नहीं हुआ बल्कि बाद में बम्बई से छपा।

फ़ोर्ट विलियम कालिज के लेखकों में हैदर बख़्श हैदरी ने सबसे अधिक पुस्तकें लिखीं हैं पर सब की सब प्रकाशित नहीं हुईं। हैदरी

रहने वाले तो दिल्ली के थे किन्तु उनके जीवन का बड़ा भाग बनारस में बीता। पता नहीं कि वहाँ भी उन्होंने कुछ लिखा था या नहीं परन्तु जब फ़ोर्ट विलयम कालिज खुला और वहाँ लेखकों की माँग हुई तो हैदरी भी कलकत्ता पहुँचे और वहाँ नौकर हो गए। वहाँ उन्होंने कई ग्रन्थों के अनुवाद किये और कुछ स्वयं लिखे। सन् १८१४ ई० में फिर बनारस चले आए और वहीं से सन् १८२३ में परलोक सिधारे।

हैदरी की रचनाओं में "क़िस्सए-मेहरो-माह", "लैला मजनूं", "हफ़्त पैकर", "तारीख़े-नादिरी", "गुलशने-हिन्द", "तोता कहानी", "आराइशे-महफ़िल", "गुले-मग़फ़िरत" के नाम लिये जा सकते हैं परन्तु इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध अन्तिम तीन पुस्तकें हैं। तोता कहानी १८०१ ई० में लिखी गई। यह कोई नई पुस्तक नहीं है बल्कि दक्षिणी उर्दू में लिखे हुए मुहम्मद क़ादरी के तूतीनामा को सरल, शुद्ध और प्रचलित उर्दू में लिख दिया गया है। यह ग्रन्थ बहुत पसन्द किया गया और कई बार प्रकाशित हो चुका है। फ़ार्ब्स ने लन्दन से उसका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया और स्माल ने उसका अंगरेज़ी अनुवाद भी किया। हैदरी की रचनाओं में आराइशे-महफ़िल सब से अधिक लोकप्रिय है। इसमें अरब के प्रसिद्ध दानी हातिमताई की सात कल्पनात्मक यात्राओं की कहानी बड़े रोचक ढँग से लिखी गई है। यह पुस्तक भी एक फ़ारसी ग्रन्थ पर आधारित है मगर हैदरी ने अपनी ओर से बहुत से परिवर्तन कर दिए हैं। यह किताब भी गिलकराइस्ट के कहने पर १८०२ में लिखी गई। इसकी भाषा सरल और मधुर है इसलिये यह पुस्तक भी कई बार प्रकाशित हो चुकी है। गुले-मग़फ़िरत वही है जो फ़ज़ली की करबल कथा है क्योंकि यह भी मुल्ला हुसैन वाइज़ काशिफ़ी की रौज़तुश-शुहदा का अनुवाद है। कदाचित् यह ग्रंथ कालिज के लिए नहीं लिखा गया था परन्तु १८१२ ई० में कलकत्ते ही से प्रकाशित हुआ। सन् १८४५ ई० में इसका अनुवाद एक फ़्रान्सीसी ने अपनी भाषा में किया। हैदरी कवि भी थे और उनकी कविताओं में ग़ज़ल, क़सीदे, मरसिये सभी हैं पर उनका नाम उनकी गद्य-रचनाओं के कारण रोशन है। उनकी भाषा सरल होते हुए भी मीर अम्मन की भाषा से विभिन्न थी क्योंकि मीर अम्मन फ़ारसी अरबी शब्दों के मुक़ाबिले में हिन्दी शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे और हैदरी फ़ारसी की ओर झुकते थे।

इस कालिज के एक और लेखक मीर शेरअली "अफ़सोस" थे और वहाँ नियुक्त किये जाने से पहिले ही काफ़ी यश प्राप्त कर चुके थे। दिल्ली, पटना, लखनऊ की साहित्यिक सभाओं और गोष्ठियों में सम्मिलित हो चुके थे। मीर, सौदा, मीर हसन, जुरअत और इन्शा का युग था, कवि-सम्मेलन होते थे और अफ़सोस भी इनमें अपनी कविताएँ सुनाते थे। सन् १८०१ ई० में कलकत्ता पहुँचकर उन्होंने गिलकराइस्ट की सम्मति से फ़ारसी के दो ग्रंथों का अनुवाद किया। सन् १८०२ ई० में शैख़ सादी की सुविख्यात पुस्तक "गुलिस्ताँ" को "बाग़े-उर्दू" के नाम से उर्दू में परिवर्तित किया। इसकी भाषा कहीं-कहीं फ़ारसी से बोझल है। अफ़सोस की दूसरी पुस्तक "आराइशे-महफ़िल", मुन्शी सुजानराए के फ़ारसी इतिहास "ख़लासतुत-तवारीख़" का उर्दू अनुवाद है। मेजर हेन्री कोर्ट और जान शैक्सपियर ने इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में किया। यह पुस्तक बार बार प्रकाशित हो चुकी है। यह आश्चर्य की बात है कि फ़ोर्ट विलियम कालिज में एक ही समय में जो पुस्तकें लिखी गईं उनमें से दो तीन के नाम दो-दो लेखकों ने एक ही रक्खे हैं। आराइशे-महफ़िल हैदरी की किताब का नाम है और अफ़सोस के अनुवाद का भी। हैदरी की दूसरी पुस्तक गुलशने-हिन्द है, उसी समय मिर्ज़ा अली "लुत्फ़" ने भी अपनी पुस्तक का नाम गुलशने हिन्द रक्खा। इसका एक कारण यह था कि उर्दू फ़ारसी में कभी-कभी अक्षरों की गिनती के हिसाब से नाम रक्खे जाते थे और बहुधा ऐसा होता था कि वर्ष का सन् निकालने में वही शब्द एक से अधिक लेखकों के यहाँ निकल आते थे। ऐसे नामों को "तारीख़ी-नाम" कहा जाता था।

मिर्ज़ा अली "लुत्फ़" दिल्ली के रहनेवाले थे। दिल्ली के ह्रास के बाद लुत्फ़ लखनऊ आए, पटना गए और वहाँ से कलकत्ता पहुँचे। गिलकराइस्ट से भेंट हुई तो उन्होंने उर्दू कवियों का एक तज़किरा लिखने का अनुरोध किया। लुत्फ़ ने अली इब्राहीम ख़ाँ को फ़ारसी पुस्तक "गुलज़ारे-इबराहीम" को सामने रख कर उर्दू में गुलशने-हिन्द लिख दी। इस की भाषा कठिन और पेचदार है परन्तु इससे समय-कालीन कवियों के संबन्ध में कई नई बातें मालूम हो जाती हैं। यह पुस्तक कलकत्ते से नहीं छपी और हस्त लिखित ही खो गई। सन् १९०६ ई० में यह ग्रन्थ हैदराबाद की एक नदी में बहता हुआ मिला

और वहीं से प्रकाशित हुआ लुत्फ़ भी कलकत्ते से हैदराबाद चले गए थे और वहीं १८२२ ई० में उनका देहान्त हो गया।

दिल्ली के एक और निवासी मीर बहादुर अली हुसैनी कालिज के साहित्य-निर्माण विभाग में नोकर थे। उन्होंने मीर हसन की सुविख्यात मसनवी, "क़िस्सए-बेनज़ीरो-बद्रे-मुनीर" को गद्य में लिखा और उसका नाम "नस्रे-बेनज़ीर" रखा। हुसैनी की दूसरी रचना जो बहुत लोक प्रिय है, गल्पों का एक संग्रह "अख़लाक़े-हिन्दी" है। यह गल्प संस्कृत की नैतिक गुणों से भरी हुई कहानियों पर निर्भर हैं और उर्दू में फ़ारसी से परिवर्तित की गई हैं। सन १८०३ ई० में कलकत्ते में प्रकाशित हुई। उनकी तीसरी पुस्तक "तारीख़े-आसाम" है, यह भी एक फ़ारसी पुस्तक का अनुवाद है। इसका भाषातंर फ्रान्सीसी में भी हुआ। हुसैनी ने गिलकराइस्ट की एक व्याकरण को भी संक्षिप्त करके सरल भाषा में लिखा और यह पुस्तक १८१६ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित हुई।

मज़हर अली खाँ "विला" दिल्ली के रहने वाले विद्वानों के एक परिवार से सम्बन्ध रखते थे। संस्कृत, फ़ारसी और हिन्दी जानते थे। कविताएं भी लिखते थे पर उनके बारे में कुछ मालूम नहीं। विला सन १८-२ ई० में कलकत्ता गए और वहाँ कालिज के लिए कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें "माधवनल और काम कुंडला", "वैताल पचीसी" और "तारीख़े-शेरशाही" प्रसिद्ध हैं। माधवनल और काम कुंडला मोतीराम कविशेर द्वारा लिखित हिन्दी में मौजूद थी, विला ने उसे उर्दू का वस्त्र पहनाया। बैताल पचीसी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। कहा जाता है कि मुहम्मदशाह बादशाह के युग में किसी ने उसे ब्रज भाषा में लिख और उसी से विला ने उसे उर्दू में ले लिया। इसके अनुवाद में उनके सहायक लल्लू लालजी थे जिनका उल्लेख आगे आएगा। अनुवाद हो जाने पर भी इसमें ब्रज भाषा के शब्द रह गए हैं और बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। इस पुस्तक के न जाने कितने संसकरण निकल चुके हैं। यह उस समय की उर्दू का एक बहुत मनोहर नमूना है। विला ने तारीख़े-शेरशाही का अनुवाद फ़ारसी से किया था। गारसाँ द-तासी ने उसका फ़ारसी भाषान्तर १८६५ में प्रकाशित किया।

मिर्ज़ा काज़िम अली "जवान" भी फ़ोर्ट विलियम कालिज में नौकर थे। दिल्ली ही के रहनेवाले थे और कलकत्ता आगए थे।

सन् १८०१ ई० में गिलकराइस्ट के अनुरोध पर "शकुन्तला नाटक" को उर्दू का रूप दिया। संस्कृत से यह नाटक ब्रजभाषा में परिवर्तित हो चुका था। उसके लेखक का नाम कदाचित् "निवाज" था। इस अनुवाद में भी लल्लूलाल जी ने जवान की सहायता की। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह नाटक नाटक के रूप में नहीं बल्कि कथा के रूप में लिखा गया है। जवान ने और पुस्तकें भी लिखीं और उनके अतिरिक्त लल्लूलाल जी को "सिंहासन बतीसी" के लिखने में सहायता की और कई दूसरे लेखों की भाषा शुद्ध की।

निहालचन्द लाहौरी इस कालिज के एक और लेखक थे। वह भी दिल्ली ही के रहनेवाले थे परन्तु पंजाब में रहने लगे थे इसलिए लाहौरी कहे जाने लगे। उन्होंने सन् १८०३ ई० में गिलकराइस्ट के कहने पर "गुल बकावली" की प्रसिद्ध कहानी का फ़ारसी से उर्दू में अनुवाद किया। यह कहानी भारतवर्ष की लोक-कथाओं में से थी, जिसे इज्ज़तुल्लाह बंगालो ने फ़ारसी में लिख लिया था। निहालचन्द ने उसे सरल, शुद्ध, और मधुर उर्दू में लिख कर उसका नाम "मज़हबे-इश्क़" रक्खा। इसका पहिला संस्करण १८०४ ई० में हुआ और उसके पश्चात् न जाने कितनी मरतबा विभिन्न प्रकाशालयों से प्रकाशित हुई। यही वह कहानी है जिसको पं० दयाशंकर "नसीम" ने सन् १८३८ ई० में अपनी प्रसिद्ध मसनवी "गुलज़ारे-नसीम" के रूप में प्रस्तुत किया। इस पद्य-रचना के आगे लोग मज़हबे-इश्क़ को भूल गए।

लाहौर के एक कवि बेनीनरायन "जहाँ" भी फ़ोर्ट विलियम कालिज मे उस समय पहुँचे जब गिलकराइस्ट वहाँ से जा चुके थे परन्तु उन्होंने कालिज के लिये दो ग्रंथ तैय्यार किए। एक तो प्रेम-कथा थी जिसका नाम "चार गुलशन" था और दूसरा ग्रंथ कवियों का एक तज़किरा था जो कप्तान रोबक के अनुरोध पर लिखा गया, जो सन् १८१४ ई० में समाप्त हुआ। इसमें १२५ कवियों का संक्षिप्त हाल है और "जहाँ" ने अपनी कविताओं का बड़ा भाग भी इसमें एकत्र कर दिया है। कदाचित् इसीलिए इसका नाम "दीवने-जहाँ" रक्खा है।

गुजरात के एक ब्राह्मण लल्लूलाल जी, जिन्हें आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्मदाता कहा जाता है, फ़ोर्ट विलियम कालिज में हिन्दी पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त किए गए थे। उन्होंने "प्रेम सागर" "राजनीति" और कुछ दूसरी पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। यह वह हिन्दी

थी जो खड़ी बोली पर आधारित थी। इन ग्रन्थों का बड़ा महत्व है किन्तु उर्दू सहित्य के इतिहास में उनका विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। लल्लूलाल जी उर्दू भी जानते थे, उन्होंने काज़िम अली जवान की सहायता से उर्दू में "सिंहासन बत्तीसी" लिखी और यह पुस्तक उर्दू तथा हिन्दी दोनों लिपियों में प्रकाशित हुई।

इन लेखकों के अतिरिक्त अमानतुल्लाह "शैदा", हफ़ीजुद्दीन, इकराम अली, ख़लील अली "अश्क" और मिर्ज़ाजान "तपिश" ने भी कई पुस्तकें लिखीं और थोड़े ही समय में फोर्ट विलियम कालिज के संरक्षण में उर्दू गद्य के कोश में बड़ी पूँजी एकत्र हो गई। अब यदि हम इस कालिज में लिखी गई पुस्तकों और उर्दू गद्य के विकास की समीक्षा करें तो हमें कई बातों को दृष्टि में रखना पड़ेगा। प्रथम बात तो यही है कि अँग्रेज़ों ने यह कालिज अपने लाभ के लिये स्थापित किया था और यहाँ उसी ढंग के ग्रंथ लिखवाए जो उनके काम के थे। इन ग्रन्थों में समयकालीन स्थिति या जनता की दुर्दशा और स्वतन्त्रता के स्वपनों के सम्बन्ध में कूछ ढूंढना व्यर्थ होगा। उनका पहला उद्देश्य यही था कि अँगरेज़ उर्दू भाषा सीख जाएं, यह और बात है कि उनमें की कुछ पुस्तकें उच्चकोटि की रचनाएँ सिद्ध हुईं और गद्य साहित्य के विकास में उनकी महानता स्वीकार की गई।

दूसरी बातें जिनको ध्यान में रखना आवश्यक है यह है कि फ़ोर्ट विलियम कालिज के अधिकारियों ने अनुवाद पर ज़ोर दिया और गम्भीर विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखवाईं। इनका सम्बन्ध कुछ तो उद्देश से है जिसको सम्मुख रख कर किताबें लिखवाई जाती थीं और कुछ उस समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति से है। यह भी याद रखना चहिए यह पुस्तकें अधिकतर कालिज के अन्दर सीमित रहीं और बाहर के लोग उनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त न कर सके। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस गद्य रचना ने साधारणतः उर्दू गद्य के विकास पर कोई गहरा प्रभाव नहीं डाला। यह अवश्य हुआ कि कुछ साधारण लेखक जो दिल्ली और लखनऊ के वातावरण में केवल रीति-गति पर चलने वाले कवि होकर रह जाते नए वातावरण में एक नवीन गद्य शैली के जन्मदाता बन गए। इस प्रकार फ़ोर्ट विलियम कालिज का एक विशेष महत्व है जिससे विमुख नहीं हुआ जा सकता।

फ़ोर्ट विलियम कालिज के बाहर भी उर्दू गद्य में काम हो रहा

था। जिनका पता मिल सका है उनमें से कुछ महत्वपूर्ण हैं। इस संक्षिप्त इतिहास में उनका उल्लेख सँक्षिप्त ही में किया जा सकता है।

मीर तक़ी मीर के एक नातेदार मुहम्मद हुसैन "कलीम" अपने युग के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने तसौव्वुफ़ के बहुत ही गूढ़ और गम्भीर ग्रन्थ 'फ़सूसुल-हेकम" का उर्दू में अनुवाद किया। विन्द्रावन, हकीम मुहम्मद शरीफ़, मौलवी करीमुद्दीन इत्यादि ने भी गद्य में पुस्तकें लिखीं। सच तो यह है कि न जाने कितनी पुस्तकें लिखी गई होंगी परन्तु हम तक बहुत कम पहुँची हैं क्योंकि उस समय तक भारतवर्ष में प्रेस न होने के बराबर थे और हस्त लिखित रचनाएँ लुप्त हो जाती थीं। जो मिल गई हैं उनमें इन्शाअल्लाह खाँ "इन्शा" की रचना "रानी केतकी और कुँवर उदयभान की कहानी" एक विशेष महत्व रखने वाली पुस्तक है, जिसे हिन्दी और उर्दू दोनों के आलोचक अपनाते हैं। इन्शा का वर्णन लखनऊ केन्द्र की काव्य रचना के सिलसिले में आ चुका है। यहाँ केवल यह बताना है कि उन्होंने यह कहानी ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा में लिखी जिसमें फ़ारसी, अरबी के शब्दों का बहिष्कार किया है फिर भी सारी कथा बड़े प्रवाहपूर्ण गद्य में लिखी गई है। यह पुस्तक देवनागरी लिपि में भी प्रकाशित हो चुकी है और अगर किसी और कारण से नहीं तो भाषा की दृष्टि से अध्ययन की चीज़ है। इन्शा की बुद्धि की तीव्रता, उनकी कल्पनात्मक शक्ति और विचार की नवीनता इस पुस्तक से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इन्शा की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'दरियाए लताफ़त" है जो फ़ारसी में है परन्तु इसमें उर्दू गद्य के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। किसी भारतीय द्वारा लिखित इसको उर्दू की पहिली व्याकरण समझा जाता है। मगर यह याद रखना चहिए कि यह केवल एक व्याकरण नहीं है बल्कि भाषा-विज्ञान का एक बड़ा कोश है और इससे अब तक लाभ उठाया जा रहा है। इसमें उस समय की भाषा के मनोरँजक उदाहरण दिये गए हैं और विभिन्न स्थानों की बोलियों के अन्तर को बड़ी सुरीति से प्रकट किया गया है। कुछ समय बीता इन्शा की एक और पुस्तक "सिल्के-गुहर" प्राप्त हुई है। इसमें भी एक कहानी कही गई है परन्तु इसकी विशेषता केवल यह है कि इसमें उन अक्षरों का प्रयोग नहीं किया गया है जिन पर बिन्दु होते हैं। यह एक प्रकार का काव्य अलँकार था, जिसका प्रयोग इन्शा ने गद्य में भी किया।

भारतवर्ष में वहाबी आन्दोलन के एक नेता मौलवी इस्माईल

थे। यह आन्दोलन सिखों और अँगरेज़ों के विरुद्ध १६वीं शती के आरम्भ में काफ़ी महत्व ग्रहण कर गया था। वह लोग इस्लाम धर्म में एक विशेष प्रकार का सुधार चाहते थे और अपने विचारों का प्रचार बड़े उत्साह और उल्लास से करते थे। इस सम्बन्ध में फ़ारसी और उर्दू में उनकी रचनाएं भी मिलती हैं। मोलवी इस्माईल ने उर्दू में एक पुस्तक "तक़वियतुल-ईमान" लिखी जो धार्मिक कारणों से बहुत प्रसिद्ध हुई।

इस युग की सब से महत्व पूर्ण गद्य रचना मिर्ज़ा रजब अली बेग "सुरूर" की "फ़िसानए अजाएब" है। सुरूर लखनऊ के सबसे पहिले गद्य-लेखक समझे जाते हैं। वह सन् १७८७ ई० में पैदा हुए और लखनऊ ही में प्रचलित शिक्षा में निपुर्णता प्राप्त की। वह कविताएं भी लिखते थे और आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। अवध के बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने किसी बात पर रुष्ट होकर उन्हें लखनऊ से निकाल दिया और सुरूर कानपुर चले गए, वहीं अपने मित्र हकीम असदअली के अनुरोध पर "फ़िसानए-अजाएब" लिखना आरम्भ किया। जब वाजिद अलीशाह गद्दी पर बैठे तो उन्होंने सुरूर को क्षमा दे दी और लखनऊ बुलाकर उनको दरबार का कवि नियुक्त कर दिया। ग़दर होने पर सुरूर को लखनऊ छोड़ना पड़ा। सन १८५६ ई० के बाद से वह अपने अन्य गुणों के कारण महाराजा बनारस, महाराज अल्वर और महाराजा पटियाला के यहाँ सम्मान के साथ रहे। सन् १८६३ ई० में आँखों की चिकित्सा के लिये कलकत्ते गये। वहाँ से लौटकर १८६७ ई० में परलोक वासी हुये।

सुरूर की कई रचनाएं मिलती हैं जिनमें प्रथम और सर्वश्रेष्ट "फ़िसानए-अजायब" है। यह कहानी १८२४ ई० में लिखी गई और जैसा कि उस समय की कहानियों में होता था यह कहानी भी अस्वाभाविक बातों से भरी हुई है। इस पर पदमावत और अलिफ़लैला का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। कुछ लोगों ने इसको प्राचीन कथाओं और आधुनिक उपन्यास के बीच की कड़ी कहा है परन्तु वास्तव में पुरानी कहानियों की भाँति इसमें भी कुछ नैतिक गुणों के प्रचार और विभिन्न प्रकार की असम्भव घटनाओं के कल्पनात्मक वर्णन से मनोरंजन पैदा करने की चेष्टा की गई। इस की शैली बड़ी रंगीन और पेचदार है और प्रायः सभी वाक्य तुकान्तक हैं। इसमें मीर अम्मन की सरल भाषा की हँसी उड़ाई गई है। लेखक की दृष्टि में सीधी-सादी गद्य रचना कोई कला नहीं

है। उसे अलँकारपूर्ण होना चाहिए। सुरूर का कमाल यह है कि वह हर घटना के अनुसार शब्द ढूंढ निकालते हैं आवश्यकता हो तो हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी सुरीति से करते हैं। इस पुस्तक से लखनऊ की सभ्यता के बारे में बड़ी जानकारी प्राप्त होती है। जन्म, मृत्यु, विवाह के सँस्कारों, रहन सहन और प्रचलित ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बड़ी सुन्दरता से इस पुस्तक में बयान की गई हैं परन्तु कहानी के वास्तविक जीवन से दूर होने के कारण आज के पाठक को साधारणतः इसमें आनन्द प्राप्त नहीं होगा। फिर भी यह रचना उर्दू साहित्य की महान रचनाओं में से है और बीसों बार प्रकाशित हो चुकी है।

फ़िसानए-अजाएब के अतिरिक्त सुरूर ने और कई रचनाएँ तैयार कीं जिनमें से कुछ यह हैं। "सुरूरे-सुल्तानी," "शररे-इश्क़", "शिगूफ़ए-मुहब्बत," "गुलज़ारे-सुरूर", "शबिस्ताने-सुरूर" और "इन्शाए-सुरूर"। सुरूरे-सुल्तानो १८४७ ई० में वाजिद अली शाह की आज्ञा से लिखी गई। यह एक फ़ारसी पुस्तक का अनुवाद है और उसी शैली में लिखी गई है जिसमें फ़िसानए अजाएब। शररे-इश्क़ में पंछियों के प्रेम की कहानी बड़े रोचक ढंग से कही गई है। इसकी रचना सन् १८५६ में हुई। इसी वर्ष शिगूफ़ए-मुहब्बत भी लिखी गई। यह भी एक प्रेम कहानी है जिसे मेहरचन्द खत्री इस से पहिले लिख चुके थे। सुरूर ने इसे अपने ढंग से लिखा। गुलज़ारे-सुरूर एक धार्मिक पुस्तक का अनुवाद है जिस पर मिर्ज़ा ग़ालिब ने प्रस्तावना भी लिखी थी। शबिस्ताने-सुरूर में अलिफ़लैला की कुछ कहानियों का अनुवाद है और इन्शाए-सुरूर उनके पत्रों का संग्रह है जो उनकी मृत्यु के पश्चात् संगठित हुए।

इसी समय अवध में एक और रचना की गई जो महत्व रखती है। फ़क़ीर मुहम्मद खाँ "गोया" शाही सेना में रिसालदार थे और बड़े प्रतिभाशाली पुरुष समझे जाते थे। वह उस समय के अच्छे कवि थे और नासिख़ को अपनी कविताएं दिखाते थे। १८५० ई० में उनका देहान्त हुवा। गोया ने सन् १८३५ ई० में फ़ारसी की प्रसिद्ध पुस्तक "अनवारे-सुहैली" का अनुवाद "बुस्ताने-हिक्मत" के नाम से किया। इसमें भी हितोपदेश और पँच-तंत्र की कहानियाँ हैं। गोया का अनुवाद बहुत सरल और सादा तो नहीं है पर इसकी भाषा सुरूर की भाषा के

समान अलँकारों और उपमात्रों से भरी हुई भी नहीं है। इसके दो वर्ष बाद नीमचन्द खत्री ने एक फ़ारसी कहानी का अनुवाद "क़िस्सए-गुल-व-सनोबर" के नाम से किया और प्रकाशित हुवा। कुछ दूसरे लेखकों के नाम भी मिलते हैं परन्तु यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता।

उर्दू गद्य के विकास की कहानी अधूरी रह जाएगी यदि दिल्ली कालिज और उससे सम्बन्धित "देहली वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सूसाइटी" का वर्णन न किया जाए क्योंकि यदि फ़ोर्ट विलियम कालिज में गल्प, इतिहास और धार्मिक पुस्तकों के अनुवाद हुए तो इस सूसाइटी ने गणित, विज्ञान, ज्योतिश, तर्क और दर्शन-शस्त्र को भी अनुवाद योजना में सम्मिलित कर लिया। सन् १८०४ ई० के पश्चात् दिल्ली एक प्रकार से इस्ट-इन्डिया कम्पनी के प्रभाव क्षेत्र में आ चुकी थी और वहां भी अगरेज़ों ने वही जाल बिछाना आरम्भ कर दिया था जो उन्होंने और स्थानों पर बिछाया था। दिल्ली हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का प्राचीन केन्द्र थी जहाँ दोनों मिल जुल कर प्रेम पूर्वक रहते थे। पर सारे देश में जो नवीन स्थिति पैदा हो रही थी उसका प्रभाव यहां पड़ना भी स्वभाविक था। प्राचीन परम्पराओं का यह नगर आसानी से सब कुछ स्वीकार नहीं कर सकता था परन्तु जीवन की आवश्यकताओं ने नए प्रकार के शिक्षालय खोलने पर बाध्य किया। सन् १८२५ ई० में दिल्ली कालिज स्थापित हुवा जिस में हर विषय की उच्च शिक्षा दी जाती थी और शिक्षा का माध्यम उर्दू भाषा थी। सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि यह योजना बहुत सफल सिद्ध हुई। १८२८ ई० में इस कालिज में अँग्रेज़ी कक्षा भी खोल दी गई। दिल्ली के निवासियों ने इसका कड़ा विरोध किया और इस आज्ञा में संशोधन करना पड़ा।

यह वह समय था कि शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी और कार्यालयों की भाषा उर्दू घोषित की जा चुकी थी परन्तु इस कालिज में सारी शिक्षा उर्दू ही द्वारा दी जा रही थी। जो एजुकेशन कमीटी कालिज का प्रबन्ध चलाती थी वह कुछ पुस्तकों के अनुवाद उर्दू में करा चुकी थी कि सन् १८४१ ई० में देहली वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सूसाइटी की स्थापना हुई जिसके संरक्षण में सवा सौ से अधिक ग्रन्थ तैय्यार हुए।

यह सूसाइटी अधिकतर जनता की सहायता से चलती थी और कभी कभी सरकारी सहायता भी मिल जाती थी। जिन ग्रन्थों का यहाँ अनुवाद हुवा या जो पुस्तकें यहाँ लिखाई और छपवाई गईं उनकी सूची नहीं दी जा सकती परन्तु कुछ पुस्तकों और विषयों के नाम दिए जाते हैं जिस से इस सूसाइटी के महत्व का अनुमान लगाया जा सकेगा। रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्म-शास्त्र, शकुन्तला, रघुवंश इत्यादि के अनुवाद, सौदा, मीर, दर्द, जुरअत इत्यादि के काव्य संग्रह, भारत, इरान, यूनान, इंगलैण्ड, रोम के इतिहास, गणित और विज्ञान के सभी विभागों पर पुस्तकें, भूगोल, गल्प, कवियों के तज़किरे और धार्मिक ग्रन्थ, सभी प्रकार की पुस्तकें इस सूसाइटी ने तैय्यार कराईं। अनुवाद अधिकतर अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी और संस्कृत भाषाओं से हुए थे। शोक इस बात का है कि इनमें के अधिकतर ग्रन्थ अब नहीं मिलते, केवल इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी (लन्दन) में उनका बड़ा भाग मौजूद है। अनुवादकों में धर्म नरायन, अयोध्याप्रसाद हरिवर्मन लाल, शीतल प्रसाद, कालीराक, वज़ीर अली, ग़ुलाम अली, मुहम्मद अहसन और रामचन्द्र के नाम मिलते हैं। इनमें मास्टर रामचन्द्र को सबसे अधिक महत्व प्राप्त है।

रामचन्द्र दिल्ली कालिज के पढ़े हुए थे और शिक्षा समाप्त करने के बाद इसी कालिज में योरोपियन विज्ञान के अध्यापक हो गए। उन्हें गणित से विशेष लगाव था और उन्होंने गणित के कई ग्रन्थों का अनुवाद किया था। गणित ही की उनकी एक रचना का इंगलैण्ड में स्वागत किया गया। रामचन्द्र ने कई साहित्यिक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें "अजाएबे-रोज़गार" और "तज़किरतुल-कामिलीन" बहुत प्रसिद्ध हैं। वह ईसाई हो गए थे और उसके कारण कुछ दिनों के लिए दिल्ली के हिन्दू मुसलमानों में उनका सम्मान बहुत कम हो गया था। परन्तु यह स्थिति उनकी योग्यता और ज्ञान के सम्मुख क़ायम न रह सकी। इसी समय के कुछ और लेखक हैं उनका उल्लेख सुविधा के लिए आगे के अध्याय में किया जाएगा।

यह उर्दू गद्य की प्रगति की एक संक्षिप्त रूप रेखा है। इसके अध्ययन से ज्ञात होगा कि अगर्चे इसका आरम्भ १५ वीं शताब्दी में हो चुका था परन्तु इसका सर्वव्यापक और बहुमुखी विकास १६ वीं

शती के पूर्वार्ध में हुवा। जो आलोचक दिल्ली कालिज के पाठ-क्रम ध्यान- दे क देखेगा उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि विज्ञान और दूसरे विषय उर्दू में किस प्रकार पढ़ाए जाते रहे होंगे और जो उसकी सफलता का हाल रिपोर्टों में पढ़ेगा उसे ज्ञात होगा कि उर्दू भाषा में इतनी शक्ति उस समय आ गई थी कि वह उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके।

उर्दू गद्य किस प्रकार पूर्णतया जीवन संघर्ष का दर्पण बना उसकी कथा आगे के अध्यायों में आएगी।

अध्याय ८

नई धारा से पहिले—पद्य और गद्य

उर्दू भाषा मेल-जोल की जिस सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकता को पूरी कर रही थी उसके प्रभाव से बड़े वेग के साथ लोक-प्रिय होती जा रही थी। अब वह दिल्ली और लखनऊ के केन्द्रों में सीमित नहीं थी बल्कि अपने नए नए केन्द्र बनाती जा रही थी। राजनीतिक पतन के कारण जो परिवर्तन देश में हो रहे थे उनका अनुभव बहुत थोड़े से लोग कर सकते थे। कवि और लेखक पुरानी परम्पराओं से चिमटे हुए उस सभ्यता की आदर्शवादी कल्पनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे जो छिन्न भिन्न हो रही थी। भारत में अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित होने, नई आर्थिक और सामाजिक स्थिति के पैदा होने के कारण जो नई लहर १९ वीं शताब्दी के मध्य में उठी थी उसका उल्लेख आगे आएगा इस अध्याय में तूफ़ान से पहिले की उस दशा को देखना है जो एक प्रकार के शैथिल्य और गतिरोध का पता देती है। परिपाटियों में जो शक्ति होती है उसका इस समय से अच्छा उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता कि वही लोग जो स्थिति के परिवर्तित होने का अनुभव कर सकते थे साहित्य में किसी बड़े परिवर्तन को पसन्द नहीं करते थे।

दिल्ली और लखनऊ के केन्द्र तो थे ही, रामपुर और हैदराबाद में भी बड़े बड़े केन्द्र स्थापित हुए। एक दरबार से दूसरे दरबार तक कोई बड़ा अन्तर नहीं होता, इसलिए साहित्य की शैलियों में जो नवीनता आई उससे यह नहीं समझना चाहिए कि साहित्य के मूल आधारों में कोई परिवर्तन हो रहा था। दिल्ली में ग़ालिब, ज़ौक और मोमिन के शिष्य और लखनऊ में आतिश और नासिख की शैलियों से सम्बन्ध

रखने वाले कवि कुछ तो पुराने मार्ग का अनुसरण करते रहे और कुछ नई स्थिति को समझकर नए पथ की खोज में निकल पड़े। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के कारण दिल्ली और लखनऊ के राज्य समाप्त हो चुके थे। वाजिदअली शाह मटियाबुर्ज (कलकत्ता) में एक बन्दी के समान रहते थे, पर लखनऊ के कई कवि उस दशा में भी उनके साथ थे। बहादुरशाह ज़फ़र रँगून में पड़े हुए थे जो हिन्दुस्तानी भाषाओं के क्षेत्र से बहुत दूर था। हैदराबाद में कवियों का बड़ा आदर सत्कार होता था और अच्छे अच्छे वेतन पर कवि वहाँ बुलाए जाते थे। पुरानी परम्पराओं के कारण वहाँ उर्दू भाषा के विकास के लिए ज़मीन तैय्यार थी। रामपुर के नौव्वाब स्वयं काव्य रचना करते थे और साहित्यकारों, कलाकारों और विद्वानों को बुलाकर अपनी राज्य-सभा की शोभा बढ़ाते थे। उनके अतिरिक्त पटना, मुर्शिदाबाद, टाँडा, टोंक, भोपाल, मँगरौल और अलवर इत्यादि भी कवियों को अपनी ओर खींच रहे थे। इस अवसर पर सारे कवियों और साहित्यकारों के नाम देकर पूरी स्थिति को सामने लाना असम्भव है। केवल प्रमुख कवियों का वर्णन करके यह बताया जा सकता है कि उर्दू साहित्य किस प्रकार देश के कोने कोने में पहुँच रहा था और उसके विकास में सभी समुदाय और धर्म के लोग भाग लेते थे।

काव्य रचना के साथ साथ पद्य का विकास भी हो रहा था क्योंकि उर्दू साधारणतः देश की राष्ट्रभाषा समझी जाने लगी थी और अंग्रेज़ी राज्य ने सन् १८३५ ई० में फ़ारसी को निकालकर उर्दू को सरकारी भाषा घोषित कर दिया था इसका सब से अधिक प्रभाव प्रेस पर पड़ा। बहुत से नए नए प्रेस खुल गए और पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। अगर्चे इससे बहुत पहिले गद्य की रचनाएँ बड़ी संख्या में तैय्यार हो चुकी थीं परन्तु उनको प्रकाशित करने की सुविधा न होने के कारण उनका प्रचार रुका हुआ था। कविताएं जल्द एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाती थीं पर गद्य के लेख हस्तलिखित एक ही जगह पड़े रह जाते थे, अधिकतर धार्मिक महत्व की रचनाओं की नक़ल की जाती थी। प्रेस स्थापित हो जाने के कारण गद्य के विकास को सहायता मिली।

भारतवर्ष के लिए यह युग विचित्र समस्याओं का युग था। एक ओर उस नवीनता का उद्भव हो रहा था जो नई आर्थिक स्थिति से उत्पन्न हो रही थी और दूसरी ओर वही रीति गति पर चलने वाला भारतवर्ष था जिसके देहात सोए हुए थे और नागरिक नए और पुराने

के बीच में अपना पथ टटोल रहे थे। इस युग का विश्लेषण इसलिए भी आसान नहीं है कि देश का सामन्ती युग मिट कर भी मिटा नहीं था और नव-जागरण केवल अभी कुछ लोगों के मांसिक क्षितिज को छू सका था। इसलिए नई और पुरानी लहरें समानान्तर चल रही थीं। नई लहर का विस्तृत उल्लेख आगे के अध्याय में होगा। यहाँ उस क्रम को जुड़े रखने की चेष्टा की जाएगी जो कई शताब्दियों से चला जा रहा था। दिल्ली में ग़ालिब, मोमिन और ज़ौक़ के शिष्य "शेफ़ता" "मजरूह" "नसीम" "ज़हीर" 'अनवर" "सालिक" और "दाग़" इत्यादि और लखनऊ में वाजिदअली शाह "अख्तर" "मुनीर" "असीर" "शौक़" "क़लक़" "अमानत" "जलाल" "अमीर मीनाई" इत्यादि उसी मार्ग पर चल रहे थे जो उनके उस्तादों का था। उनकी चेतना में कोई नया-पन नहीं है, लिखने का ढंग अवश्य नया है। इन कवियों के हाथों क़सीदा, मसनवी, ग़ज़ल और मर्सिया इत्यादि सभी में वृद्धि हुई पर इनका बड़ा भाग रीतिकाल की शिथिलता का शिकार हो गया है। इन्हीं में से कई कवि रामपुर, हैदराबाद और दूसरे राजदरबारों में पहुँचे और उनके कारण से काव्य-रचना को बढ़ावा मिला। संक्षिप्त में इनका उल्लेख किया जाता है क्योंकि विस्तार में जाने से यह अध्याय बहुत बढ़ जायेगा।

नौव्वाब मुहम्मद मुस्तफ़ा खां "शेफ़ता" उर्दू में मोमिन और फ़ारसी में ग़ालिब के शिष्य थे। इनके पिता को बहुत बड़ा इलाक़ा अंग्रेज़ी सरकार से मिला था, इस कारण से उनका परिवार बड़े सम्मान और आदर की दृष्टि से देखा जाता था। शेफ़ता ने दिल्ली के बड़े-बड़े विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की थी और वहाँ के सभी उच्च श्रेणी के विद्वानों से उनकी मित्रता थी। ग़दर में अंगरेज़ों ने उनको उपबन्दी बना लिया था परन्तु बाद में वह निर्दोष सिद्ध हुये और छोड़ दिये गए। उनके ज्ञान और निपुणता को ग़ालिब के ऐसा कवि भी स्वीकार करता था। उन्होंने अपना काव्य-संग्रह २१ वर्ष की आयु में तैय्यार कर लिया था। ३३ वर्ष की अवस्था में हज करने गये और वहाँ से आकर काव्य रचना बहुत कम कर दी। सन् १८६६ ई० मे उनका देहान्त हुआ।

उर्दू काव्य संग्रह के अतिरिक्त शेफ़ता का एक फ़ारसी काव्य संग्रह और फ़ारसी ही में कुछ और पुस्तकें भी हैं जिनमें "गुलशने-बेख़ार" सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें उर्दू कवियों की जीवनी और

उनकी रचनाओं की आलोचना संक्षिप्त में बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। इसके अध्ययन से शेफ़ता की आलोचनात्मक शक्ति का पता चलता है। उनकी सभी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह आश्चर्य-जनक बात है कि वह एक अच्छे कवि होने पर भी कभी बहुत लोक-प्रिय न हो सके और अधिकतर लेखक उनको कवि से बड़ा आलोचक मानते रहे हैं। जहाँ तक उर्दू कविता का सम्बन्ध है उन्होंने अधिकतर ग़ज़लें लिखी हैं जो सच्चे भावों और प्रभावशाली विचारों से भरी हुई हैं, वह मनोभावों का कल्पनात्मक चित्र बड़ी सुन्दरता और कोमलता से प्रस्तुत करते हैं। उन्हें स्वयं इस बात पर गर्व था कि वह अतिशयोक्ति से काम नहीं लेते तदापि उनकी कवितायें हृदयंगम हो जाती हैं। ग़ालिब, मोमिन और हाली सब काव्य के सम्बन्ध में उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं। कुछ शेर उदाहरण के लिये दिये जाते हैं :—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ़ता।
एक आग सी है सीने के अन्दर लगी हुई॥

× × ×

वह शेफ़ता, कि धूम थी हजरत के ज़ुहद[1] की।
मैं क्या कहूँ कि रात मुझे किस के घर मिले॥

× × ×

हज़ार दाम[2] से निकला हूँ एक ज़ुम्बिश[3] में।
जिसे ग़ुरूर हो, आए करे शिकार मुझे॥

× × ×

इज़हारे-इश्क़[4] उससे न करना था शेफ़ता।
यह क्या किया कि दोस्त को दुश्मन बना दिया॥

× × ×

१—पवित्रता, २—जाल, ३—तड़प, ४—प्रेम प्रगट करना,

किसलिए लुत्फ़[1] की बातें हैं फिर।
क्या कोई और सितम[2] याद आया॥

"मजरूह", जिनका नाम मीर मेहदी था, ग़ालिब के बड़े प्रिय शिष्य थे। पानीपत में रहते थे पर ज्यादा समय दिल्ली में बीतता था। ग़ालिब ने उनके नाम बहुत से पत्र लिखे हैं जिनसे दोनों की मित्रता और सम्बन्ध का पता चलता है। ग़दर के कुछ दिन बीतने के बाद वह महाराजा अलवर के यहाँ नौकर हो गए और अन्तिम आयु में रामपुर चले आए, वहीं अपने काव्य-संग्रह का सम्पादन किया, जो सन् १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ। मजरूह ने एक लम्बी आयु पाई और बहुत बूढ़े होकर १९०२ ई० के लगभग परलोक सिधारे। उनकी भाषा दिल्ली की शुद्ध बोलचाल की भाषा है, पर वह उसी सरल भाषा में अच्छे-अच्छे शेर लिख लेते थे। मौलाना हाली जो उर्दू के बहुत बड़े आलोचक थे मजरूह की प्रशंसा करते थे। उदाहरण के लिए यह शेर देखिये :—

सब्र के फ़ायदे बहुत हैं वले[3]।
दिल ही बस में नहीं तो क्या कीजे॥

× × ×

दिल को कोई बचा सके क्योंकर।
उसके अन्दाज़ हैं क़यामत के॥

× × ×

दिल ही समझे है कुछ तड़प को मेरे।
बर्क़[4] में लुत्फ़े-इजतराब[5] कहाँ॥

"नसीम", जिनका नाम असग़र अली खाँ था दिल्ली के रहने वाले थे और मोमिन के मुख्य शिष्यों में गिने जाते थे। खाते-पीते परिवार से सम्बन्ध रखते थे और कवि-सम्मेलन बड़े समारोह से करते थे। पिता

१—कृपा, २—अत्याचार, ३—परन्तु, ४—बिजली ५—व्याकुलता का आनन्द

की मृत्यु के बाद भाइयों से अनबन हो गई और वह लखनऊ चले आए, यहाँ बड़ा नाम पैदा किया और बहुत से शिष्य एकत्र कर लिए। ग़दर के समय लखनऊ ही में थे और अपनी जन्म भूमि से दूर दीनता के साथ जीवन बिताते थे। नवलकिशोर प्रेस में अलिफ़लैला की कहानियों को पद्यात्मक रूप में परिवर्तित करने के लिए नौकर हो गए थे मगर उसे पूरा न कर सके और बाद में मुंशी तोता राम ने उसे अन्त तक पहुँचाया। लखनऊ में रहकर वह बड़े गर्व से दिल्ली की भाषा और काव्य-शैली का प्रचार करते थे पर आलोचकों का विचार है कि उन पर लखनऊ की भाषा का प्रभाव भी पड़ा था। उनकी काव्य-शैली पर मोमिन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उनका काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुका है पर साधारणतः लोग उनसे परिचित नहीं हैं। उनसे अधिक उनके एक शिष्य अमीरुल्लाह "तसलीम" को यश प्राप्त हुआ। उनके दो शेर यह हैं:—

नाम मेरा सुनते ही शर्मा गए।
तुमने तो ख़ुद आपको रुसवा[1] किया॥

× × × ×

जब देखिए करार[2] नहीं एक हाल पर।
मेरा सा अब तो हाल हुआ रोजगार[3] का॥

दिल्ली ही के एक और कवि "ज़हीर" थे। १४ वर्ष की आयु में ज़ौक़ के शिष्य हो गए थे और ग़दर के ज़माने तक दिल्ली ही में रहे, उसके पश्चात जीविका की खोज में मारे मारे फिरे, चार वर्ष रामपुर में, चार वर्ष अलवर में, १६ वर्ष जयपुर में, १५ वर्ष टोंक में और अंतिम दिनों में हैदराबाद में रहे। ज़हीर विशेषकर ग़ज़लें लिखते थे परन्तु जो कवि इतने दरबारों की सेवा कर चुका हो उसके लिए क़सीदा लिखना अनिवार्य है। ज़हीर ने बहुत से क़सीदे और अन्य प्रकार की कविताएं भी लिखीं, पर उन्होंने ग़ज़लों ही के कारण ख्याति प्राप्त की। उन्होंने अपने ४ संग्रह तैय्यार कर लिए थे जिनमें से ३ प्रकाशित हो चुके हैं।

ज़हीर थे तो ज़ौक़ के शिष्य पर उनकी कविता में मोमिन का

१—निन्दित, २—स्थिर, ३— ज़माना, युग, संसार

रंग झलकता है मोमिन की भाँति ही वह भी प्रेम के अनुभवों और मनोभावों को बड़ी सुन्दरता और कोमलता से प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा फ़ारसी-मिश्रित होते हुए भी सरल है। ज़हीर के छोटे भाई "अनवर" भी एक अच्छे कवि थे, पहिले ज़ौक़ को अपनी कविताएं दिखाते थे फिर ग़ालिब को दिखाने लगे। दिल्ली के बड़े अच्छे और लोकप्रिय कवि माने जाते थे। ग़दर के बाद वह भी जयपुर चले गए थे पर युवावस्था में उनका देहांत हो गया। कहा जाता है कि उनके भी दो काव्य-संग्रह थे जो नष्ट हो गए मगर "रुमखानए-जावेद" के प्रसिद्ध लेखक लाला श्रीराम ने उनकी कविताओं को खोज कर एकत्र किया और एक छोटा सा संग्रह प्रकाशित करा दिया था। उनकी ग़ज़लों पर भी ज़हीर की भाँति मोमिन और ग़ालिब का प्रभाव अधिक मालूम होता है।

वैसे तो दिल्ली कवियों से भरी हुई थी और सहस्रों कवि साहित्य निर्माण में लगे हुए थे, पर उसके अंतिम युग में जो यश "दाग़" ने प्राप्त किया वह किसी और को नहीं मिला। दाग़ का नाम नौब्वाब मिर्ज़ाख़ाँ था। वह फ़ीरोज़ापुर के प्रसिद्ध अमीर नौब्वाब शम्सुद्दीन के पुत्र थे अभी केवल ६ वर्ष के थे कि पिता का देहान्त हो गया और उनकी विधवा माता ने दिल्ली के अंतिम बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र के पुत्र मिर्ज़ा फ़ख़रू से विवाह कर लिया। इस प्रकार दाग़ का ग़दर तक का जीवन राज भवन में बीता। वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और वहीं काव्य रचना का आरम्भ हुआ। दिल्ली के क़िले में उस समय ज़ौक़ का बोल बाला था। बादशाह, शहज़ादे और शहज़ादियाँ सब उन्हीं के शिष्य थे, इसलिये दाग़ भी अपनी कविताएं उन्हीं को दिखाने लगे। जब ग़दर में मुग़ल परिवार का विनाश हो गया तो दाग़ अपने परिवार को लेकर रामपूर चले आए। वहाँ उन्हें एक नौकरी दे दी गई और २४ वर्ष तक बड़ी शान से वहीं अपना जीवन बिताया। रामपूर में उनका ऐसा आदर सत्कार हुआ और भोग विलास के ऐसे अवसर मिले कि वह उसको आरामपूर कहते थे। रामपूर के नौब्वाब कल्बे अली खाँ, जो दाग़ को बहुत प्रिय रखते थे जब सन् १८८६ ई० में चल बसे तो दाग़ भी वहाँ से निकल पड़े। कुछ दिन लखनऊ, पटना और कलकत्ता में रहे, कुछ समय दिल्ली में बिताया, हर जगह उनका सम्मान किया गया पर वह सन् १७८८ ई० में हैदराबाद चले गए। इसी बीच में वह जहाँ कहीं भी गए वहाँ उनके बहुत से शिष्य हो गए। आरम्भ में हैदराबाद में उनकी

कुछ अधिक पूछ-गछ न हुई और वह दिल्ली लौट आए, परन्तु सन् १८९१ ई० में हैदराबाद के निज़ाम महबूब अली खाँ ने उन्हें बुला भेजा और एक हज़ार मासिक वेतन नियुक्त किया। सन् १९०५ ई० तक वह हैदराबाद ही में रहे और वहीं उनका अंत हुआ। हैदराबाद के दरबार से उनको कई उपाधियां भी मिलीं। दाग़ को जो सम्मान हैदराबाद में प्राप्त हुआ वह विरला ही किसी कवि को प्राप्त हुआ होगा।

दाग़ केवल एक कवि ही न थे बल्कि बड़े हँसमुख, हास्यप्रिय, मानव-प्रेमी भी थे। वह मित्रों के साथ नम्रता का व्यवहार करते पर धन सम्पत्ति वालों के सम्मुख स्वाभिमानी बन जाते थे, इसी कारण से जब उर्दू कविता का रंग बदल रहा था उस समय भी वह बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उनके सहस्त्रों शिष्यों में बहुधा तो ऐसे थे जो केवल पत्र-व्यवहार करके अपनी कविताएं उनसे ठीक करा लिया करते थे। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में दकन के निज़ाम, डाक्टर इक़बाल, "सायल" (जो उन के दामाद भी थे), "बेख़ुद", "अहसन", "नूह", "आग़ा शायर", "सीमाब" अकबराबादी, बहुत प्रसिद्ध हैं और इनमें से कई तो स्वयं सहस्त्रों शिष्य रखते हैं।

दाग़ ने अपनी ग़ज़लों के ४ संग्रह तैय्यार किये थे जिनके नाम हैं, "गुलज़ारे-दाग़", "आफ़ताबे-दाग़" "महताबे-दाग़" और "यादगारे-दाग़।" इनके अतिरिक्त उनकी एक मसनवी "फ़रियादे-दाग़" और पत्रों का एक संग्रह "इन्शाए-दाग़" भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके काव्य-संग्रहों में क़सीदों और छोटी छोटी कविताओं को छोड़कर अधिकतर ग़ज़लें हैं और वह ग़ज़ल ही के एक महान कवि माने जाते हैं। दाग़ के पहिले दो संग्रह गुलज़ारे-दाग़ और आफ़ताबे-दाग़ रामपूर ही में प्रकाशित हो चुके थे। इनमें जो ग़ज़लें हैं वह बड़ी रंगीन, मधुर और भावपूर्ण हैं, उनमें चुलबुलापन और छेड़छाड़, विनोद और हास्यरस फूटा पड़ता है। उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि किसी निश्चिन्त युवक ने जो जीवन के आमोद-प्रमोद और विलास में डूबा हुआ है, अपने हार्दिक भावों का चित्रण बड़े स्पष्ट रूप से किया है। दिल्ली की बोलचाल की भाषा, मुहावरों का सुन्दर प्रयोग और प्रेम भावों का खुला खुला वर्णन दाग़ से अधिक और किसी के यहाँ नहीं मिल सकता। दाग़ में गम्भीरता नहीं है। वह अपने मनोभावों को छिपाना नहीं जानते। प्रेम और शृंगार के अतिरिक्त दूसरे भावों का

उल्लेख उनके यहाँ बहुत कम है। बाद की कविताओं में कहीं कहीं तसौव्वुफ़, नैतिक सिद्धान्त और जीवन की अन्य समस्याओं पर भी कुछ विचार मिल जाते हैं परन्तु वहाँ दाग़ दाग़ नहीं रह जाते। उनके प्रेम भावों में भी गहराई नहीं है, और कभी कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि वह केवल किसी वाक्य या मुहावरे के लिये शेर लिखते थे। उर्दू के आलोचकों ने दाग़ का मूल्यांकन करने में बड़ा मतभेद प्रगट किया है परन्तु सच यह है कि दाग़ जिस सामाजिक पतन और भ्रष्ट वातावरण में अपना जीवन बिता रहे थे उसमें दार्शनिक तत्व, गूढ़ ज्ञान और ऊँचे आदर्श के लिये स्थान ही नहीं था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने निराशावादिता के विरुद्ध एक प्रकार की आशावादिता का प्रचार किया और जीवन को आत्मघात से बचाने के लिए मनोरंजन और ठटोल की ओर संकेत किया। उस निराशावादी युग में प्रेम की भावनाओं को आदर्शवादी होने से बचा लेना एक बड़ा काम था और दाग़ जो वास्तविक जीवन में प्रेम के खेल खेल चुके थे इसमें सफल हुए वह उर्दू के उन लोक प्रिय कवियों में से हैं जिनकी ग़ज़लें सभी प्रकार के लोग पढ़ते और आनन्द उठाते हैं। उनकी लोकप्रियता का मर्म, उनके सामान्य और साधारण विचारों को सरल, शुद्ध, मधुर और भावपूर्ण भाषा में प्रगट कर देने में है। कला की दृष्टि से यह बात हर कवि को प्राप्त नहीं होती और दाग़ चाहे कुछ भी न हों एक बड़े कलाकार अवश्य हैं। उदाहरण के लिए उनके कुछ शेर प्रस्तुत हैं:—

शबे-वस्ल[1] ज़िद[2] में बसर हो गई।
नहीं होते होते सहर हो गई॥

लगाते हैं दिल उससे, अब हारजीत।
इधर हो गई या उधर हो गई॥

बुरे हाल से या भले हाल से।
तुम्हें क्या, हमारी बसर हो गई॥

× × ×

१—मिलन की रात, २—हठ,

इधर आईना है उधर दिल है।
जिसको चाहा उठा के देख लिया॥

× × ×

बुत को बुत और खुदा को जो खुदा कहते है।
हम भी देखें तो उसे देखके क्या कहते हैं॥
हम तसौव्वुर[1] में भी जो बात ज़रा कहते हैं।
सब में उड़ जाती है ज़ालिम इसे क्या कहते हैं॥
पहले तो दाग की तारीफ[2] हुआ करती थी।
अब खुदा जाने वह क्यों उसको बुरा कहते हैं॥

× × ×

दाग़ का नाम सुन के वह बोले।
आदमी का यह नाम होता है?॥

× × ×

न जाना कि दुनिया से जाता ह कोई।
बहूत देर की मेहरबां आते आते॥

× × ×

पयामी[3] कामयाब आए न आए।
खुदाजाने जवाब आए न आए॥
शुमार[4] अपनी खताओं[5] का बतादूँ।
तुम्हें शायद हिसाब आए न आए॥
पियूगा आज साक़ी ;सेर होकर।
मयस्सर फिर शराब आए न आए॥

× × ×

१—कल्पना, २— प्रशंसा, ३—दूत, ४— सं या, —अपराधों,

इतनी ही तो बस कसर हैं तुम में।
कहना नहीं मानते किसी का॥

लखनऊ की नस-नस में कविता का रस घुल चुका था। बड़े कवियों का जन्म लेना बन्द हो चुका था पर आतिश और नासिख के शिष्य और इन शिष्यों के शिष्य कविता को एक शब्दाडम्बर बनाकर जीवित रक्खे हुये थे। इसमें से कभी कभी वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ भी उत्पन्न हो जाती थीं। बात यह थी कि अवध के नौव्वाब और बादशाह उस भारतीय रंग में डूब चुके थे जहाँ एक सामान्य सभ्यता जन्म लेती है। यहाँ के हिन्दू मुसलमान सभी बड़ी उत्सुकता से सांस्कृतिक जीवन के प्रदर्शन में भाग लेते थे। अगर मुसलमान होली और दीवाली मनाते थे तो हिन्दू मुहर्रम के त्यौहार में सच्चे दिल से भाग लेते थे। इसका एक बड़ा कारण यह मालूम होता है कि अवध के बादशाहों ने हिन्दू मुसलमानों में कभी भेदभाव नहीं किया और ऊंचे से ऊंचे पद पर हिन्दुओं को भी उसी प्रकार रक्खा जैसे मुसलमानों को। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों के धार्मिक जीवन में बड़ा अन्तर था। पर रहन-सहन, रीति-नीति और आहार-व्यवहार में ऐसी समानता पैदा हो रही थी जो उन्हें एक परिवार के रूप में संगठित कर रही थी। आसिफ़ुद्दौला के होली खेलने पर कई कवियों और लेखकों ने रचनाएँ की हैं। हिन्दू लेखकों ने मुसलमान धर्म और जीवन के बारे में अपने विचार प्रगट किए हैं। राजा टिकैतराय, महाराजा झाऊलाल, राजा नवलराय, राजा खुशहालराय, टीकाराम "तसल्ली", मंगलसेन "उलफ़त" कुंवरसेन "मुज़्तर", बख़्शी भोलानाथ यहाँ के जीवन पर उसी प्रकार छाए हुये थे जिस प्रकार कोई मुसलमान हो सकता था। यहाँ के जीवन का विस्तार में अध्ययन किया जाए तो उन सोत्रों का पता मिल सकेगा जिन्हों ने यह स्थिति पैदा की थी।

बादशाह स्वयं कला-कौशल और साहित्य में इतनी दिलचस्पी लेते थे और विद्वानों का संरक्षण और आदर इस प्रेम से करते थे कि उन्हें बढ़ावा मिलता था, पर दुर्भाग्य से सारा जीवन भ्रष्टाचार से भरा हुआ था। आगे बढ़ने के सारे रास्ते बन्द थे इसलिये यह कवि और लेखक अंधेरे में अपनी कल्पनाओं के सहारे जी रहे थे। सआदत अलीखाँ, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर, नसीरुद्दीन हैदर सब स्वयं कवि थे और उनके दरबारों में कवियों

का सम्मान होता था। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरुद्दीन हैदर के युग में विज्ञान की किताबों के अनुवाद हुए, नये छापेख़ाने खुले और विज्ञान की एक प्रयोगशाला खोली गई जिसमें ज्योतिष और दूसरे विज्ञानों पर काम होता था। मुहम्मद अली शाह और अमजद अली शाह भी विद्वानों का सम्मान करते थे पर उनका विशेष प्रेम धर्म से था, अतएव धार्मिक साहित्य को उनके युग में ख़ूब प्रोत्साहन मिला।

सन् १८४७ ई० में वाजिदअली शाह २० वर्ष की आयु में अवध के राजसिंहासन पर बैठे। उनके युग और जीवन के बारे में बहुत सी भ्रम फैलाने वाली बातें मशहूर हो गई हैं जिन्हें इतिहास के जानकार ठीक नहीं समझते और यहाँ उनके उल्लेख का अवसर भी नहीं। पर इतना जानना आवश्यक है कि अवध के इस अंतिम बादशाह ने बहुत सी बाधाओं के होते हुवे भी कला-कौशल की उन्नति में भाग लिया। उस समय के संकट को देखते हुए इसे भोग-विलास भी कहा जा सकता है। पर सच यह है कि वाजिदअली शाह को साहित्य और कला-कौशल से हार्दिक प्रेम था। यहाँ तक कि मटियाबुर्ज में बंदी बना दिए जाने के पश्चात् भी वह उनसे दिलचस्पी लेते रहे। वाजिदअली शाह का उपनाम "अख्तर" था। फ़ारसी और उर्दू गद्य और पद्य में लगभग उन्हों ने सौ पुस्तकों की रचनाएँ कीं। इनके अतिरिक्त अवधी में दादरे और ठुमरियाँ भी लिखीं। उनके ६ काव्यसंग्रह, बहुत सी मसनवियाँ, मर्सियों के कई संग्रह और क़सीदे मिलते हैं। संगीत, कला और सैनिक संगठन पर भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं।

वाजिदअली शाह 'अख्तर' को काव्य-रचना की कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो उनको उस समय के लखनऊ के साधारण रंग से अलग कर सके। यह बात अवश्य है कि उनकी ग़ज़लें और मसनवियां आप-बीती का प्रतिबिम्ब होने के कारण बड़ी रोचक और प्रभावशाली हो गई हैं। उनके पत्रों और दूसरी रचनाओं के अध्ययन से कभी-कभी उस समय की राजनीतिक स्थिति का पता भी चल जाता है। "अख्तर" को बड़ा कवि नहीं कहा जा सकता पर उनकी सभी रचनाओं का अध्ययन करने के बाद यह मानना पड़ता है कि उनमें एक कलाकार की आत्मा थी जिसे अवकाश मिलता तो कोई महत्वपूर्ण कार्य भी कर सकती थी।

लखनऊ की काव्य-रचना का साधारण रूप वही था जो उससे कुछ दिन पहिले रह चुका था, फिर भी कुछ कवियों ने उन

परम्पराओं को सुन्दरता देकर शक्तिशाली बनाया जो पतन की ओर बड़े वेग से अग्रसर थीं। यहाँ के प्रसिद्ध कवियों में "मुनीर" शिकोहाबादी थे जो नासिख, रश्क और दबीर के शिष्य थे और हर प्रकार की कविताएँ बड़ी सुविधा से लिख सकते थे। सन् १८५७ ई० के संघर्ष में, जिसको ग़दर कहा जाता है, उनको भी बाग़ी समझ कर काले पानी की सज़ा दी गई और जब एक लम्बी सज़ा काटकर वह लौटे तो थोड़े दिनों के बाद १८८१ ई० में उनका देहान्त हो गया। उनके विचार जो कुछ भी रहे हों पर उनकी काव्य-रचना परिपाटी और रीति में इस प्रकार घिरी हुई थी कि उसमें उनके प्रगतिशील विचारों का पता नहीं चलता। उस समय के दूसरे कवियों की भाँति वह भी शब्दों, मुहावरों और अलंकारों के चक्कर में फँसे हुए थे। कविताओं के तीन संग्रहों के अतिरिक्त एक मसनवी भी लिखी है जिसमें धार्मिक नेताओं के चमत्कारों का उल्लेख बड़ी सुन्दरता से किया है। एक स्थान पर बनारस की सुबह का ऐसा सुन्दर चित्र खींचा है जो उर्दू-काव्य में सदैव अपना स्थान रक्खेगा। उनकी ग़ज़लों के कुछ शेर यह हैं:—

गई चोर की तरह छिप कर जवानी।
दग़ा दे के घर से यह मेहमान निकला॥

× × ×

वह बेख़बर है शर्म से, हम पायमाल[1] हैं।
हैरत[2] है काम आएगी नीची निगाह कब॥

× × ×

ग़ुर्बत[3] में किससे चश्मे-करम[4] की उम्मीद हो।
आँखें चुरा रहा है ज़माना ग़रीब[5] से॥

× × ×

१—पददलित, २—आश्चर्य, ३—यात्रा की दशा, ४—कृपा की दृष्टि, ५—यात्री और दरिद्र

सबको इब्रत[1] हो गई मेरी मुसीबत देखकर।
हमसे ऐ बुत तू फिरा, तुझसे खुदाई फिर गई॥

× × × ×

की तर्क[2] मैंने शेख़ो-बरहमन की पैरवी[3]।
दैरो-हरम[4] में मुझको तेरा नाम ले गया॥

लखनऊ के इस युगमें एक ऐसा काव्य भी मसनवी के रूप में लिखा गया जो सदैव मानव-हृदय को प्रभावित करता रहेगा। हकीम तसद्दक़ हुसैन जो नौव्वाब मिर्ज़ा के नाम से संबोधित किए जाते थे और कविताओं में अपना नाम "शौक़" लिखते थे, लखनऊ के एक अच्छे कवि गिने जाते थे। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं पर ग़ज़लों से अधिक वह अपनी मसनवियों के लिए प्रसिद्ध हैं। विशेषकर उनकी मसनवी "ज़हरे-इश्क़" सहस्रों बार प्रकाशित होकर लोगों को तड़पा चुकी है। शौक़, आतिश के शिष्य थे परन्तु ज़हरे-इश्क़ उस युग के साधारण रँग से बिलकुल अलग है। इसमें प्रेम की एक सच्ची कहानी बड़े सुन्दर, मनोरंजक, सरल और भावुक ढंग से कही गई है। प्रेम की जिन भावनाओं का चित्रण इस मसनवी में किया गया है वह सदा-बहार हैं। इसकी वास्तविकता और सादगी दो ऐसे गुण हैं जो उस समय की और कविताओं में नहीं पाए जाते हैं। इसमें वह वातावरण भी है जो एक विलासयुक्त और पतनशील समाज में प्रगट होता है और वह सच्चाई भी है जो अमर है। कुछ आलोचकों ने इसे अश्लील भी बताया है पर उनकी भूल है क्योंकि वह अश्लीलता और वास्तविकता के अन्तर का ज्ञान नहीं रखते यह उर्दू की उन जीवित रहने वाली पुस्तकों में से है जो अपनी साहित्यिक सुन्दरता के कारण सदैव जीवित रहेंगी। यह एक संगठित कहानी है और उदाहरण के लिए कुछ शेर लेने से इसकी विशेषताओं का अनुभव नहीं किया जा सकेगा।

इस समय लखनऊ में सैकड़ों नहीं बल्कि सहस्रों छोटे-बड़े कवि मौजूद थे और एक विस्तृत इतिहास में उनमें से बहुत से जगह पाएंगे

१—उपदेश के साथ आश्चर्य भी, २—छोड़ना, ३—अनुसरण, ४—मन्दिर और काबा

पर यहाँ दो ही चार का उल्लेख हो सकता है। "असीर" अ ानत", 'क़लक़", "ज़की", "क़ाज़ी अख़्तर", "तअश्शुक़", "रशीद", "अमीर", और "जलाल" इत्यादि अपने-अपने स्थान पर बड़ा महत्व रखते हैं। यहाँ केवल अमीर, जलाल और अमानत के बारे में कुछ शब्द कहे जा सकते हैं।

मुंशी अमीर अहमद 'अमीर' मीनाई सन् १८२८ ई० में लखनऊ में पैदा हुए और यहीं शिक्षा प्राप्त की। उस समय जो उच्च-कोटि की शिक्षा प्रचलित थी उन सब में अमीर निपुण थे। यहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों और धार्मिक नेताओं से उनका सम्बन्ध था। वह बाल-पन ही से कविताएँ लिखिते थे और यहाँ के प्रसिद्ध कवि "असीर" के शिष्य थे। असीर ही के द्वारा लखनऊ के दरबार तक पहुँच हुई पर यह वाजिदअली शाह का अंतिम युग था और अभी केवल ४ वर्ष भी बीतने न पाए थे कि ग़दर हो जाने के कारण दरबार से उनका सम्बन्ध टूट गया। उन्होंने दो ग्रंथ बादशाह के कहने पर लिखे थे, इससे उनका नाम दूर-दूर फैला और उनको पुरस्कार इत्यादि भी प्राप्त हुए। कुछ दिन बेकार रहने के बाद उन्होंने रामपुर की राह ली जहाँ के नौव्वाब यूसुफ़ अली ख़ाँ, लखनऊ और दिल्ली के कवियों का अंतिम आश्रय बने हुए थे। रामपुर में अमीर मीनाई का समय बड़ी शांति और आराम से बीता। नौव्वाब ने उनको अपना उस्ताद भी बना लिया। एक विद्वान, लेखक, कवि और महान् पुरुष होने के नाते छोटे-बड़े सभी उनका आदर करते थे। इस प्रकार ४३ वर्ष उन्होंने रामपुर में बिताये। सन् १६०० ई० में निज़ाम हैदराबाद ने दाग़ के कहने पर उनको अपने दर-बार में बुला लिया। अमीर मीनाई वहाँ गए भी पर अभी कुछ महीने भी न बीते थे कि हैदराबाद ही में परलोक वासी हुए।

अमीर मीनाई सभ्यता, गम्भीरता और परोपकार की मूर्ति थे। सचाई और सहानुभूति उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह कभी किसी की निन्दा न करते थे। विद्या, शिक्षा और अन्य गुणों के साथ उनमें इतनी नम्रता थी कि नौव्वाब से लेकर छोटे-छोटे कर्मचारियों तक सभी उनके पास बैठ कर आनन्द प्राप्त करते थे। साहित्यिक प्रश्नों का उत्तर बड़े प्रसन्न-चित्त से देते थे और कट्टर-पंथी हुए बिना अपने धर्म का पालन सच्चे हृदय से करते थे। उनके शिष्य सैकड़ों से अधिक बताए जाते हैं पर इन में रामपुर के नौव्वाबों के अतिरिक्त "रियाज़", "जलील"

"वसीम", "मुहसिन", "सफ़दर", "दिल", "मुज़्तर", "हफ़ीज़", "आह", "अख़्तर", और "क़मर" इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इन में से कई तो स्वयं बहुत बड़े कवियों में गिने जाते हैं। अमीर मीनाई के पुत्रों ने भी काव्य-रचना की है और उनके परिवार के लोग अब तक उर्दू साहित्य की सेवा में लगे हुए हैं।

अमीर मीनाई ने गद्य और पद्य दोनों में बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। कहा जाता है कि उनकी कुछ रचनायें ग़दर में और कुछ घर में आग लग जाने के कारण नष्ट हो गईं फिर भी जो मौजूद हैं उनकी संख्या २० से ऊपर पहुँचती है। सब से अधिक प्रसिद्ध तो इनकी ग़ज़लों के दो संग्रह हैं जिनका नाम "मिरातुल-ग़ैब" और "सनमख़ानए-इश्क़" है। एक तीसरा संग्रह भी है जो अब तक प्रकाशित नहीं हो सका। उन्होंने बहुत सी धार्मिक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें अधिकतर इस्लाम के पैग़म्बर की प्रशंसा में हैं। प्रेमरस से भरी हुई कई मसनवियाँ और अन्य कविताएँ हैं। गद्य में "इन्तख़ाबे-यादगार" कवियों का एक तज़किरा है जिसमें रामपुर के दरबार से सम्बन्ध रखने वाले कवियों और लेखकों की जीवन कथा और रचनाओं के उदाहरण दिये गए हैं। उनकी सबसे महत्वपूर्ण कीर्ति वह प्रसिद्ध शब्द-कोष है जिसके केवल दो भाग "अमीरुल्लुग़ात" के नाम से प्रकाशित हुए थे। अमीर मीनाई ने यह शब्द-कोष बड़े विस्तृत ढंग से लिखने का निश्चय किया था। प्रकाशित भागों में केवल पहिले अक्षर "अलिफ़" से आरम्भ होने वाले शब्द दिये गए हैं। सच यह है कि अमीर मीनाई के ज्ञान का अनुमान उनकी कविताकों से नहीं वरन इस शब्द-कोष से लगाया जा सकता है। उनके कई शिष्यों ने उनका जीवन चरित्र लिखा है जिससे उनके बारे में बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है वह एक बड़े विद्वान और महान पुरुष थे पर काव्य-संसार में उनका नाम केवल उनकी ग़ज़लों के कारण जीवित है। अपने जीवन का बड़ा भाग रामपुर में व्यतीत करने पर भी अमीर-मीनाई लखनऊ के कवियों में गिने जाते हैं और उसी दृष्टि से दाग़ से, जो दिल्ली के कवि थे, उनकी तुलना की जाती है। अब तक लखनऊ के कवियों और कविता का जो उल्लेख हो चुका है उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि लखनऊ की कविता कहकर किन विशेषताओं की ओर संकेत किया जाता है इसलिए यहाँ उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं

फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि धीरे-धीरे लखनऊ और दिल्ली की शैलियों का मतभेद मिट रहा था और रामपुर में दोनों केन्द्रों के कवि एकत्र होकर एक नई शैली को जन्म दे रहे थे जो अपनी भावुकता की दृष्टि से लखनऊ के निकट थी। अमीर मीनाई की ग़ज़लों का पहिला दीवान मिरातुल-ग़ैब लखनऊ के बिगड़े हुए रंग का नमूना है। इसमें वास्तविक भावनाओं के स्थान पर बनावटी भावों और अलंकारों की भरमार है पर दूसरे संग्रह, सनमख़ानए-इश्क़ में उनकी कविता नई दिशाओं में प्रवेश करती है। इसमें मधुर, सरल और सुन्दर ग़ज़लें बड़ी संख्या में मिलती हैं। भावुकता कुछ गंभीर हो गई है और अलंकारों के प्रयोग में पिछली सी बनावट नहीं है। कहा जाता है कि यह दूसरा संग्रह दाग़ की रचना - शैली से प्रभावित होकर तैय्यार किया गया था। अमीर मीनाई की कविता में कहीं-कहीं तसौव्वुफ़ भी मिलता है, नैतिक उपदेशों को भी अपने विचारों में जगह दी है परन्तु प्रेम रस में डूबी हुई ग़ज़लों में जो मज़ा और आनन्द मिलता है वह उनकी दूसरी कविताओं में नहीं मिलता। विद्वान होने के कारण वह भाषा-विज्ञान, काव्य-शास्त्र और शब्दों के शु .योग में निपुण थे और जिस प्रकार दाग़ को दिल्ली की भाषा के लिये प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार अमीर मीनाई को लखनऊ के लिए। उस समय की समस्त काव्य रचनाएँ दार्शनिक गंभीरता से वंचित थीं तो अमीर मीनाई के यहाँ किसी प्रकार की गहराई कैसे पैदा हो सकती थी, जबकि वह लखनऊ, रामपुर और हैदराबाद के दरबारी वातावरण से कभी बाहर न निकल सके। उन्होंने अपने पत्रों में भी जिनका संग्रह प्रकाशित हो चुका है—काव्य रचना के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किए हैं उनसे भी यही प्रतीत होता है कि वह रीति-गति से बाहर कुछ और सोच ही नहीं सकते थे। उनके कुछ शेर उदाहरण के लिये यहाँ दिये जाते हैं:—

आई सहर[1] इधर कि उधर शाम हो गई।
दो-दो घड़ी को होने लगे दिन विसाल[2] के॥

× × ×

१—प्रातः काल, २—मिलन

उनको आता है प्यार पर ग़ुस्सा।
हमको ग़ुस्से प प्यार आता है॥

× × ×

मैं जाग रहा हूँ हिज्र[1] की शब[2]।
पर मेरा नसीब सो रहा है।

× × ×

तीर खाने की हवस[3] है तो जिगर पैदा कर।
सरफ़रोशी[4] की तमन्ना है तो सर पैदा कर॥

× × ×

लचक है शाखों[5] में जुम्बिश[6] हवा से फूलों में।
बहार झूल रही है खुशी से झूलों में॥

× × ×

क्या कहें इश्क़ में क्या मिलता है।
बुत[7] के मिलने से खुदा मिलता है॥

× × ×

जो निगाह की थी ज़ालिम तो फिर आँख क्यों चुराई।
वही तीर क्यों न मारा जो जिगर के पार होता॥

× × ×

हम चले दैर[8] से काबे[9] को, तो वह बुत बोला।
जाके ले लीजिये काबे में खुदा रक्खा है॥

लखनऊ के एक और प्रसिद्ध कवि सैय्यद ज़ामिन अली "जलाल"

१—विरह, २—रात, ३—इच्छा, ४—बलिदाद, ५—डालियों, ६—हिलना ७—मूर्ति अर्थात् प्रेमिका, ८—मंदिर, ९—मक्के का पवित्र स्थान जहाँ मुसलमान हज को जाते हैं।

हैं। वह हकीम असग़र अली के पुत्र थे जो रामपुर दरबार में कथा-कहानी सुनाने पर नौकर थे। जलाल ने फ़ारसी अरबी की शिक्षा प्राप्त करके लखनऊ ही में हकीमी आरम्भ की। बालपन ही से कविताएं लिखते थे और नासिख़ के प्रसिद्ध शिष्य रश्क को अपनी कविताएं दिखाते थे। थोड़े ही समय में उन्होंने बड़ा यश प्राप्त कर लिया और उस्ताद माने जाने लगे। ग़दर के पश्चात् नौव्वाब यूसुफ़ अली ख़ाँ ने उन्हें रामपुर में बुला लिया। जलाल की बढ़ी हुई भावुकता ने उन्हें कई दफ़ा नौकरी छोड़ने पर मजबूर किया, पर नौव्वाब ने प्रत्येक बार उनको बुला-कर फिर अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। इस तरह वह लगभग २० वर्ष तक रामपुर में रहे और रामपुर दरबार के चार प्रसिद्ध कवियों में गिने जाने लगे जिनमें से और तीन, दाग़, अमीर और तसलीम थे। सन् १८८७ ई० के लगभग रामपुर से चले आए और कुछ दिन मंगरौल में रहे। वहाँ से लौटकर फिर लखनऊ आए और सन् १९०६ ई० में उनका देहान्त हो गया। जलाल उन्नीसवीं शताब्दी के अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। उनकी कविताओं के चार संग्रह और कई शब्द-कोष प्रकाशित हो चुके हैं। वह काव्य-शास्त्र और भाषा के बहुत बड़े पंडित समझे जाते थे। इस बात पर उस समय के दूसरे कवियों और लेखकों से उनका वादविवाद भी होता रहता था। उनमें अहं-भावना और आत्म-प्रशंसा की इतनी अधिक मात्रा थी कि वह अपने सम्मुख न किसी कवि को कवि और न किसी लेखक को लेखक समझते थे। लेकिन ऐसा नहीं है कि भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सब ठीक ही है। उनकी काव्य-रचना का कुछ भाग बड़ी उच्च-कोटि की कविताओं में रक्खा जा सकता है। उनकी काव्य शैली लखनऊ के साधारण रँग से कुछ अलग थी। शब्दों और अलंकारों के साथ-साथ वह भावनाओं के प्रस्तुत करने की चेष्टा भी करते थे। इसीलिए कुछ आलोचकों का विचार है कि उन पर दिल्ली के कवियों का प्रभाव भी पड़ा था। उनके कुछ शेर उदाहरण के लिए नीचे दिये जाते हैं।

एक क़दम जाना जिधर दुश्वार[1] था।
शौ लेकर सैकड़ों मंज़िल गया॥

× ×

१—दुष्कर,

तुम नाज़ छिपो हमसे मगर छिप नहीं सकते ।
जो दिल में है आंखों से निहाँ[1] हो नहीं सकता ।।

× × ×

तेरे दर पर जो आ पड़े हैं उन्हें ।
भूलकर याद घर नहीं आता ।।
खुद चले आएं वह, न जाएं जो हम ।
सब्र ही तो मगर नहीं आता ।।
आ निकलते हो जिसके ख़ाब[2] में तुम ।
ख़ाब[3] उसे रात भर नहीं आता ।।

लखनऊ के कवियों का यह उल्लेख समाप्त करने से पहिले "अमानत" का नाम लेना आवश्यक है। अमानत का नाम आग़ा हसन था, आरम्भ में मर्सिया लिखते थे पर बाद में ग़ज़लें भी लिखने लगे थे अभी केवल २० वर्ष की आयु थी कि किसी रोग के कारण बोलने की शक्ति लुप्त हो गई। १० वर्ष के बाद आप ही आप बोलने लगे, परन्तु हकलाहट बाक़ी रही। धार्मिक पुरुषों का विश्वास है कि करबला यात्रा करने के लिये गये थे, वहीं यह शक्ति उन्हें वापस मिली। वह सन् १८५८ ई० में परलोक वासी हुए। अमानत की ग़ज़लों का संग्रह, एक "वासोख्त" और कुछ मर्सिये प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु जिस पुस्तक ने उनको अमर बनाया, वह "इन्दर[4] सभा" नाटक है। अमानत की ग़ज़लों में शब्दों और अलंकारों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। वह अलंकारों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि कविता एकमात्र गोरखधंधा मालूम होने लगती है पर "इन्दर सभा" अपना एक विशेष महत्व रखती है। यह उर्दू का पहिला नाटक है जो सन् १८५३ ई० के लगभग तैय्यार हुआ पर दुर्भाग्य से इसके बारे में बहुत से भ्रम फैल गए हैं जो आलोचनात्मक दृष्टि से किसी प्रकार की सच्चाई नहीं रखते। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह के कहने पर अमानत ने यह नाटक लिखा और इसका मूल विचार उनको किसी फ्रांसीसी आपेरा (Opera)

१—लुप्त, छिपना २—स्वप्न, ३—नींद ४—उर्दू उच्चारण यही है,

स मिला था। यह भी कहा जाता है कि यह क़ैसरबाग़[1] में खेला जाता था और वाजिद अली शाह स्वयं इसमें एक पात्र बनते थे। यह समस्त बातें भ्रांतिपूर्ण हैं बल्कि सच यह है कि जिस समय अमानत की बोलने की शक्ति नष्ट हो गई थी अमानत के एक मित्र ने उनसे अनुरोध किया कि बैठे-बैठे जी घबड़ाता है। कोई ऐसा रहस्य तैय्यार करना चाहिये कि दो-चार घड़ी जी बहले। अमानत ने उनकी सम्मति स्वीकार की और यह नाटक लिख डाला। उन्होंने इस नाटक के बारे में एक लेख गद्य में भी लिखा था जो अब मिल गया है और प्रकाशित हो जाने के कारण इस सम्बन्ध में सभी भ्रम दूर हो गए हैं।

इसमें संदेह नहीं कि 'इन्दर सभा' लखनऊ के उस विलास युक्त वातावरण ही में जन्म पा सकती थी, जो चारों ओर राग-रंग से घिरा हुआ था। हिन्दू-मुसलमानों के मेल से यहाँ जो संस्कृति बन रही थी उसका परिणाम भी यही होना चाहिये था। इन्दर सभा में हिन्दुओं के देवता इन्द्र को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है जैसे वह कोई ईरानी या मुग़ल बादशाह हो। ईरान के देव राक्षसों का रूप धारण कर लेते हैं और अप्सराएँ परियाँ बन जाती हैं, जो मुसलमान महिलाओं का वस्त्र पहन कर मंच पर आती हैं। इन्दर सभा में ग़ज़लों के साथ-साथ गीत और ठुमरियाँ भी हैं और उस नाटक का नायक गुलफ़ाम अपने आहार-व्यवहार और बातचीत में अवध का कोई शाहज़ादा जान पड़ता है। वास्तविकता की दृष्टि से यह एक प्रकार की त्रुटि है। पर जो कोई भी इस कल्पनात्मक नाटक का अध्ययन करेगा उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसकी सांस्कृतिक पृष्ट भूमि वही है जो अवध में मिल सकती थी। इसकी भाषा इतनी सरल, गीत इतने मधुर, और कथा इतनी रोचक है कि उस समय की जनता इसे देखकर सब कुछ भूल जाती थी। संगीत और नृत्य पर आधारित यह काव्य-रचना एक विशेष ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व रखती है। इसको देखकर और बहुत सी "सभाएं" लिखी गईं पर कोई सभा इसकी लोकप्रियता को नही पहुँच पाई। इस नाटक में उसी परम्परा का दृश्य दृष्टिगोचर होता है जो नज़ीर की कविताओं, मीर हसन की मसनवी और इन्शा की रचनाओं में मिलती है।

१—लखनऊ का एक प्रसिद्ध भवन, जिसमें वाजिदअली शाह रहते थे।

रामपूर और हैदराबाद के दरबारों का उल्लेख भी संक्षिप्त में करना आवश्यक है, क्योंकि दिल्ली और लखनऊ के दरबारों के अन्त होने के पश्चात् बहुत से कवि और लेखक इन्हीं दोनों स्थानों पर सम्मान प्राप्त करते रहे। रामपूर के नौव्वाब यूसुफ़ अली खाँ का उपनाम "नाज़िम" था। वह पहिले मोमिन को और इसके पश्चात मिर्ज़ा ग़ालिब को अपनी कविताएं दिखाते थे। ग़ालिब और नौव्वाब में जो पत्र-व्यवहार हुआ है वह प्रकाशित हो चुका है, उसके अध्ययन से मालूम होता है कि वह कवियों और विद्वानों से कितना प्रेम रखते थे। उनका काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुका है और उस समय की काव्य-रचना को देखते हुए उनका काव्य-स्तर बहुत साधारण नहीं कहा जा सकता। उनके बेटे नौव्वाब कलबे अली खाँ भी एक अच्छे कवि और कवियों के आश्रयदाता थे। उनका युग रामपुर की उन्नति का स्वर्ण-युग कहा जाता है। उस छोटे से राज्य में जीवन के हर विभाग में उन्नति हो रही थी और अन्य कलाओं के सर्वोत्तम ज्ञाता वर्तमान थे। सभी प्रसिद्ध कवि किसी न किसी प्रकार से रामपुर से सम्बन्ध रखते थे। असीर अमीर, दाग़, जलाल, तसलीम, मुनीर, क़लक़, जानसाहेब इत्यादि बड़े-बड़े वेतन प्राप्त करते थे। नौव्वाब कलबे अली खां ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और कई पुस्तकों की रचना भी की थी। वह फ़ारसी और उर्दू दोनों में निपुण थे और शब्दों के अर्थ और शुद्धता के बारे में विद्वानों से वाद-विवाद किया करते थे। उनके चार काव्य-संग्रह छप चुके हैं और आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। ऊपर कहीं कहा जा चुका है कि रामपुर में दिल्ली और लखनऊ दोनों केन्द्रों की शैलियाँ एक दूसरे में इस प्रकार से मिल गईं कि उनको अलग करना कठिन है। समय भी वह आ गया था कि उर्दू भाषा केन्द्रों के बाहर निकलकर देश के सभी भागों में लोकप्रियता प्राप्त कर रही थी। इसलिए उर्दू साहित्य के इतिहास में रामपुर की यह कीर्ति सराहनीय है कि उसने भाषा-सम्बंधी उस भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न किया जिसने दिल्ली और लखनऊ को दो अलग-अलग सम्प्रदायों में बाँट रक्खा था।

हैदराबाद का राज्य १८ वीं शताब्दी के मध्य में उसी स्थान पर स्थापित हुआ था जहाँ १०० वर्ष पूर्व गोलकुन्डा के नरेश राज्य कर चुके थे। दूसरे अध्याय में वहाँ के साहित्यिक जीवन का चित्र दिया जा चुका है। बीच में कुछ समय के लिए वहाँ साहित्य का उत्साह कुछ मंद पड़

गया था पर स्रोत सूखे नहीं थे और जब नया राज्य स्थापित हुआ जो प्राचीन परम्पराएं पुनर्जीवित हो उठीं। वहाँ के नरेशों ने भी कवियों और अन्य कलाकारों को अपने दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए बुलाया। यह एक मनोरंजन की बात है कि निज़ाम के अतिरिक्त उनके प्रधान मन्त्रियों ने भी कवियों के संरक्षण और आदर-सत्कार में बड़ा भाग लिया था। महाराजा चन्दूलाल "शादाँ" स्वयं एक अच्छे कवि थे और उन्हीं के निमंत्रण पर कई कवि और लेखक हैदराबाद पहुँचे उन्होंने ज़ौक़, नासिख़ और नज़ीर अकबराबादी को भी बुलाया था, पर यह लोग न जा सके। शाह नसीर और दूसरे कवि वहाँ गए और उनका सम्मान हुआ। महाराजा के एक उर्दू और दो फ़ारसी काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कहा जाता है कि उस समय लगभग तीन सौ कवि हैदराबाद में एकत्र हो गए थे। इसी प्रकार राजा गिरधारी प्रसाद "बाक़ी" भी एक अच्छे कवि और कवियों के आश्रयदाता थे। उनकी बहुत सी पुस्तकें मिलती हैं जिनमें अधिकतर फ़ारसी में हैं। हैदराबाद के दूसरे कवियों में "फ़ैज़", "मायल", "तौफ़ीक़" और "कैफ़ी" इत्यादि भी प्रसिद्ध हैं।

पद्य की भाँति गद्य में भी उन्नति हो रही थी। उसकी वास्तविक प्रगति का उल्लेख आधुनिक काल के लेखकों के सम्बन्ध में किया जाएगा। परन्तु इस स्थान पर यह लिख देना आवश्यक है दिल्ली कालिज में उर्दू भाषा की बहुत अधिक चर्चा होने के कारण गद्य की ओर लेखकों की रुचि बढ़ रही थी। फ़ारसी भाषा का गहरा प्रभाव होने पर भी उर्दू साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी। उस समय तक पढ़े-लिखे लोगों में, वे हिन्दू हों या मुसलमान, पत्र-व्यवहार फ़ारसी में करना सभ्यता का चिह्न समझा जाता था पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उर्दू में लिखे हुये पत्र भी मिलने लगते हैं। यह एक विचित्र बात है कि मिर्ज़ा ग़ालिब, जो उर्दू के प्रमुख कवि थे, एक बड़े पत्र लिखने वाले भी माने जाते हैं।

ग़ालिब की जीवन - कथा का उल्लेख हो चुका है। यहाँ केवल उनके उर्दू गद्य के सम्बन्ध में कुछ संकेत किये जाएँगे। ग़ालिब फ़ारसी गद्य के भी एक महान् लेखक थे और यह सच भी है कि भारतवर्ष में फ़ारसी का ऐसा ज्ञान रखने वाले बहुत कम पैदा हुए हैं। परन्तु ग़ालिब को जब फ़ारसी में पत्र- व्यवहार का अवसर नहीं मिलता था तो उर्दू

ही में लिखते थे। कुछ समय बीतने के बाद जब लोगों ने उनके उर्दू पत्रों की प्रशंसा की तो वह अपने अधिकतर मित्रों, शिष्यों और आश्रय-दाताओं को उर्दू ही में लिखने लगे और अन्त में तो यह हो गया था कि उन्होंने फ़ारसी में पत्र-व्यवहार लगभग छोड़ ही दिया था। उनके पत्रों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ न कुछ पत्र अब भी मिलते ही जाते हैं। पत्रों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ पुस्तकों की भूमिकाएं और कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें भी उर्दू में लिखी हैं। इस प्रकार अब तक उनके उर्दू गद्य के जो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं वह यह है, "ऊदे-हिन्दी", "उर्दूए-मुअल्ला" (दो भाग), "मकातीबे-ग़ालिब", "ख़ुतूते-ग़ालिब", "नादिर ख़ुतूते-ग़ालिब", "नामए-ग़ालिब", "लताइफ़े-ग़ैबी", और "तेग़े-तेज़"। अन्तिम तीन पुस्तकें एक साहित्यिक वाद-विवाद के सम्बन्ध में लिखी गई थीं, जिसमें उस समय के बहुत से लेखकों ने ग़ालिब के विरुद्ध या पक्ष में भाग लिया था।

किताबों की जो भूमिकाएं ग़ालिब ने लिखी हैं वह अधिकर उसी बनावटी शैली में हैं जिसमें उस समय की पुस्तकें लिखी जाती थीं। इनका कोई बड़ा महत्व नहीं है। क्योंकि यह अधिकतर मित्रों के अनुरोध पर लिख दी जाती थी और इनमें रीति अनुसार प्रशंसा के कुछ शब्द होते थे और बस।

सन् १८४६ ई० के लगभग ग़ालिब ने उर्दू में पत्र लिखना आरम्भ किया और यही पत्र जो क़लम उठाकर यों ही लिख दिए जाया करते थे आज उर्दू साहित्य का अनमोल रत्न बन गए हैं। उनके पत्रों की संख्या लगभग १,००० तक पहुँचती है, इनसे ग़ालिब के सम्बन्ध में सभी बातें मालूम हो जाती हैं। समय-कालीन इतिहास, राजनीतिक घटनाएं, साहित्यिक वाद-विवाद सभी इनमें जगह पाती हैं। अपने जीवन की प्रत्येक बात उन्होंने दिल खोलकर इन पत्रों में बयान कर दी है। इनमें किसी की प्रशंसा है तो किसी की निन्दा और किसी से सहानुभूति प्रगट की गई है, किसी से विरोध किया गया है, कहीं अहम ने दूसरों को पाताल में पहुँचा दिया है और कहीं किसी की प्रशंसा में धरती और आकाश मिला दिये हैं, कहीं गम्भीर समस्याओं पर विचार प्रगट किए गए हैं और कहीं किसी बड़ी बात को चुटकियों में उड़ा दिया है, किसी स्थान पर धर्म के गूढ़ दार्शनिक तत्व बयान हुए हैं और कहीं कट्टर-पन का ठिठोल किया गया है, कहीं आशावादी बनकर जीवन के

आनन्द उठाने के स्वप्न हैं और कहीं निराशा में मर जाने की इच्छा। इस प्रकार यह पत्र ग़ालिब की आत्म-कथा के साथ-साथ बहुत से और विषयों को अपने घेरे में लिए हुए हैं। कोई आलोचक और लेखक जो उस समय के लोगों को मानसिक स्थिति को समझना चाहता है उसे ग़ालिब के पत्रों में बहुत कुछ मिलेगा।

ग़ालिब एक क्रांतिकारी स्वभाव रखते थे। उन्होंने पत्र व्यवहार के उन सभी नियमों को तोड़ दिया जो मुहम्मद शाह के समय तक प्रचलित थे। वह अपने हृदय की बात पत्र के आरम्भ ही से शुरू कर देते थे और ऐसा जान पड़ता था कि वह, जिस को पत्र लिख रहे हैं, उससे बातें कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि मुझ को मुहम्मदशाही ढंग पसन्द नहीं, पत्रों में मैं तो दिल की बात लिखना चाहता हूँ। वह विशेषता जिसने उनके पत्रों को ऐसा मनोरंजक और लोक-प्रिय बना दिया है वह उनकी विनोद भावना है जो एक रंग के प्रकार सारे पत्र पर फैली हुई मालूम पड़ती थी। सारांश यह कि पत्र उनकी ग़ज़लों की भाँति महत्वपूर्ण हैं। इनकी नवीनता इस समय तक बनी हुई है और कोई लेखक अब तक पूर्णतया उनकी नकल नहीं कर सका है।

ग़ालिब पत्र-व्यवहार के बड़े उत्सुक थे। उस समय डाक का प्रबन्ध अच्छा न था और पत्र खो जाते थे इसलिए वह बहुधा पत्र बैरंग लिखते और मँगाते थे। अपने यश का उन्हें इतना गर्व था कि अगर कोई पता पूछता था तो रुष्ट हो जाते और लिखते कि केवल मेरा नाम और दिल्ली लिख देना काफ़ी है। यहाँ बादशाह से लेकर डाक के हरकारे तक कौन ऐसा है जो ग़ालिब को नहीं जानता। वह पत्र का उत्तर शीघ्र देते और चाहते कि उनके पत्रों का उत्तर भी इसी प्रकार दिया जाए। यह सारी बातें मिल-जुल कर ग़ालिब में एक प्रकार की व्यक्तित्व पैदा करती हैं जो उर्दू के किसी और लेखक को नसीब नहीं हुआ है।

उसी युग में ग़ालिब के एक नातेदार ख़्वाजा अमान भी उर्दू गद्य के एक अच्छे लेखक हुए हैं। ग़ालिब ने अपने पत्रों में उन का नाम बार-बार लिया है और उनकी रचनाओं से मित्रों और शिष्यों को परिचित कराने की चेष्टा की है। ख़्वाजा अमान ने फ़ारसी की एक प्रसिद्ध कथा "बोस्ताने-ख़्याल" का अनुवाद उर्दू में किया। यह फ़ारसी कथा दस भागों में थी। ख़्वाजा अमान अलवर के महाराज

शिवदान सिंह के अनुरोध पर उसके पाँच भागों का अनुवाद पूरा किया पर जीवन ने उनका साथ न दिया और यह काम अपूर्ण ही रह गया। उनकी भाषा सरल और मीठी है और ऐसा जान पड़ता है कि यह अनुवाद नहीं स्वयं ख्वाजा अमान की रची हुई पुस्तक है।

ग़ालिब के दोस्तों में ख्वाजा ग़ुलाम ग़ौस "बेख़बर" एक प्रतिभाशाली पुरुष थे और उन्नति करके वह गवर्नर के मीर मुंशी हो गए थे। उन्होंने ४५ वर्ष नौकरी करके १८८५ ई० में पेंशन ली और एक दीर्घ आयु पाकर सन् १९०५ ई० में मृत्यु पाई। बेख़बर अरबी, फ़ारसी के बहुत बड़े विद्वान थे। उनकी फ़ारसी कविताएँ ईरानियों की दृष्टि में भी आदरणीय समझी जाती हैं। वह ग़ालिब से आयु में छोटे थे परन्तु ग़ालिब उनका बड़ा आदर करते थे। कविताओं के अतिरिक्त उनके पत्रों और लेखों का संग्रह "फ़ुग़ाने-बेख़बर" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनके लिखने का ढंग प्राचीन लेखकों से मिलता जुलता है क्योंकि उन्होंने फ़ारसी अरबी शब्दों के साथ-साथ अलंकारों का प्रयोग भी बहुत किया है। बेख़बर के ससुर मोलवी ग़ुलाम इमाम "शहीद" भी गद्य के एक अच्छे लेखक माने जाते हैं और उनकी दो पुस्तकें "मौलूद शरीफ़" और "इन्शाए-बहारे-बेख़िज़ाँ" प्रसिद्ध हैं। इस समय दक्षिणी भारत में भी कई गद्य लिखने वाले मौजूद थे, जिनमें शमसुल-उमरा का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने दक्षिण में विज्ञान की कई पुस्तकें अनुवाद करके प्रकाशित कीं जो अब नहीं मिलतीं।

इस अध्याय में जिन कवियों और लेखकों का वर्णन किया गया है उनमें से बहुत से रीतिगति पर चलने वाले थे, इसी कारण से उनके उल्लेख में युग का बहुत ध्यान नहीं रक्खा गया है और १९वीं शताब्दी के मध्य से लेकर २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक के साहित्यकारों को सम्मिलित कर लिया गया है। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है वह अत्यन्त लोक-प्रिय थी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, अंग्रेज़ और दूसरे योरोपियन उर्दू में बड़े उत्साह से कविताएँ लिखते थे। कई अंग्रेज़ कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं पर जहाँ तक पद्य का सम्बन्ध है उसमें कोई महत्वपूर्ण गति नहीं हुई। अगर्चे गद्य में उस नए जीवन का आरम्भ हो चुका था जो थोड़े ही समय में बड़ी उन्नति कर गया बल्कि यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी शिक्षा, नव-जागृति और विज्ञान के प्रभाव जब गद्य में पूर्णतया प्रगट

हो चुके थे उस समय अधिकतर कवि पुराने मार्ग पर ही चल रहे थे। राजनीतिक और सामाजिक विषयों ने कविता में अपना स्थान नहीं बनाया था बल्कि गद्य में उनके चिह्न दिखाई देने लगे थे। प्रेस और प्रकाशालयों के स्थापित हो जाने के कारण उर्दू साहित्य की प्रगति बड़े वेग से हो रही थी और अगर कोई इसका चित्र देखना चाहे तो उसे "गार्सां द-तासी" के व्याख्यान और लेख देखना चाहिए जो पेरिस में बैठे हुए हर साल की प्रगति की रूप-रेखा अपने महत्वपूर्ण लेखों और व्याख्यानों में दिया करते थे। इस संक्षिप्त पुस्तक में प्रगति का व्यापक चिह्न देना असम्भव है। तथापि इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि इस समय उस महान युग का आरम्भ हो चुका था जो भारतवर्ष के नव-जागरण का परिणाम कहा जा सकता है। आगे के अध्यायों में साहित्य की उसी गति का विश्लेषण करने की चेष्टा की जाएगी जिसका नई चेतना में उद्भव हुआ था। पूरा चित्र देने के लिए कहीं-कहीं उन प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत किया जाएगा जो पुराने साहित्यिक दृष्टि-कोण को अपनाने के कारण बदली हुई अवस्था का साथ नहीं दे रही थीं।

अध्याय ६

नव-जागृति और नया साहित्य

(१) पद्य

अगर्चे १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अंग्रेज़ों का राजनीतिक प्रभुत्व भारतवर्ष के एक बड़े भाग पर फैल चुका था और देश की दशा बहुत कुछ बदल चुकी थी परन्तु कला-कौशल और साहित्य ने उस प्रभुत्व को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया था। यह सिद्ध है कि आर्थिक परिवर्तन और उत्पादन के भौतिक साधनों के कारण मनुष्य की विचार धारा बदलती है और वर्गों के आपसी सम्बन्ध भी परिवर्तित होते हैं, परन्तु साहित्य और कला में जो परिवर्तन आर्थिक संस्थाओं के कारण होता है वह कभी बहुत मन्द गति से होता है और कभी इतनी तीव्र गति से कि दोनों के सम्बन्ध का पता लगाना कठिन जान पड़ता हैं। समानान्तर परिवर्तन न होने का कारण यह है कि जो साहित्यिक परम्पराएँ एक बार बन जाती हैं वे मिटते-मिटते मिटती हैं और जन-समूह को इतनी प्रिय हो जाती हैं कि आर्थिक परिस्थितियों के बदल जाने पर भी हृदय उनकी ओर खिंचता रहता है।

अंग्रेज़ १७वीं शताब्दी से व्यापार करने के लिए भारतवर्ष में आने लगे थे और १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वे व्यापार के साथ-साथ देश के कुछ भागों के अधिकारी भी बन बैठे थे। इंगलैन्ड में विज्ञान की उन्नति के फल-स्वरूप औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी, और भारतवर्ष कच्चे माल की एक बहुत बड़ी मण्डी बन जाने की स्पष्ट

योग्यता रखता था क्योंकि यहाँ न विज्ञान था और न यह शक्ति कि अपने घर की पूँजी को बाहर जाने से रोका जा सके। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से यह मुग़ल सामन्त-शाही के पतन और एक नवीन व्यापारिक तथा औद्योगिक युग के विकास का समय था, जो अंग्रेज़ी साम्राज्य और योरोपीय पूँजीवाद के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ था। अर्थ यह है कि एक प्रकार का द्वैतवाद था जिसमें यहाँ की आर्थिक उन्नति जकड़ी हुई पड़ी थी। उसकी प्राचीन परम्पराएँ उसको आदिम कृषि-प्रधान आर्थिक दशा और घरेलू उद्योग धन्धों की ओर खींच रही थीं और योरप से उसका सम्पर्क उसे नए मशीनी जीवन की ओर जाने का बढ़ावा दे रहा था। कई शताब्दियों से भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति और उसका राजनीतिक जीवन बँधे हुए जल के समान शिथिल हो गया था यहाँ तक कि वह नैतिक, सामाजिक और दार्शनिक मूल्य भी प्रभावहीन हो गए थे जो कुछ समय पूर्व शान्ति दिया करते थे। भारतीयों का बड़ा भाग ऐसा था जो अपनी प्राचीन सभ्यता को गौरव की दृष्टि से देखता था, उन्हें इस बात का अनुभव भी नहीं था कि उनका राजनीतिक पतन उस सभ्यता ही को अन्त की ओर लिए जारहा है जो उन्हें प्रिय है। उनमें यह साहस नहीं रह गया कि वह बदली हुई स्थिति में अपनी पुरानी पूँजी की दूकान सजा कर बैठ जाएं और लोगों को अपनी ओर खींच सकें क्योंकि पुराने आर्थिक नाते टूट रहे थे और जन साधारण अपनी जीविका के लिए नए मार्ग ढूढ़ रहे थे। १६वीं शताब्दी के मध्य तक बहुत से राज्य-महल गिर चुके थे और उनसे बँधे हुए सैनिक और कर्मचारी बेकार होकर नई नौकरियों की खोज में निकल खड़े हुए थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने नए जीवन के संकट को थोड़ा बहुत समझ लिया था और उसके साथ समझौता करने को तैय्यार थे। अंग्रेजों ने जो शिक्षा देना आरम्भ किया था उसका उद्देश्य भी यही था कि भारत निवासियों ही में एक ऐसा वर्ग जन्म ले जो उनके विचारों से केवल सहमत ही न हों बल्कि उनके फैलाने में सहायता भी करे।

ईस्ट-इन्डिया कम्पनी जो धीरे-धीरे यह सब कुछ कर रही थी इस समय तक भारतवर्ष की वास्तविक अधिकारिणी बन चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि वह भारतवर्ष के ठहरे हुए जीवन में वायु की एक ताज़ी लहर लेकर आई थी। इस वायु में विष की घातक लहरें

और जीवन को नया दान देने वाली धारणाएँ मिली-जुली थीं। प्रगति और गतिरोध की यही मिली-जुली भावना है जिसके कारण इस युग का विश्लेषण कठिन हो जाता है और आलोचक कभी भावुक होकर उसकी निन्दा करने लगते हैं और कभी ऐसी सराहना करते हैं जैसे उसने भारतवर्ष के आर्थिक और सामाजिक जीवन को नष्ट नहीं कर दिया था। सच यह है कि ईस्ट-इन्डिया कम्पनी लुटेरों का एक संगठन थी, उसने अपने एक शती के अपराध काल में देश को अच्छी तरह लूटा। यदि परोक्ष रूप में उससे कुछ लाभ भी पहुँच गया और किसी प्रकार की नई चेतना का उद्भव भी हुआ तो इसके इतिहासिक कारण थे जिनसे विमुख नहीं हुआ जा सकता। जिस नई शिक्षा का आरम्भ बंगाल में हुआ था, उसने धर्म-सुधार और पुनरुज्जीवन की जिस चेतना को जन्म दिया वह आर्थिक और सामाजिक पतन को देखते हुए बहुमूल्य है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें अंग्रेजी शिक्षा का बड़ा हाथ था पर इस बात को भूल जाना भी ठीक न होगा कि जागीरदारी के पतन काल में वह मध्य वर्ग जन्म ले रहा था जिसके सम्मुख एक नया जीवन था। राजाराम मोहन राय सुधार और नव-जागृति के एक सुन्दर प्रतीक थे। उनकी भारतीयता नए ज्ञान से और दिव्य हो गई। हिन्दू और मुस्लिम समाज पर उस नई शिक्षा का जो प्रभाव पड़ा उसका विस्तृत विश्लेषण इस अवसर पर सम्भव नहीं पर यह अवश्य याद रखना चाहिए कि भारतीयों का एक अल्पाँश ही इस नए जीवन का अनुभव चेतना-पूर्वक कर सका था। अधिकतर जनता ऐसी थी जो आर्थिक दृष्टि से पीसी जाने पर भी अपनी प्राचीन परम्पराओं से चिमटी हुई थी।

अंग्रेजी शिक्षा और इस्ट-इन्डिया कम्पनी के साथ आर्थिक सम्पर्क ने जो महत्व पूर्ण काम किए उनमें नए मध्यवर्ग की उत्पत्ति भविष्य की राजनीति को देखते हुए क्रान्तिकारी घटना थी। यह नया मध्यवर्ग ऐसी परम्पराएँ चाहता था जो अपने देश की उन्नति अंग्रेजी साम्राज्य के बनाए हुए आधारों पर विकसित करे, उसके पास एक नवीन दृष्टि-कोण भी था जो प्राचीन परम्पराओं से सन्तुष्ट न था। इस लिए जहां भी यह सम्पर्क घनिष्ट था वहां हम इस नए वर्ग को प्राचीन कृषि-प्रधान दृष्टि-कोण से ऊपर उठता हुआ देखते हैं। इसी वर्ग ने बाहर से आई हुई नई चेतना को अपनाया और औद्योगिक एवं पूंजीवादी

उदार विचार धारा को स्वीकार किया। इस प्रकार वह नए बीज बो दिए गए जो थोड़े समय में छतदार वृक्ष बन गए[1]।

इतिहास-दर्शन के ज्ञाता इसे जानते हैं कि प्राचीन परम्पराएं कुछ तो स्वयं पुरानी होकर मर जाती हैं और कुछ नई परिस्थितियों के दबाव से समाप्त होती हैं। भारत के सामन्ती गढ़ टूट रहे थे और पुराने राज दरबार अपनी परम्पराओं के संग मिट रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमान उच्च और मध्यवर्ग के लोग हिन्दू जाति के मुक़ाबिले में अधिक हठधर्मी के साथ सामन्तशाही की लाश से लिपटे हुए थे परन्तु जहां तक नई चेतना का सम्बन्ध है दोनों में कुछ विशेष अन्तर न था। दोनों में से कोई भी परिवर्तित राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को पूर्ण रूप से परख न सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान और उद्योग-प्रधान आर्थिक दशा के बीच में लटका रहा और सामन्तशाही युग की परम्पराएं नई विचार धाराओं में इस प्रकार घुली मिली रहीं कि पुनरुत्थान की पूर्ति न हो पाई। यही वह जटिल स्थिति है जिसे भली भाँति न समझने के कारण नए जीवन और नए साहित्य का मूल्यांकन भावुक हो जाता है।

सामन्ती युग की बची खुची शक्तियों ने अँग्रेज़ों चंगुल से छुटकारा पाने के लिए अन्तिम बार सन १८५७ ई० में सशस्त्र मोर्चा लिया। अंग्रेज़ी पूंजीवाद के विरुद्ध जागीरदारों और स्वतंत्रता चाहने वालों का यह संघर्ष अंग्रेज़ों की जीत में समाप्त हुआ। कारण यह था कि उन्नति की भौतिक शक्तियां उनके साथ थीं। भारतवर्ष की साधारण जनता इस क्रान्ति में सीधे रूप से सम्मिलित नहीं थी। सामन्ती गढ़ में स्वयं फूट पड़ी हुई थी। कुछ जागीरदार अंग्रेज़ों के साथ थे और कुछ विरोधी दल के। उस समय अंग्रेज़ों के विरुद्ध घृणा की भावना सामाजिक, सांस्कृतिक और प्राचीन धार्मिक परम्पराओं के मिटा देने के भय तक सीमित थी। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके नीचे आर्थिक विनाश के भय की एक अचेत लहर भी थी जो भविष्य में स्पष्ट रूप से सामने आई और विदेशियों के विरुद्ध

१—इस अध्याय में अपने ही लिखे हुए अन्य लेखों से सहायता ली गई है।

एक तूफ़ान बन गई। मुसलमान जागीरदार और ज़मींदार जो इस संघर्ष में आगे आगे थे बड़ी बर्बरता से कुचले गए परन्तु जागीरदारी जीवित रही और अंग्रेज़ों ने एक ऐसा स्वामी-भक्त ज़मींदार वर्ग पैदा किया जो प्राचीन जागीरदारी का स्थानापन्न हुआ। मुसलमानों पर एक ऐसा वहाबी आन्दोलन चलाने का अपराध भी लगाया गया जो धार्मिक होते हुए भी राजनीतिक रूप ग्रहण कर गया था। अंग्रेज़ों ने अधिकतर मुसलमानों के राज्य लिए थे इसलिए दोनों एक दूसरे की ओर से सशंक थे परन्तु जब सन् १८८५ ई० में कांग्रेस का जन्म हुआ तो अंग्रेज़ी साम्राज्य के सामने नई समस्याएँ आ गईं। अब उनके लिए आवश्यक हो गया कि भारतीयों की देश-भक्ति की इस भावना और राष्ट्रीयता के इस विचार को रोंका जाए, इसलिए उन्हें मुसलमानों से मित्रता करना ही उचित जान पड़ा और सर सैय्यद तथा कुछ दूसरे नेताओं के प्रयत्न से मुसलमानों की स्वामी-भक्ति पर मुहर लग गई। विद्रोह के पश्चात् इस्ट-इन्डिया कम्पनी का अन्त हो गया और भारत सीधे-सीधे अंग्रेज़ी साम्राज्य का एक उपनिवेश बन गया विक्टोरिया ने यहाँ का राज्य सम्भालते ही धार्मिक स्वाधीनता की घोषणा कर दी। हिन्दू मुसलमान दोनों के उच्च और मध्यमवर्ग ने मन ही मन इसका स्वागत किया। भारत के इतिहास में आए दिन राज्य बदला करते थे, एक राजवंश जाता और दूसरा आता था। साधारण मनुष्य के लिए यह परिवर्तन भी इसी प्रकार का था। मुग़ल दुर्बल हो गए थे। उनकी जगह अंग्रेज़ आए और अपने साथ जीवन की कई सुविधाएँ भी लाए और साथ ही उन्होंने यह कहा कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा और उनके धर्म की रक्षा की जाएगी। यह सब बातें ऐसी थीं कि यहाँ के बहुत से अच्छे विद्वानों को भी उस आर्थिक दुर्नीति के समझने का अवसर न मिला जो उन्हें घुन की भाँति खाए जा रही थी। इसी अनभिज्ञता के कारण उनके मन में अंग्रेज़ों के प्रति घृणा की भावना पूर्ण रूप से उत्पन्न न हुई और लेखक देश-भक्ति और स्वामि-भक्ति के बीच भटकते रहे।

भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा के साहित्य को इसी पृष्ठ-भूमि में देखना चाहिए। प्रत्येक लेखक और कवि चेतना की एक नई मंज़िल में था। जहाँ एक ओर भारतीय जीवन परिवर्तन के इन अनुभवों से गुज़र रहा था वहाँ ऐसे लेखक भी थे जो इसे न समझ कर पुराना

ही राव अलापे जा रहे थे। उनके दृष्टि-कोण से साहित्य कुछ मानी हुई परम्पराओं की अभिव्यक्ति का नाम था। वे उसे शाश्वत और अपरिवर्तनशील समझते थे। उनसे चाहे साहित्य के इतिहास को कोई बढ़ावा मिलता हो या नहीं, एक बात तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाती है कि जो लेखक जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को समझते थे वे अपनी जागृति और चेतना के अनुकूल विचारों और साहित्य के रूपों में परिवर्तन करने से नहीं झिझकते थे। जीवन को बदलते देख कर वे साहित्य में भी परिवर्तन चाहते थे। इस नई चेतना का सबसे स्पष्ट विकास हिन्दी में भारतेन्दु और उर्दू में आज़ाद और हाली के युग में होता है। आज की आधुनिकता को देखते हुए यद्यपि यह पुराना मालूम होता है परन्तु नवीन और प्राचीन कड़ियों को जोड़ने के लिए इससे अच्छा अन्य उदाहरण नहीं मिल सकता। उनका युग क्रान्ति का युग नहीं था वरन् धीमे परिवर्तन और सुधारवाद का था। उस युग की अपनी विषमताएँ थीं और अपनी वर्ग-चेतना थी जो प्रत्येक स्थान पर समान रूप से स्पष्ट नहीं होती थी। यह साधारण जनता का युग भी नहीं था वरन् इसको उभरते हुए पूँजीवाद और मध्यवर्ग का युग कहना चाहिए। इस स्थिति में जिस किसी ने सामान्ती-युग को चुनौती दी और उसकी अपेक्षा नए और औद्योगिक युग को प्रोत्साहन देना चाहा वह उस समय को देखते हुए प्रगतिशील कहा जा सकता है।

इस बात की ओर कई स्थानों पर संकेत किया जा चुका है कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य विश्व-इतिहास का सबसे काला युग कहा जाता है। पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्हीं के सम्पर्क से भारत को विज्ञान और उसकी कृतियों से परिचित होने का अवसर मिला और भारत के रुके हुए आर्थिक जीवन में उत्पादन और प्रगति के नए यंत्रों से हिलकोरें पैदा हुईं। इस स्थिति ने एक नैराश्य की दशा भी उत्पन्न की। कुछ भारतवासी मुड़-मुड़ कर पीछे देखने लगे और बढ़ते हुए नवीन विचारों से डर कर अपने भूतकालीन विचारों में खो गए। कुछ नवीनता के नए जादू में फँस कर अपने प्राचीन इतिहास से घृणा करने लगे और इस बात के इच्छुक हुए कि बिना सोचे-समझे पश्चिम से आए विचारों को जीवन के प्रत्येक विभाग में स्वीकार कर लिया जाए। बहुत थोड़े से लोग ऐसे भी थे जो चेतना-पूर्वक युग की आत्मा को समझने और देशोन्नति की सक्रिय भावना

अपने भीतर उत्पन्न कर सके। मेरा विचार है कि भारतेन्दु और हाली इसी अन्तिम कोटि से संबन्ध रखते हैं। एक ओर तो वे लोग उनसे संघर्ष कर रहे थे जो युग के साथ बदलना नहीं चाहते थे और दूसरी ओर उनसे जो पश्चिम से आई हुई सभ्यता को आँख मूँदकर स्वीकार कर रहे थे। इन्हीं के विचारों में हमें उस नई चेतना का चिह्न मिलता है जो सोच-समझकर इतिहास में अपना कर्तव्य पूरा करना चाहती है। मैं फिर इस बात को स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से इस युग को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उस समय वर्गों के ठीक-ठीक ढाँचे इस प्रकार नहीं बन पाए थे कि उनमें से प्रत्येक वर्ग की चेतना और मानसिक भावना को स्पष्ट रूप से देखा जा सके। इस लिए हमें इस बात से घबराना नहीं चाहिए कि हम एक ही कवि या लेखक में एक ओर अपनी जनता के प्रति प्रेम पाते हैं तो दूसरी ओर उसी के मुख से अंग्रेज़ों की प्रशंसा सुनाई देती है। उस स्थिति में स्वामि-भक्ति या अंग्रेज़ों की प्रशंसा का अर्थ था आधुनिक युग की विचार धाराओं को समझना। विद्रोह और उसके पश्चात् होनेवाले अत्याचार और बर्बरता ने भारतवासियों के हृदय में पराजयवादी मनोवृति और निराशा की भावना उत्पन्न कर दी थी। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि नए आर्थिक ढांचे को स्वीकार करके या कम से कम उसका विरोध न करके भारतेन्दु और हाली ने अपने धार्मिक क्षेत्रों में रह कर निराश होने की भावना को समाप्त करके तथा अपनी हानि का विचार दूर करके अतीत के कीर्तियों पर गर्व करना, आशापूर्वक जीवन से संघर्ष करना और भविष्य को अपने हाथों संवारने के लिए प्रोत्साहित होना सिखाया, तो हमें जान पड़ता है कि स्वामि-भक्ति की भावना उसके लिए जीवित रहने और आगे बढ़ने का एक सहारा थी। वे अंग्रेज़ की प्रशंसा इसलिए नहीं करते थे कि वे भारतीय जनता के शत्रु थे। यदि हम कुछ न मानें तो यही क्या कम है कि उनकी वाणी ने उस समय हिन्दू मुसलमानों को भावुकता की मौत मरने से बचा लिया।

इस बात को न भूलना चाहिए कि इस नए मध्यम वर्ग की उत्पत्ति का प्रभाव बड़ा व्यापक था। भारतवासियों को धर्म के प्रति स्वतंत्रता दी गई थी और इसने उनको एक अनुचित मार्ग पर डाल दिया। उन्होंने अपनी समस्याओं को सामान्य राष्ट्रीयता के दृष्टि-कोण से

देखना छोड़ दिया और उसके स्थान पर झूठी धार्मिक स्वतंत्रता की आड़ लेकर अपने सहधर्मियों के साथ आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगे। यदि एक ओर अंग्रेज़ी साम्राज्य के दबाव और समान आर्थिक समस्याओं के कारण वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से विचार करने पर मजबूर होते थे तो दूसरी ओर अपने-अपने धर्म के क्षेत्र में उन्नति की भावना उत्पन्न करके वे अपने विचारों को सीमित कर लेते थे। भारतेन्दु और उनके साथी एक प्रकार से धर्म-भीरु कहे जा सकते हैं क्योंकि वे साधारणतः हिन्दुओं को ही उन्नति की ओर पुकारते थे। इसी प्रकार हाली, नज़ीर अहमद, शिबली और अकबर मुसलमान मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। एक ओर आर्य-समाज के आन्दोलन का जन्म हुआ तो दूसरी तरफ़ मुस्लिम सुधारवादी तहरीक चली, जिनमें विचारों की दृष्टि से बहुत सी बातें समान थी। अब यदि इसी बात को अंगरेज़ी साम्राज्य के उत्थान की पृष्ठभूमि में देखें तो यह बात हमारी समझ में तुरन्त आजएगी कि सुधारवाद की यह जड़ और पृथक-पृथक उन्नति प्राप्त करने की भावनाएँ उससे क्या सम्बन्ध रखती हैं। हमें इस बात पर तनिक भी चकित न होना चाहिए कि "हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" का नारा न केवल धार्मिक सुधारकों ने ही लगाया, वरन उस युग के अच्छे-अच्छे लेखकों और कवियों ने भी लगाया। मुसलमान लेखकों और कवियों में यही बात मुसलमानों के लिए नौकरियों में अलग जगहें, शिक्षा तथा असेम्बलियों में नियमित संख्या और अंग्रेज़ों की ओर से उदारता का व्यवहार प्राप्त करने की मांग के रूप में मिलेगी। परन्तु साहित्य में यह धार्मिक रंग वास्तव में जागृति की भावना का एक प्रतिबिम्ब था। यह शक्ति प्राप्त करने का एक ढंग था। उस युग के सभी अच्छे हिन्दी-उर्दू लेखकों में यह दोहरी धारा देखी जा सकती है। एक ओर वे रूढ़िवाद और कट्टरपन से लड़ते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर धार्मिक आदर्शों और अतीत गौरव-गान के द्वारा देश को जागृत करते हुए देख पड़ते हैं।

जहां तक देश-भक्ति, कट्टरपन का विरोध, उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहन देना समाज-सुधार शिक्षा और नीति के विचारों में परिवर्तन का सम्बन्ध है, सबके सब प्रगतिशील शक्तियों के एक ही स्रोत से प्रेरणा लेते थे जो कि उस युग के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इस पृष्ठ-भूमि को सम्मुख रख कर कविता, उपन्यास, आलोचना,

जीवन-चरित्र, नाटक, इतिहास और निबन्ध लिखे जाते थे। इसी के प्रकाश में नए विचारों की सहायता से धर्म को नए प्रकार से प्रस्तुत करते थे और रुढ़िवादियों के क्रोध का निशाना बनते थे। सामाजिक और राजनीतिक सुधार के सम्बन्ध में उनके मुख से एक ही प्रकार की भावनाएँ निकलती हैं परन्तु ऐतिहासिक परम्पराओं के विभिन्न होने के कारण कुछ विभिन्नता भी मिल जाती है। इस समय के हिन्दी और उर्दू साहित्य में जो एक बड़ा अंतर पाया जाता है उसको भी देख लेना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी में लोकगीतों की परम्पराएँ अपना नाता भारत की विभिन्न बोलियों से जोड़ सकती हैं। इसकी अपेक्षा उर्दू का नाता उनसे जोड़ना सरल नहीं जान पड़ता। इसका प्रभाव जन-साहित्य के विकास पर अबतक पड़ता चला जा रहा है। भारतेन्दु ने लोक-साहित्य की महत्ता पर जो ज़ोर दिया है, उर्दू साहित्य में उसका उल्लेख कम है। हाली ने मेरठ के एक जन-कवि "दलमीर" के काव्य-संग्रह पर एक लेख लिखा है जिससे पता चलता है कि उर्दू के साहित्यक रूपों में भी जनता की बोली से काम लिया गया था। पर इस धारा की प्रगति आगे नहीं मिलती। आज कल जो गीत लिखे जा रहे हैं वह अलबत्ता हिन्दी और उर्दू में एक ढंग रखते हैं।

राजनीतिक स्थिति ऐसी थी कि मध्यम वर्ग मूल-विहीन होते हुए भी शक्ति संचित करता जा रहा था। कभी वह अंग्रेज़ी साम्राज्य से समझौता कर लेता था और कभी तलवार खींचकर अपने अधिकारों के लिए उससे लड़ने पर तैय्यार हो जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रीय भावना भारतीय शिक्षित वर्ग में जड़ पकड़ चुकी थी। एक शक्तिशाली दफ़्तरशाही के अधीन और यातायात की सुविधाओं के कारण एक राष्ट्र का विचार उत्पन्न हो जाना असम्भव न था। आर्थिक दृष्टिकोण से भारत का बढ़ता हुआ पूँजीवादी वर्ग विदेशियों के हाथ से शक्ति लेकर यहाँ की जनता का शोषण करना चाहता था। इस जनता का ख़ून चूसते हुए अंगरेज़ों को सौ वर्ष से अधिक हो चुके थे। अब यहाँ के पूँजीपति भी अपने अधिकार को काम में लाना चाहते थे। अंग्रेज़ों ने यहाँ के ग्राम्य आर्थिक जीवन को क्षीण बनाया था और यहाँ के उद्योग-धंधों को मिटाया था। यही नहीं, यहाँ के लोगों से धर्म और भाग्य पर विश्वास करने की शक्ति भी छीन ली थी। अब उनके पास कुछ शेष नहीं था जो देकर भारतवासियों को संतुष्ट

रख सकते। जनता दिन प्रति दिन दरिद्र होती जा रही थी। काल और महामारी का प्रकोप कहीं-न-कहीं अपना टैक्स वसूल कर ही लेता था। स्वतंत्र व्यापार ने भारतवर्ष को साम्राज्यवादियों की मंडी बना दिया था। किसान बिना खेत के मूल-विहीन होकर शहरों में मारे-मारे फिरते थे। देश की इन दशाओं ने उस नई चेतना का सहारा लेकर क्रान्तिकारी जन आन्दोलन उत्पन्न कर दिया। प्रथम महायुद्ध चीन, ईरान और टर्की की राजनीतिक क्रान्तियाँ तथा रूस की महाक्रान्ति, सबने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को शक्ति पहुँचाई और जागृति के भावों को इतना उत्तेजित कर दिया कि अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा के भाव के साथ-साथ ऐसे प्रत्येक वर्ग से संघर्ष छिड़ गया जो जनता का शोषण करके ऊपर उठना चाहता था। लेखकों और कवियों में हम यह सम्पूर्ण बातें देख सकते हैं। भारत की किसी भी भाषा को लिया जाए, इस महान् जागृति के वर्ग में विचार धाराओं की समानता मिल जाएगी। एक ही पृष्ठ-भूमि है, स्वतंत्रता का आन्दोलन है, आर्थिक समानता और क्रान्ति के लिए संघर्ष है, इस लिए एक ही ढंग का साहित्य उत्पन्न हो रहा है, यह और बात है कि इस साहित्य का एक बड़ा भाग सामयिक है।

राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के इस काल में उर्दू के वह साहित्यकार पैदा हुए जो एक दृष्टि से धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक नेता भी कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने साहित्य और जीवन को मिलाया और अपनी मानसिक शक्तियों को विशेष उद्देश्यों के प्रचार के लिए इस्तेमाल किया। इस नए आन्दोलन के नेता सर सैय्यद थे। अगरचे साहित्यिक दृष्टि से उनका स्थान आज़ाद, हाली, नज़ीर अहमद और शिबली के बाद है पर सभी बातों को मिलाकर देखा जाए तो वह इन सबसे बड़े ठहरते हैं। इसी लिए इसको सर सैय्यद का युग कहा जाता है। इस युग के सभी अच्छे गद्य और पद्य लिखने वाले इस बात का अनुभव करते थे कि वह साहित्य के द्वारा जीवन की उस तड़प और व्याकुलता का चित्रण कर रहे हैं जो मानव जाति को बन्धनों से छुड़ाती है और उन्नति की ओर ले जाती है। चूंकि साहित्य का सम्बन्ध लेखक की चेतना और वर्ग विभाजित समाज में उसके सम्पर्कों पर आधारित है, इसलिए एक ही युग में कई बानियाँ बोलने वाले लेखक और कवि मिल जाते हैं। इस विभिन्नता को केवल उनके

व्यक्तित्व का परिणाम नहीं कहा जा सकता बल्कि सामाजिक चेतना का भावपूर्ण रूप है। इस अध्याय में दोनों प्रकार अर्थात नव-चेतन रखने वाले और रीति काल पर चलने वाले केवल उन कवियों का उल्लेख किया जाएगा जिन्हें महान् समझा जाता है। नई कविता के निर्माता मौलाना मुहम्मद हुसैन "आज़ाद" समझे जाते हैं।[1] ग़दर के पश्चात् जब आज़ाद ने लाहौर के शिक्षा विभाग में सरकारी नौकरी करली तो वहाँ वह कई अंग्रेज विद्वानों के सम्पर्क में आए। वह स्वयं दिल्ली कालिज के विद्यार्थी रह चुके थे। विचार और ज्ञान की नई धाराओं से परिचित थे और जब उन्हें इन अंग्रेजी विद्वानों की सम्मति प्राप्त हुई तो उन्होंने नई कविता की रूप-रेखा अपने सहयोगियों और देश निवासियों के सन्मुख रक्खी। अगस्त सन् १८६७ ई० में उन्होंने एक व्याख्यान देते हुए पूर्वी काव्य-रचना, विशेष कर उर्दू और फ़ारसी कविता की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाया और कहा कि कविता मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालने का नाम है। हमारी काव्य-रचना केवल कुछ विषयों में सीमित होकर रह गई है। हमारे पूर्वजों ने महान रचनाएं की हैं पर अब हम उन्हीं की लकीर पीट रहे हैं और उन्हीं के चबाए हुए निवाले खा रहे हैं। हमारे सामने जो नई समस्याएं हैं उनकी ओर हम आंख उठाकर भी नहीं देखते। इन्हीं विचारों को बड़े भावुक और रोचक शब्दों में विस्तार के साथ प्रस्तुत करके आज़ाद ने यह अपील की हमारे कवियों को भी अपनी काल कोठरी से बाहर आना और नए वातावरण में नए मार्गों पर चलना चाहिए।

नई शिक्षा और नई सामाजिक चेतना के कारण जो बदलती हुई आर्थिक स्थिति का परिणाम था उनके यह विचार व्यर्थ नहीं गए और कुछ ही समय बीतने पर लाहौर में "अंजुमने-पंजाब" की नीव पड़ी और ८ मई सन् १८७४ ई० की वह पहिला कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें नए ढंग की कविताए पढ़ी गईं। पहिले मौलाना आज़ाद ने एक बहुत सुन्दर और बड़ा ज्ञानपूर्ण व्याख्यान दिया और फिर कविता में वास्तविकता से काम लेने, स्थानीय रंग पैदा करने और जीवन का

---

१ इनका जीवन चरित्र आगे के अध्याय में दिया जाएगा।

सच्चा चित्रण करने का अनुरोध किया और कहा कि हम कोयल, चम्पा और चमेली, अर्जुन और भीम, गंगा और जमुना, हिमालय और अन्य स्थानीय वस्तुओं को बिलकुल भूल गए हैं, अब इस बात की आवश्यकता है कि हम उनकी ओर भी पूरा ध्यान दें। वह उन परम्पराओं से बिमुख नहीं होना चाहते थे जो पूर्व से चली आ रही थीं। उनका विचार यह था कि कि कविता को उस जीवन का प्रतिविम्म होना चाहिए जो हमारे चारों ओर फैला हुआ है। इस व्याख्यान के बाद आज़ाद ने एक कविता पढ़ी जो रात्रि के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करती थी। आज़ाद कोई बड़े कवि नहीं थे पर एक नई शैली के जन्मदाता होने के कारण उनका बड़ा महत्व है। लाहौर के इस कवि-सम्मेलन ने मौलाना हाली को भी अपनी ओर खींचा और उन्होंने अपनी कुछ महान रचनाए इसी सन्मेलन के लिए लिखीं और थोड़े ही समय में यह नया ढंग सारे भारतवर्ष में फैल गया। जब किसी कार्य के लिए ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से उचित भूमि तैय्यार हो जाती है तो उसके फलने-फूलने में देर नहीं लगती। उस समय का भारतवर्ष इसके लिए तैय्यार हो गया था कि उसमें राष्ट्रीय विचार और देश-भक्ति की भावना प्रगट की जाय और गदर के बाद निराश की जो लहर फैली है उसे मिटाया जाय, इसलिए रूढ़िवादियों के विरोध के बावजूद नए साहित्य ने जन्म ले लिया। आज़ाद की कविताओं का एक संग्रह "नज़में-आज़ाद" के नाम से प्रकाशित हो चुका है, उसमें उनके वह दोनो भाषण भी सम्मिलित है जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। आज़ाद कविता में ज़ौक़ के शिष्य थे और आरम्भ में समयानुकूल परम्परा के अनुसार ग़ज़लें लिखते थे। कुछ क़सीदे और मर्सिऐ भी लिखे हैं पर जो कुछ जान है वह उनकी इन नई कविताओं में है जिनका उल्लेख हो चुका है। अन्त में जब आज़ाद की मानसिक स्थिति बिगड़ गई थी तो उन्होंने सूफ़ियाना ढंग की ग़ज़लें लिखना फिर आरम्भ कर दिया था जिनमें से अधिकतर नष्ट हो गईं। उदाहरण के लिए उनकी एक कविता के दो छन्द दिए जाते हैं :—

है सामने खुला हुआ मैदाँ चले चलो।
बाग़े-मुराद[1] है समर अफ़शाँ[2] चले चलो॥

१—इक्षाओं की वाटिका, २—फल देनेवाली

दरिया हो बीच में कि बियाबाँ[1] चले चलो।
हिम्मत यह कह रही है खड़ी, हाँ चले चलो॥
चलना ही मसलहत[2] है मेरी जाँ चले चलो॥

हिम्मत के शहसवार[3] जो घोड़े उठाएँगे।
दुशमन फ़लक[4] भी होंगे तो सर को झुकाएँगे॥
तूफ़ान बुलबुलों की तरह बैठ जाएँगे।
नेकी के ज़ोर उठ के बदी को दबाएँगे॥
बैठो न तुम मगर किसी उनवाँ[5] चले चलो॥

इस युग के सबसे बड़े कवि मौलाना हाली थे और सच यह है कि उन्होंने नए साहित्य की नींव दृढ़ की। वह सन् १८३७ ई० में पानीपत में पैदा हुए थे, उनका नाम ख्वाजा अलताफ़ हुसैन था। अभी वह नौ वर्ष के भी न हुए थे कि पिता परलोक वासी हुए, मां पहिले ही से मानसिक रोग में ग्रस्त थीं, इसलिए हाली को उनके भाइयों ने पाला, उन्हीं की देख-रेख में उनकी शिक्षा हुई। थोड़े ही समय में उन्होंने अरबी फ़ारसी की प्रचलित पुस्तकें पढ़ डालीं। परन्तु अभी वह केवल १७ वर्ष के थे कि भाइयों ने विवाह का फन्दा गले में डाल दिया। हाली के लिए यह एक कड़ा बन्धन था क्योंकि वह अभी और शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। लेकिन जब स्त्री घर में आगई तो उन्हें यह चिन्ता भी हुई कि अधिक बोझ भाइयों पर न डालें। हाली के सौभाग्य से उनकी धर्मपत्नी का परिवार सर्व-सम्पन्न था। उन्होंने इस अवस्था से लाभ उठाया और एक दिन जब उनकी स्त्री अपने मैके गई हुई थीं, हाली बिना किसी को बताए हुए चुपके से पैदल दिल्ली चल दिए और बड़ी दीनता से दिल्ली के विद्वानों के संग शिक्षा प्राप्त करने लगे। यह वह समय था जब दिल्ली कालिज स्थापित हो चुका था और उसमें बहुत से लोग नई शिक्षा प्राप्त कर रहे थे पर हाली उसमें दाख़िल न हो सके। दिल्ली ही में उन्होंने पहिले-पहल अरबी में एक छोटी सी पुस्तक एक धार्मिक विषय पर लिखी और यह उनके उस जीवन का

१—जंगल, २—उचित और लाभदायक, ३—घोड़े का सवार, ४—आकाश, ५—प्रकार, ढंग

आरम्भ था जिसे हम एक सच्चे साहित्यकार का जीवन कह सकते हैं। उनकी गद्य-रचनाओं का वर्णन आगे आएगा, यहाँ केवल इस क्रमबद्ध कहानी को टूटने से बचाने के लिए उनकी रचनाओं के नाम ले लिए जाएगें।

अभी ग़दर नहीं हुआ था और दिल्ली अपनी अन्तिम शोभा और बहार दिखा रही थी। बड़े-बड़े कवि और विद्वान वहां मौजूद थे जिनमें मिर्ज़ा ग़ालिब का नाम और सम्मान सबसे अधिक था। हाली ने कविताएँ लिखना आरम्भ कर दिया था। वह किसी भाँति ग़ालिब के पास पहुँचे और अपनी कविताएं सुनाईं। सत्रह-अट्ठारह साल के एक नवयुवक की सुन्दर ग़ज़लें सुनकर ग़ालिब चौंक पड़े और कहा, "मैं किसी को काव्य-रचना में समय गँवाने की सम्मति नहीं देता पर तुम्हारे प्रति मेरा यह विचार है कि अगर तुम कविताएँ न लिखोगे तो अत्याचार करोगे।" अब क्या था, हाली का साहस बढ़ा और वह दिल्ली के कवि-सम्मेलनों में भाग लेने लगे। घर वालों को पता चला कि वह दिल्ली में हैं तो जाकर उन्हें पानीपत वापस लाए। सन् १८५६ ई० में जीविका प्राप्त करने के लिए घर से निकले और हिसार में डिप्टी कमिश्नर के दफ़्तर में नौकरी कर ली। अभी कुछ दिन न बीते थे कि ग़दर हो गया और हाली बड़ी कठिनाई से जान बचाकर पानीपत भागे पर उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और समस्त आयु उससे पीछा न छूटा। घर पहुँच कर उन्होंने फिर अपनी शिक्षा की ओर ध्यान दिया और स्वयं पुस्तकावलोकन करके अपनी योग्यता बढ़ाते रहे।

ग़दर समाप्त हुआ तो फिर जीविका की चिन्ता हुई और दिल्ली पहुँचे। यहाँ उनकी भेंट शेफ़्ता से हुई और उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा-दीक्षा के लिए हाली को नौकर रख लिया। नौकरी तो केवल एक बहाना थी, शेफ़्ता स्वयं हाली के संग कविता और साहित्य की बात करते थे और हाली ने शेफ़्ता के ज्ञान और आलोचनात्मक स्वभाव से बड़ा लाभ उठाया। सन् १८६९ ई० में शेफ़्ता और ग़ालिब दोनों की मृत्यु हो गई और हाली के लिए दिल्ली उजड़ गई, उनके जीवन ने पल्टा खाया और उन्होंने लाहौर का रास्ता पकड़ा। वहाँ पंजाब गवर्नमेन्ट बुक डिपो में उन्हें एक छोटी सी नौकरी मिल गई। वहाँ उनका काम यह था कि वह अंग्रेज़ी से अनुवाद की हुई पुस्तकों की भाषा शुद्ध करते थे। चार वर्ष यह काम करते रहे। हाली ने इस सम्बन्ध में स्वयं

लिखा है कि उन्होंने एक नया प्रकाश देखा और उन्हें अँग्रेजी साहित्य के बहुत से गुणों में आकर्षण शक्ति दिखाई दी। इसके प्रतिकूल फ़ारसी और उर्दू कविताओं की आलोचना में आनन्द प्राप्त होने लगा। हाली अंग्रेजी बहुत कम जानते थे पर उन्होंने उसकी अच्छाइयों को हृदयंगम कर लिया था। ठीक उसी समय आज़ाद के स्थापित किए हुए नए कवि-सम्मेलन भी हो रहे थे और हाली पूर्णतया इस नए साहित्यिक आन्दोलन में सम्मिलित हो गए और उनमें वह महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ जिसने साहित्य और कविता के प्रति उनका दृष्टिकोण बदल दिया।

लाहौर में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और वह दिल्ली चले आए। यहाँ उनको दिल्ली कालिज में नौकरी मिल गई और दिल्ली में रहने की उनकी इच्छा पूरी हुई। उस समय तक वह कई महान कविताएँ और कई गद्य की पुस्तकें लिख चुके थे। गद्य की पुस्तकों का उल्लेख अगले अध्याय में होगा। यहाँ केवल उनकी पद्य-रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ संकेत किया जाएगा। दिल्ली के निवास काल में उनसे सर सैय्यद से भेंट हुई जो ग़दर के बाद से मुसलमानों के एक बड़े नेता गिने जाने लगे थे। उन्होंने हाली से मुसलमानों के उत्थान और पतन पर एक कविता लिखने का अनुरोध किया और हाली ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना "मद्दो-जज़रे-इस्लाम" सन् १८७९ ई० में लिखी जो "मुसद्दसे-हाली" के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे तो हाली सर सैयद की स्थापित की हुई मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस के अधिवेशनों में कविताएँ पढ़ा ही करते थे पर इस प्रधान रचना नें उनका सुयश चारों ओर फैला दिया। सन् १८८७ ई० में उन्होंने अपनी दूसरी कविता "मनाजाते--बेवा" लिखी और इसी प्रकार बराबर ऐसी कविताएँ लिखते रहे जो समाज के नैतिक सुधार और पुनर्जीवन से सम्बन्ध रखती है।

मुसद्दस तो पचीसों बार प्रकाशित हो चुका है। उसके अतिरिक्त उनकी कविताओं के न जाने कितने संस्करण अन्य संग्रहों में निकल चुके हैं। "दीवाने-हाली" में उनकी गज़लें और छोटी-छोटी दूसरी कविताएँ "मजमूए-नज्मे-हाली" में उनकी दूसरी कविताएँ एकत्र कर दी गई हैं और सभी बड़ी कविताएं अलग-अलग प्रकाशित हो चुकी हैं। हाली ने अपने संग्रहों की भूमिकाओं में अपने उद्देश्य और विचारों का

उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। इससे उनकी आलोचना में बड़ी सुविधा होती है। अंत मे मौलाना हाली की हैदराबाद से एक प्रकार की वृत्ति मिलने लगी थी। और वह संतोषपूर्वक साहित्य-रचना में लगे रहे। सन् १६०४ ई० में उन्हें "शम्सुल उलमा" की उपाधि मिली, जिसको उन्होंने स्वीकार तो कर लिया परन्तु प्रसन्न न हुए। सन् १६१४ ई० में उनका देहान्त हो गया।

जैसी कि उस समय की रीति थी, हाली ने भी आरम्भ से ग़ज़लें लिखीं। उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि वह मीर, ग़ालिब और शेफ़्ता से प्रभावित हुए थे। यह तीनों कवि ग़ज़ल में वास्तविकता और हार्दिक भावों को अत्यन्त सुन्दरता से प्रस्तुत करते हैं। इसी लिए हाली की ग़ज़लें भी बड़ी सुन्दर होती हैं। उनके शेर दिल में तीर की तरह चुभ जाते हैं। मनोभावों और प्रेम की भावनाओं का ऐसा आकर्षक उल्लेख होता है कि उनके सरल शब्दों में बिजलियाँ छुपी हुई जान पड़ती हैं। यह सारी बातें आरम्भ काल में थीं। नई कविता से सम्बन्ध जोड़ने के बाद उन्होंने ग़ज़लों में भी नैतिक सुधार और राष्ट्रीय उन्नति का वर्णन आरम्भ कर दिया। उनकी बड़ी कविताओं में मुसद्दस, मुनाजाते बेवा, बर्खारुत, हुब्बे-वतन, चुप की दाद इत्यादि उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती हैं। इनके अध्ययन से केवल हाली की सहृदयता और गंभीरता का पता नहीं मिलता बल्कि उस समय के भारतवर्ष में सुधार और उन्नति की जो उत्साहपूर्ण लहर दौड़ रही थी उसका चित्र भी आँखों के सामने खिंच जाता है। उन्होंने कहीं अपनी इस भावना को छिपाया नहीं है कि वह कविता से देश के जगाने का काम लेना चाहते थे। हाली मुसलमानों के मध्यम-वर्ग से सम्बन्ध रखते थे और उस समय इस वर्ग की समस्यायें बहुत जटिल रूप धारण कर चुकी थीं। नए आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करके और नई शिक्षा प्राप्त करके प्राचीन परम्पराओं से नाता तोड़ लेने की इच्छा पैदा होती थी और कोई क्रांतिकारी दृष्टिकोण न होने के कारण उन्नति की यह भावना केवल एक प्रकार के सुधारवाद में सीमित होकर रह जाती थी। इसी लिए हाली की चेतना भी द्वैतवाद में फँसी हुई देख पड़ती है। वह देश-भक्त और राज-भक्त दोनों ही बनना चाहते थे। इसमें संदेह नहीं कि उस समय राजभक्ति ही की आड़ में आगे बढ़ने का अवकाश मिल सकता था क्योंकि ग़दर के बाद मुसलमानों में जो नैराश्य फैला था उससे

बाहर निकलना केवल इसी तरह सम्भव था कि नए जीवन को स्वीकार कर लिया जाए और अंग्रेज़ों से लड़कर नहीं, उन्हें अपनी राज-भक्ति का विश्वास दिलाकर उनसे अपने लिये अधिकार प्राप्त किया जाए।

हाली कविता के द्वारा जागृति का संदेश देना चाहते थे और उस समय काव्य-रचना का ऐसा पतन हो चुका था कि लोग केवल—शब्दाडम्बर, अलंकार, और चुटपुटी बातों में आनन्द प्राप्त करने को कविता का उद्देश्य समझते थे। इसलिए हाली का बड़ा विरोध किया गया। उनकी रचनाओं की हंसी उड़ाई गई और उनके दृष्टि-कोण की कड़ी आलोचना की गई। पर हाली अपनी धुन के पक्के थे। उन्होंने अपना रास्ता नहीं छोड़ा चूंकि उन्नति की ऐतिहासिक शक्तियां उनके संग थीं इसलिये थोड़े समय से मध्यम-वर्ग के शिक्षित भाग में उनकी कविताएं बड़े आनन्द से पढ़ी जाने लगीं। हाली अपने स्वभाव से एक उपदेशक और शिक्षक थे। कविता जब तक अत्यन्त रोचक, सुन्दर और मनोरंजक न हो उपदेश और शिक्षा का बोझ नहीं उठा सकती। हाली कभी कभी कलात्मक दृष्टि से यह विशेषतायें पैदा करने में असफल रह जाते थे इसलिए वे लोग जो उनके उपदेशों से सहमत नहीं थे वह उसे नीरस पाते थे। परन्तु सच यह है की हाली के हृदय में जो कुछ था वही उनकी जिह्वा पर आता था। उनके दिल में जो ज्वाला धधक रही थी उस समय थोड़े ही से लोग उससे परिचित थे उनकी दूरदर्शिता जिस भविष्य का अनुभव कर रही थी उसकी रूपरेखा साधारण लोगों के सामने न थी इसलिये बहुत से लोग उनकी कविताओं को केवल उपदेशों का एक संग्रह समझते थे।

हाली केवल एक कवि नहीं थे, एक बड़े आलोचक भी थे। वह कविता के बने-बनाए ढर पर चलकर सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करना नहीं चाहते थे बल्कि नई काव्य-रचना के अविष्कारक बनने की लगन करते थे इसलिये उन्होंने आलोचना और विरोध की परवाह किए बिना उस नई शैली का प्रचार किया जो उन्हें अपने उद्देश्य के प्रचार के लिये अधिक उपयोगी जान पड़ती थी। उनकी भाषा सरल, विचार गंभीर और शैली नवीन थी। चूंकि उन्होंने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को समझ लिया था इसलिए वह कभी केवल काव्य-रचना के लिए कविताएं नहीं लिखते थे। आधुनिक काल में इसी दृष्टिकोण को कला का

आदर्श समझा जाता है। इसलिए जितना समय बीतता जाता है, हाली की श्रेष्टता और सम्मान में वृद्धि होती जाती है। वह नई काव्य-रचना के संदेश-दूत माने जाते हैं और अपनी बहुत सी त्रुटियों के बावजूद उनकी प्रगतिशीलता आज भी अविश्वास और दुविधा में पड़े रहनेवाले कवियों के लिए पथ-प्रदर्शक हैं। उनकी बहुत सी कविताएं भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में परिवर्तित हो चुकी हैं। यहां केवल उदाहरण के लिए कुछ शेर दिये जा सकते हैं। मुनाजाते-बेवा में लिखते हैं :—

रेत की सी दीवार है दुनिया।
ओछे का सा प्यार है दुनिया॥
साथ सोहाग और सोग[1] है यां का।
नाव का सा संयोग है यां का॥
हार कभी और जीत कभी है।
इस नगरी की रीति यही है॥
तेरे सिवा यां ऐ मेरे मौला।
कोई रहा है और न रहेगा॥

मुसद्दस के दो छंद हैं:—

बस ऐ नाउम्मीदी न यों दिल बुझा तू।
झलक ऐ उम्मीद अपनी आखिर दिखा तू॥
ज़रा नाउमेदों उमीदों को डारस बँधा तू।
फ़सुर्दा[2] दिलों के दिल आखिर बढ़ा तू॥
तेरे दम से मुर्दों में जानें पड़ी हैं।
जली खेतियां तूने सरसब्ज़ की हैं॥

× × ×

बहुत डूबतों को तिराया है तूने।
बिगड़तों को अकसर बनाया है तूने॥

१—शोक, २—बुझे हुए,

उखड़ते दिलों को जमाया है तूने।
उजड़ते घरों को बसाया है तूने॥
बहुत तूने पस्तों[1] को बाला[2] किया है।
अंधेरे में अकसर उजाला किया है॥

[illegible] के तीन शेर देखिए:—

है जुस्तजू[3] कि खूब से है खूबतर[4] कहाँ।
अब ठैरती है देखिए जाकर नज़र कहाँ॥

× × ×

क़फ़स[5] में जी नहीं लगता किसी तहं।
लगादो आग कोई आशियां[6] में॥

× × ×

क़लक़[7] और दिल का सिवा[8] हो गया।
दिलासा तुम्हारा बला हो गया॥

हाली ने न तो खुलकर भारतवर्ष की राजनीति में भाग लिया और न स्पष्ट रूप से ऐसी कविताएं लिखी थीं जिनमें राजनीतिक समस्याओं का वर्णन हो पर जैसे जैसे समय बीतता जाता था यह बात स्पष्ट होती जाती थी कि भारतवर्ष में कला और जीवन का सम्बन्ध उस समय तक वास्तविक नहीं हो सकता जब तक खुल कर यहाँ की राजनीतिक अवस्था का उल्लेख न किया जाय। नई चेतना के परिणाम स्वरूप सन् १८८५ ई० में कांग्रेस जन्म ले चुकी थी। यह एक छोटी सी ठंढ़ी चिंगारी थी जो आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा की हवाएँ खाकर ज्वाला बन गई और अभी अधिक समय नहीं बीता था कि भारतवर्ष की जनता उसकी ओर आशापूर्ण दृष्टि से देखने लगी। उस समय उसको पूर्णतया न तो उच्च-वर्ग की सहानुभूति प्राप्त

१—गिरे हुओं २—ऊंचा ३—खोज, ४—उससे अच्छा, ५—पिंजड़ा, ६—घोंसला, ७—दुःख, ८—अधिक।

थी और न निम्न-वर्ग के लोग उसमें सम्मिलित थे। ब्रिटिश राज्य की प्रेरणा से साम्प्रदायिक संस्थाएँ भी बन रही थी और २०वीं शताब्दी के आरंभ ही में मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा साम्प्रदायिकता के झंडे लेकर मैदान में उतर आईं। यह अंग्रेजों की बड़ी भारी जीत थी, क्योंकि इससे एक ओर तो राष्ट्रीयता का मोर्चा निर्बल होता था, दूसरी ओर जन-साधारण अपनी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का हल इन्हीं धार्मिक संस्थाओं में ढूँढ़ता था। अगर २०वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष की दशा को देखा जाए तो प्रतीत होगा कि राजनीति और साम्प्रदायिकता को मिलाकर सुधार की ओर अग्रसर होने की चेष्टा भी उसी प्रकार जारी थी जैसे राष्ट्रीयता के मोर्चे को दृढ़ करके। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि धार्मिक होने और साम्प्रदायिक होने में बड़ा अंतर है और भारतवर्ष के इतिहास में उस अंतर के बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं। कई धार्मिक संस्थाएं विदेशी राज्य के विरुद्ध स्वतंत्रता के संघर्ष में सम्मिलित थीं पर साम्प्रदायिक संस्थाएं किसी न किसी रूप से अंग्रेजी राज्य की सहायक सिद्ध होती थीं। उर्दू कविता में अधिकतर स्वतंत्रता की लहर ऊँची और साम्प्रदायिकता का रंग फीका है। इस समय के दो बड़े कवि शिबली और अकबर जो धार्मिकता को जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग समझते थे, अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध भावनाएं प्रगट करने में किसी से पीछे न थे।

मौलाना शिबली, जिनका उल्लेख गद्य-रचना करने वालों के साथ आएगा, फ़ारसी और उर्दू के एक बड़े कवि थे। मुसलिम लीग बन चुकी थी और मुसलमानों को राष्ट्रीयता से दूर खींचने का प्रयत्न कर रही थी। मौलाना शिबली ने अपनी बहुत सी कविताओं में बड़े उल्लास और शक्ति से लीग की आलोचना की। वह अंग्रेजी राज्य के विरोध को एक धार्मिक कर्तव्य भी जानते थे और मुसलमानों को जगाते हुए उन्हें दासता के बंधनों को तोड़ने का उपदेश देते थे। उनकी कविताओं में व्यंग की मात्रा अधिक होती थी क्योंकि शत्रु पर चोट करने में व्यंग एक बड़ा यंत्र सिद्ध होता है। उनके इसी रंग को कुछ दिन बाद मौलाना ज़फ़र अली खाँ ने चमकाया और सैंकड़ों कविताओं में अंग्रेजी राज्य और उसके अत्याचार की बड़ी आलोचना करके बारम्बार जेल गये। मौलाना शिबली ने बहुत सी कविताये

नहीं लिखीं फिर भी उनका काव्य-संग्रह अध्ययन करने योग्य है। उन्होंने एक मसनवी "सुबहे-उमीद" भी लिखी है जिसका विषय हाली के मुसद्दस से मिलता-जुलता है। उनकी कविताओं में "अदले जहाँगीरी" और "शहर-आशोबे-इस्लाम" प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये कुछ शेर नीचे दिये जाते हैं। अंग्रेजों को सम्बोधित करके कहते हैं :--

कोई पूछे कि ऐ तहज़ीब-इन्सानी[1] के उस्तादो।
यह ज़ुल्म आराइयाँ[2] ताकै[3] यह हश्र अंगेज़ियाँ[4] कब तक ॥
यह माना तुमको तलवारों की तेज़ी आज़मानी है।
हमारी गर्दनों पर होगा इसका इम्तिहान कब तक ॥
यह माना क़िस्सए-ग़म से तुम्हारा जी बहलता है।
सुनायें तुमको अपने दर्दे-दिल की दास्ताँ कब तक ॥
समझ कर यह कि धुधले से निशाने-रफ्तगां[5] हम हैं।
मिटाओगे हमारा इस तरह नामो-निशाँ कब तक ॥

"अकबर" इलाहाबादी, जिनका पूरा नाम सैय्यद अकबर हुसैन था, हास्य-रस के महान कवियों में गिने जाते हैं। वह सन् १८४६ ई० में इलाहाबाद की तहसील बारा में पैदा हुए थे। छोटी पाठशालाओं में आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की, सन् १८६६ ई० में मुख्तारी की परीक्षा में सफल हुए और नायब-तहसीलदार बना दिए गए। सन् १८७० ई० में हाई कोर्ट में एक जगह मिल गई और उन्होंने वकालत का इम्तिहान पास कर लिया। कुछ समय वकालत करके सब-जज हो गए और सन् १९०३ ई० तक किसी न किसी रूप में न्यायालय विभाग से उनका सम्बन्ध रहा। इसी बीच में उन्हें "ख़ान बहादुरी" की उपाधि भी मिल गई थी और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के फ़ेलो भी चुन लिए गए थे। अकबर की मृत्यु सन् १९२१ ई० में हुई।

अकबर, "वहीद" इलाहाबादी के शिष्य थे और शुरू में केवल ग़ज़लें ही लिखते थे, जिनमें कभी-कभी तसौव्वुफ़ के विचार होते थे, पर अधिकतर लखनऊ का रंग उन पर छाया हुआ था। युवावस्था में संगीत कला से भी दिलचस्पी पैदा हो गई थी और कुछ मित्र ऐसे मिल गए थे जिनकी संगत में बुरे रास्तों पर चलने लगे थे, पर उनके

१—सभ्यता, २—अत्याचार, ३—कबतक, ४—प्रलय की दशा का करना, ५—प्राचीन लोगों के चिन्ह।

स्वभाव में एक प्रकार की धार्मिकता इस तरह रची हुई थी कि वह बहुत जल्द सम्भल गए और हास्य-प्रिय होते हुए भी धर्म और उनकी रीतों को सदैव अपनाते रहे। उन्होंने सन् १८६६ ई० के लगभग काव्य-रचना आरम्भ की और जबतक जीवित रहे उनके तीन संग्रह कई बार प्रकाशित हो चुके थ। चौथा संग्रह अब छपा है। कुछ और कविताएँ और लेख उनके परिवार में मौजूद हैं।

अकबर का युग भारतीय जीवन में महान परिवर्तनों का युग था और अकबर का बड़प्पन यह था कि उन्होंने अपने समय के विभिन्न प्रकार के संघर्षों को चेतना-पूर्वक समझने की चेष्टा की और छोटी बड़ी सभी घटनाओं को अपनी कविता का पात्र बनाया। यह एक नवीन प्रकार की वास्तविकता थी जिसमें प्रति दिन होने वाली बातों को हास्य और व्यंग के वस्त्र पहना कर सुन्दर कविता के रूप में उन्होंने सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया।

अकबर जब नई अवस्था में पहुँचे तो भारतवर्ष पूर्णतयः अंग्रेजों के अधिकार में आचुका था और ग़दर की विपत्तियों के पश्चात् मुसलमानों का मध्यमवर्ग अंग्रेजी राज्य से समझौता कर चुका था। अकबर भी सरकारी नौकर बन चुके थे परन्तु उनकी आँखें खुली हुई थीं और देश की दुर्दशा उनसे देखी न जाती थी। नए जीवन की समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि अकबर कभी उनसे विमुख होकर भूत-काल की ओर लौट जाते थे और उसी के गुन गाकर संतोष प्राप्त कर लेते थे और कभी उसके सामने परास्त होकर नैराश्य की बातें करने लगते थे। आरम्भ में उनके यहाँ हास्य और व्यंग का पता नहीं चलता पर सन् १८८५ ई० के बाद से उन्होंने इसी को अपनी कविता का विशेष अंग बना लिया। अकबर की शिक्षा जो कुछ थी और जिन परम्पराओं में उन्होंने आँख खोली थी वह समयकालीन स्थिति को समझने के लिए पर्याप्त नहीं थी इसलिए वह ज्ञान के बदले अन्तः-प्रेरणा पर विश्वास रखते थे और अपने विचारों ही की सहायता से नए युग की समस्याओं को हल कर लेना चाहते थे। उन्होंने अपने विचारों में पूरब और पश्चिम का एक निश्चित विभाजन कर लिया था और सारे नैतिक और धार्मिक गुण उनको पूरब में ही दिखाई पड़ते थे, पश्चिम केवल अपने पशुबल से पूरब का गला घोट रहा था। उन्हें यह भी सन्देह था कि पश्चिम केवल देश के भौतिक साधनों को ही नष्ट नहीं

कर देगा बल्कि उसके अध्यात्मवाद को भी मिटा डालेगा इसलिए उनके क़लम में जितनी शक्ति थी, उनके विचारों में जितना जोश और उनके शब्दों में जितना विष था, उन सबसे काम लेकर अकबर पूरब को पश्चिम से दूर रखना चाहते थे। अकबर यह जानते थे कि इस तूफ़ान को रोका नहीं जा सकता क्योंकि व्यवहारिक जीवन में पश्चिम से आए हुए विचारों से लाभ उठाना अनिवार्य था। इसीलिए अकबर के बहुत से विचार प्रतिक्रियावादियों से मिल जाते हैं। वह किसी अवस्था में भी विज्ञान और नए विचारों को लाभदायक नहीं समझते थे, यह एक प्रकार की आदर्शवादिता थी जो जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है। उनकी कविता में तसौव्वुफ़ का भी कुछ अंश था, वह भी उन्हें आदर्शवादी बनाता था। वह जीवन के परिवर्तनों को तुच्छ जानते थे और उनका विचार था कि जो लोग नई चेतना का साथ दे रहे हैं वह नैतिक सिद्धान्तों पर आघात कर रहे हैं। इन विचारों का परिणाम यह था कि वह अंग्रेज़ी शिक्षा, विज्ञान की जानकारी, स्त्रियों की शिक्षा और स्वतंत्रता, मशीन, हर वस्तु के विरुद्ध हो गए। वह डारविन, स्पेन्सर, मिल इत्यादि की हँसी उड़ाते थे और भाग्य में अटूट विश्वास रखने के कारण बदलती हुई स्थितियों का अनुसन्धान वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं कर सकते थे। उनका अन्तिम आश्रय धर्म था और जहाँ कहीं से भी उस पर चोट पहुँचने का भय होता था वह उसका विरोध करते और व्यंग के तीर चलाते थे।

अकबर की विशेषता यह है कि उन्होंने अंग्रेज़ी राज्य के आर्थिक लूट घसोट की अच्छी तरह समझ लिया था। वह उनकी सभ्यता के बाह्य-रूप को एक झूठी पालिश समझते थे। उनके साम्प्रदायिकता पैदा करने की प्रयत्नों का पोल खोलते थे। इस प्रकार हास्य के ओट से वह अंग्रेज़ी राज्य पर वह विष भरे तीर चलाते थे और सरकारी नौकर होते हुए भी मुँह में आई हुई बात कहने से न चूकते थे। उनको इस बात का अनुभव था कि हृदय की बात खुलकर नहीं कह सकते हैं। एक शेर में कहते है:—

मदख़ूलए गवर्नमेन्ट अकबर अगर न होता।
उसको भी आप पाते गांधी के गोपियों में॥

अकबर की रचनाओं को भली भाँति समझने के लिए मुख़्त-

भानों के धर्म, उनकी संस्कृति, भारतवर्ष के इतिहास और २०वीं शताब्दी के राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि हँसी-हँसी में वह ऐसी बातों की ओर संकेत कर जाते हैं जिन्हें जाने बिना उनके व्यंग से आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह अंग्रेज़ी फ़ारसी, अरबी और हिन्दी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से करते थे और अपने दिल की बात किसी न किसी प्रकार हास्य-जनक बना कर प्रगट कर देते थे वह उर्दू के एक महान् कवि और हास्य-रस के सबसे बड़े कवि समझे जाते हैं। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए:—

हर चन्द कि कोट भी है, पतलून भी है।
बँगला भी है, पाट भी है, साबून भी है॥
लेकिन यह मैं तुझसे पूछता हूँ हिन्दी[1]।
योरप का तेरी रगों में कुछ ख़ून भी है॥

× × ×

गोलियों के ज़ोर से करते हैं वह दुनिया को हज़म।
इससे बेहतर इस ग़िज़ा[2] के वास्ते चूरन नहीं॥

× × ×

क्या कहूँ इसको मैं बदबख़्तिए[3] नेशन के सिवा।
इसको आता नहीं अब कुछ इमीटेशन के सिवा॥

× × ×

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥

× × ×

हम क्या कहें अहबाब[4] क्या कारे-नुमायाँ[5] कर गए।
बी० ए० हुए, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गए॥

१—भारत निवासी, २—भोजन, ३—दुर्भाग्य, ४—मित्र, ५—विशेषकाम।

कोठी में जमअ है न डिपाज़िट हैं बैंक्स में।
क़ल्लाश[1] कर दिया मुझे दो चार थैंक्स में॥

× × ×

कर दिया करज़न ने ज़न,[2] मर्दों की सूरत देखिए।
आबरू चेहरे की सब फ़ैशन बना कर छीन ली॥

× × ×

पाकर ख़िताब नाच का भी शौक़[3] हो गया।
"सर" हो गए तो बाल का भी शौक़ हो गया॥

२०वीं शताब्दी के आरम्भ होने के थोड़े समय बाद ही से इतने कवि और लेखक सामने आने लगते हैं कि उनमें से कुछ ही का वर्णन किया जा सकता है। राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक कविताओं के साथ-साथ ग़ज़ल भी नए साँचें में ढल रही थी और कुछ प्रमुख कवि केवल ग़ज़लों ही के द्वारा जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत करते थे। उनका दृष्टिकोण और उनकी चेतना ग़ज़ल के उन कवियों से विभिन्न थी जो इससे पहिले गुज़र चुके थे पर यह भी याद रखना चाहिए कि ग़ज़ल में जो परिवर्तन होते हैं उनका पता स्पष्ट रूप से नहीं चलता, फिर भी जब हम आधुनिक काल की ग़ज़लों का अध्ययन करेंगे तो उनमें नई आवाज़ और जीवन की समस्याओं के प्रति नया दृष्टिकोण मिलेगा। इस स्थान पर केवल उन्हीं के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकेगा जो प्रमुख समझे जाते हैं। इस समय के कवियों में कई ऐसे भी हैं जो ग़ज़ल और दूसरे प्रकार की कविताएँ दोनों ही के लिखने में निपुण हैं। पर उनकी ख्याति वास्तव में किसी एक ही के कारण होती है, जैसे पंडित रतन नाथ "सरशार" कवि भी थे परन्तु वह केवल गद्य लिखने वाले समझे जाते हैं। इसी प्रकार मुंशी दुर्गासहाय "सुरूर", पंडित बृजनरायन "चकबस्त" और डा० इक़बाल इत्यादि बड़ी सुन्दर ग़ज़लें भी लिखते थे किन्तु उनकी काव्य-रचना की विशेषताएँ उनकी कविताओं ही में प्रगट होती हैं।

दुर्गासहाय "सुरूर" जहानाबाद के रहने वाले थे। उनके घर में

१—निधन, २—स्त्री, ३—शौक़,

चिरकाल से हकीमी होती थी और फ़ारसी, अरबी और उर्दू की चर्चा थी। वहीं उन्होंने सन् १८७३ ई० में जन्म लिया। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी परन्तु वह आत्मगौरव रखने के कारण उसी जीवन में आनन्द उठाते थे। बालपन ही से कविताएँ लिखते थे जो उर्दू की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। शराब पीने का ऐसा चस्का पड़ गया था कि उससे उनका स्वास्थ्य बिलकुल नष्ट हो गया, यहाँ तक कि ३७ वर्ष की आयु में सन् १९१० में उनका देहान्त हो गया।

सुरूर की कविताओं में एक प्रकार के शोकजनक वातावरण का अनुभव होता है। उनकी भावुकता या तो पूरी शक्ति से देश-भक्ति के विचार प्रकट करते समय उभर आती है या किसी करुणाजनक दुर्घटना का चित्रण करते समय। उन्होंने धार्मिक और ऐतिहासिक बिषयों पर भी बहुत सी कविताए लिखी हैं, कुछ कविताओं में प्रकृति का उल्लेख भी बड़ी सफलता, पूर्वक किया गया है। सुरूर अंग्रेज़ी भाषा कम जानते थे फिर भी उन्होंने लगभग बीस अंग्रेज़ी कविताओं का भाषान्तर इस प्रकार किया है कि अंग्रेज़ी कवियों की विशेषताएँ मिटने नहीं पाई हैं। वह दिन-रात, चलते-फिरते, उठते बैठते काव्य-रचना ही में मग्न रहते थे इसलिए थोड़ी सी आयु में भी उन्होंने बहुत कुछ कह डाला था। इनके दो संग्रह "जामे-सुरूर" और "ख़ुमख़ानए-सुरूर" प्रकाशित हो चुके हैं। उर्दू कविता के नए रंग को आगे बढ़ाने और देश-भक्ति के विचारों को प्रोत्साहन देने में सुरूर की कविताओं ने बड़ा भाग लिया। बालपन में फ़ारसी अधिक पढ़ने के कारण उनकी भाषा फ़ारसी से बोझिल और कठिन हो गई है। इसी के साथ-साथ उपामओं और अंलकारों के प्रयोग ने उसे और कठिन बना दिया।

मुंशी ज्वाला प्रसाद "बर्क़," महाराजा किशन प्रसाद "शाद", पंडित अमरनाथ "साहिर" इत्यादि भी इसी युग से सम्बन्ध रखते हैं, पर जो महत्व "चकबस्त" और "इक़बाल" को प्राप्त है वह किसी और को नहीं। पंडित ब्रजनरायन चकबस्त लखनऊ के एक कशमीरी ब्राह्मण परिवार से सम्बन्ध रखते थे। वह सन् १८८२ ई० में पैदा हुए और सन् १९०५ ई० में कैनिंग कालिज से बी० ए० पास किया और सन् १९०८ ई० में वकालत आरम्भ की। थोड़े ही समय में वह यहाँ के प्रमुख वकीलों में गिने जाने लगे। सन १९२६ ई० में सहसा उनका

देहान्त हो गया। चकबस्त बालपन ही से कविताएँ लिखते थे। आतिश, ग़ालिब और अनीस की कविताओं का पाठ बड़ी दिलचस्पी से करते थे और उन्हीं से प्रभावित भी थे। उस समय भारतवर्ष की राजनीति में जो हलचल मची हुई थी और स्वतंत्रता की लड़ाई जिस मंज़िल पर थी, चकबस्त की कविता उसका प्रतीक कही जा सकती है। राष्ट्रीयता ने जड़ तो पकड़ ली थी पर अभी अंग्रेज़ी से स्वाधीन होने की वह भावना उत्पन्न नहीं हुई थी जो उन्हें देश से निकाल बाहर करे, इसलिए चकबस्त भी अंग्रेज़ी राज्य की छाया में ही "होमरूल" प्राप्त करने का उपदेश देते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता और देश-भक्ति से उनकी कविताएँ भरी हुई हैं। इन दोनों भावों को वह ऐसी शक्ति-शाली कविताओं में प्रस्तुत करते थे कि इस समय तक उनकी समानता करने वाले कवि बहुत कम देख पड़ते हैं। बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेताओं के बन्दी बन जाने और मरने पर उन्होंने बड़ी प्रभावशाली रचनाएँ की हैं और देश की गौरव-रक्षा के लिए अपने प्राण तक त्याग देने पर उत्साहित किया है। वह विचार स्वतंत्रता के बड़े उपासक थे और उस समय भाषण और लेखों पर जो प्रतिबन्ध लगाए जाते थे उनका विरोध बड़े ज़ोरों से करते थे। उन्होंने कुछ धार्मिक और नैतिक सुधार से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ भी लिखी हैं पर यदि सबको मिलाकर देखा जाए तो प्रतीत होगा कि वह उस समय को देखते हुए एक क्रान्तिकारी कवि थे और कभी देश के प्राचीन गौरव की याद दिलाकर, कभी वर्तमान काल की आर्थिक दुर्दशा का चित्रण करके और कभी भविष्य का अनुमान लगाकर आगे बढ़ाना चाहते थे। उनकी भाषा लखनऊ की शुद्ध परिमार्जित भाषा थी चकबस्त बड़े अच्छे गद्य के लेखक भी थे और उनके लेखों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है जिससे उनके ज्ञान, आलोचना शक्ति और ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण का पता चलता है। मृत्यु से कुछ दिन पहिले उन्होंने अपना काव्य-संग्रह "सुबहे-वतन" प्रकाशित होने के लिए भेज दिया था पर वह उनकी मृत्यु के बाद निकला। यह संग्रह देवनागरी लिपि में भी छप चुका है। भारतवर्ष की प्रशंसा में एक कविता के कुछ भाग देखिए:—

ऐ ख़ाके-हिन्द[1] तेरी अज़मत[2] में क्या गुमां[3] है।
दरियाए - फ़ैज़े - क़ुदरत[4] तेरे लिए रवां है।

१—ऐ भारत की भूमि, २—श्रेष्ठता, ३—सन्देह, ४ - प्रकृति के दान की नदी

तेरी जबी[1] से नूरे - हुस्ने - अज़ल[2] अयां[3] है ।
अल्लः रे जेबो-ज़ीनत[4] क्या औजे-इज़्जो-शां[5] है ।।
हर सुब्ह है यह खिदमत खुरशीदे-पुर ज़िया[6] की ।
किरनों से गूंधता है चोटी हिमालिया की ।।
गौतम ने आबरू दी इस माबदे-कुहन[7] को ।
सरमद[8] ने इस ज़मी पर सदके[9] किया वतन को ।।
अकबर ने जामे-उल्फ़त[10] बख्शा इस अंजुमन को ।
सींचा लहू से अपने राना[11] ने इस चमन को ।।
सब सूर वीर अपने इस खाक[12] में निहां[13] है ।
टूटे हुए खडहर है या उनकी हड्डियां है ।।
बरसों से हो रहा है बरहम[14] समां[15] हमारा ।
दुनिया से मिट रहा है नामो-निशां हमारा ।।
कुछ कम नहीं अजल[16] से खाबे-गिरां[17] हमारा ।
एक लाशे - बेकफ़न है हिन्दोस्तां हमारा ।।
इसके भरे खज़ाने बरबाद हो रहे है ।
ज़िल्लत[18] नसीब खाबे-ग़फ़लत[19] में सो रहे हैं ।।

उर्दू साहित्य का वर्तमान काल गद्य का युग कहा जा सकता है परन्तु इसी काल ने ऐसे कवि भी पैदा किए जो जीवन की समस्याओं के समझने में दर्शन और तर्क, इतिहास और सामाजिक विज्ञान से काम लेते हैं। इनकी कविता मानव-जाति के प्रति वैसे ही सामाजिक और आर्थिक विचार प्रस्तुत करती है जैसे कोई विचारशील लेखक अपने निबन्धों में वादविवाद के पश्चात प्रस्तुत करेगा। कवि का माध्यम कल्पना और भावुकता होती है उन्हीं के द्वारा वह जीवन की गहराइयों में उतरता है और आन्तरिक संघर्ष का पता लगाता है जो मनुष्य-जाति में समाज और प्राकृति के अन्याय के विरुद्ध पैदा होती है, इसका सबसे

१—मस्तक, २—आदिकाल की सुन्दरता का प्रकाश, ३—प्रगट ४—बनाव शृंगार, ५—आदर और गौरव की उच्चता, ६—चमकदार सूर्य, ७—प्राचीन पूजा गृह, ८—एक सूफ़ी का नाम है, ९—न्यौछावर, १०—प्रेम का प्याला, ११—रानाप्रताप, १२—भूमि, १३—छिपे हुए, १४—उथल पुथल, १५—हाल, १६—मृत्यु, १७—गहरी नींद, १८—बुरे भागवाले, १९—बेपरवाही की नींद

सुन्दर और उत्कृष्ट वर्णन डा० इक़बाल की कविता में मिलता है कई कारणों से इक़बाल की रचनाएं वादविवाद का विषय बनी हुई है, क्योंकि एक ओर तो मुसलमान प्रतिक्रियावादी उन्हें अपनी ओर खींचते और अपना नेता बनाना चाहते हैं दूसरी ओर प्रगतिशील उनकी कविताओं में मानवता के प्रति श्रेष्ट और उत्तम उपदेश पाते हैं जिसे किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता और तीसरी ओर यह झगड़ा उठ खड़ा होता है कि उन्हें एक कवि के रूप में देखा जाए या दर्शन-शास्त्र के दृत्त के रूप में। यहा इस वाद-विवाद में पड़ना सम्भव नहीं है क्योंकि इक़बाल की रचनाओं में इतनी धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक धाराएं आकर मिलती हैं कि उनका विश्लेषणा दो-चार पृष्टो में नहीं किया जा सकता, केवल उनकी कविता के मूल आधारों और विशेषताओं का परिचय संक्षिप्तरूप से किया जा सकेगा। अंग्रेजी तथा उर्दू में छोटी बड़ी सैकड़ों पुस्तकें इक़बाल पर निकल चुकी हैं और जो भी इक़बाल का अध्ययन करना चाहेगा उसे बहुत कुछ पढ़ना पड़ेगा।

इक़बाल सन १८७४ ई० में सियालकोट (पंजाब) में पैदा हुए थे, उनके पूर्वज कश्मीरी ब्रह्मण थे। इक़बाल ने अपनी कविताओं में बड़े गर्व के साथ इसकी चर्चा की है। आरम्भ की शिक्षा उन्होंने सियाल-कोट में प्राप्त की फिर लाहौर चले गए। शिक्षा काल में वह अपने शिक्षालय के सर्वश्रेष्ट विद्यार्थियों में गिने जाते थे। दर्शनशास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्राप्त करके वह विशेष शिक्षा के लिए लन्दन गए, वहा उन्होंने बैरिस्टरी भी पास की और जर्मनी से दर्शन-शास्त्र में पी० एच० डी० की डिग्री भी प्राप्त की। योरप की यात्रा उनके जीवन की एक क्रान्ति जनक घटना है। उसने राजनीति और, जीवन के अन्य अंगो के बारे में उनका दृष्टिकोण एक दम बदल दिया। वहां से पलट कर वह लहौर में बैरिस्ट्री करने लगे। थोड़े समय के लिए एक कालिज में अध्यक्ष भी हो गए। थोड़ा-बहुत पंजाब की राजनीति में भी भाग लेते थे। सन् १९३१ ई० में मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में गोल मेज़ सभा में सम्मिलित होने लन्दन गए। उनका स्वास्थ्य बराबर खराब रहा करता था। सन् १९३६ ई० से दशा बिगड़ती गई और अप्रैल, सन १९३८ ई० में उनका देहान्त हो गया।

इक़बाल के जीवन में बहुत से उतार-चढ़ाव नहीं हैं पर एक

विचारशील पुरुष होने के कारण अन्दर ही अंदर उनमें घोर परिवर्तन होता रहा था और वह संसार की सभी घटनाओं से प्रभावित होते रहे थे। उनका बालपन एक ऐसे पिता के पास बीता जो धर्म को बड़ा महत्व देते थे और फ़ारसी की धार्मिक पुस्तकें इक़बाल से पढ़ा कर सुनते और उनके रहस्यों पर वाद-विवाद करते थे। इक़बाल को ऐसे गुरू भी मिलते गए जिन्होंने इक़बाल पर गहरा प्रभाव डाला। वह मुसलमानों के मध्यम वर्ग में उत्पन्न हुए थे और उसी की दृष्टि से जीवन की समस्याओं को देखते थे। भारतवर्ष के अन्दर बड़ी-बड़ी घटनाएँ और महान परिवर्तन हो रहे थे। मुसलमानों में एक प्रकार की जागृति पैदा हो चुकी थी जो उनके हृदय को कई ओर खींच रही थी। भारतवर्ष के बाहर मुसलमान देशों पर तबाही के बादल छाए हुए थे और लगभग सभी देश योरप के पैरों के नीचे कुचले जा रहे थे। योरप की सभ्यता, एशिया की सभ्यता को नष्ट कर रही थी और ऐसा जान पड़ता था कि मनुष्य जाति के अन्दर नैतिक गुणों के प्राप्त करने की शक्ति नष्ट हो चुकी है। इक़बाल इन सब बातों को समझते थे और जब उन्हें योरप में जाकर रहने और वहाँ के शासक वर्ग के विचारों से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ तो यह बात उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखीं कि योरप किस प्रकार सारे एशिया का रक्त चूस लेना चाहता है और अपनी सभ्यता फैलाने के बहाने उनकी आत्मशक्ति नष्ट कर देना आवश्यक समझता है, जिसमें कि उसे एशिया और अन्य पिछड़े हुए देशों पर अपना अधिकार रखने में सुविधा हो। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की जो भावना बढ़ रही थी आरम्भ में इक़बाल उस पर मुग्ध थे पर योरप जाकर वह ऐसे विचारों के सम्पर्क में आए और राष्ट्रों के आपस के झगड़े देख कर वह राष्ट्रीयता से खिन्न-हृदय हो गए कि उन्होंने संकीर्ण देश-भक्ति और राष्ट्रीयता को मानव-जाति की एकता और विकास के लिए बहुत हानिकारक बताया। इसके बहुत से कारण थे पर उन्होंने जिस वातावरण में इसे पूरी शक्ति से प्रस्तुत किया उसने उनके विरुद्ध अन्य प्रकार के भ्रम पैदा कर दिए। शनैः-शनैः वह प्रतिक्रियावादी मुसलमानों के नेता समझे जाने लगे क्योंकि उनके विचारों से यह प्रगट होता था कि वह मुसलमानों को किसी न किसी प्रकार से भारतवर्ष की दूसरी जातियों से अलग रखना और उनका सम्बन्ध

बाहर के मुसलमान देशों से जोड़ना चाहते हैं। इक़बाल ने इन विचारों को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया था और ऐसा जान पड़ता था कि वह किसी के विरुद्ध नहीं हैं वरन् संसार की पिछड़ी हुई अन्य जातियों और विशेषकर मुसलमानों को हर प्रकार के अत्याचारों से बचाना चाहते हैं। इसलिए यह कहना कठिन हो जाता है कि भारतवर्ष के स्वतंत्रता संग्राम के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण क्या था। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने स्पष्ट रूप से कभी उन आन्दोलनों का साथ नहीं दिया जो स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहे थे अगर्चे उन्होंने मानव-जाति की आत्म-स्वतंत्रता और विकास के प्रति बड़े उदार और उत्तम विचार प्रगट किए हैं।

यदि इक़बाल की रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक रूप में किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह उन परम्पराओं को आगे बढ़ा रहे थे जिन्हें सर सैय्यद और हाली के सुधारवादी आन्दोलन ने जन्म दिया था। उनकी कविता में एक लहर ऐसी भी थी जो अकबर इलाहाबादी की याद दिलाती है। उर्दू के सभी कवियों की भाँति उन्होंने भी आरम्भ में ग़ज़लें लिखी थीं और अपनी कविताएँ दाग़ को दिखाई थीं। पर थोड़ा ही समय बीतने के बाद उन्होंने अपना मार्ग आप बना लिया और सन् १८९९ ई० में अपनी पहिली महत्वपूर्ण कविता "हिमालिया" लिखी। इसके पश्चात् प्रकृति के सौन्दर्य, हिन्दु-मुसलिम एकता और जीवन की आन्तरिक संघर्ष पर बड़ी रोचक रचनाएँ कीं। इनमें एक विचारशील पुरुष का वह आश्चर्य है जो वह चारो ओर बिखरी हुई सुन्दर वस्तुओं को देख कर प्रगट करता है और हर वस्तु में जीवन के मर्म को खोज लगाता है। यही आरम्भिक आश्चर्य आगे बढ़ कर दार्शनिक और आध्यात्मिक वृत्तान्त का रूप धारण कर लेता है और इक़बाल उर्दू के सबसे बड़े दार्शनिक कवि बन जाते हैं।

इक़बाल की महत्ता यह है कि वह पूरब और पच्छिम के दर्शन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विज्ञान, इतिहास और राजनीतिक स्थिति प्रत्येक विषय से पूर्णतया परिचित थे। उनके समझने के लिए केवल इस्लामी विचारों से भली-भाँति विज्ञ होना ही आवश्यक नहीं बल्कि दूसरे सभी महान् धर्म उनके विचारों और आधुनिक विज्ञानों का जानना भी अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति इस्लामी दार्शनिकों के अतिरिक्त प्लैटो, नीटशे, बर्गसाँ

और आयन्स्टाइन से भली-भाँति परिचित नहीं है वह इक़बाल की कविता को नहीं समझ सकेगा। परन्तु ऐसा नहीं है कि इक़बाल ने केवल प्रसिद्ध फ़िलासफ़रों के विचारों को काव्य के रूप में लिख दिया बल्कि कहीं-कहीं उनसे मतभेद प्रगट किया हैं, उनकी आलोचना की है और उनके उन्हीं विचारों को स्वीकार किया है जो उनके दृष्टिकोण को दृढ़ बनाते थे। उनका दृष्टिकोण था क्या, संक्षिप्त में यह बताना कठिन है पर परिचय के लिए यह कह सकते हैं कि वे संसार में एक ऐसा अनुशासन और शासन चाहते थे जिसका आधार इस्लामी सिद्धान्तों पर हो, जिसमें एकता हो और मानव-जाति में किसी प्रकार का भेद-भाव न हो। मनुष्य केवल इस दुनिया ही पर नहीं, चाँद, सूरज, और तारों पर भी अधिकार प्राप्त कर ले। उसकी अन्तरात्मा पवित्र हो और संसार की किसी भौतिक शक्ति के सामने वह अपना मस्तक न झुकाए। मनुष्य को यह अधिकार हो कि वह संसार में जैसा जीवन बिताना चाहता है उसी के अनुकूल अपना संगठन करले परन्तु उसे कभी ईश्वर की इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं जाना चाहिए। उनका विचार था कि मनुष्य को आत्म शक्ति असीमित है और यदि वह उससे काम ले और आत्म-संयम पर चलकर उसे विकसित होने का अवसर दे तो वह ईश्वर के रचनात्मक कामों में सहायक हो सकता है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य से बड़ी कोई वस्तु नहीं पैदा की और सृष्टि की रचना भी उसी के हित में की है। इस आत्म शक्ति पर उन्होंने इतना ज़ोर दिया है कि कभी-कभी वह केवल एक अध्यात्मिक कल्पना मालूम होने लगती है और यह समझ में नहीं आता कि उसके विकास के साधन क्या हैं। यही बात उनको यथार्थवादियों से हटाकर आदर्शवादियों के निकट कर देती है और ऐसा जान पड़ता है कि वह यह सारे परिवर्तन वास्तविक भौतिक जीवन में नहीं बल्कि केवल कल्पनात्मक जीवन में चाहते थे। इक़बाल सूफ़ियों के इस विचार का घोर विरोध करते थे कि मनुष्य को अपने अहं को नष्ट कर देना चाहिए जिससे कि वह ईश्वर में मिल सके। इसके विपरीत इक़बाल यह समझते थे कि ईश्वर मनुष्य को उसी समय अपने निकट आने देता है जब वह अपनी सारी शक्तियों को काम में लाए और उन्हें विकसित करके अपने अंदर वह गुण पैदा करे जो अपने पूर्ण रूप में ईश्वर में पाए जाते हैं। फिर भी इक़बाल के यहाँ एक नए प्रकार का तसौव्वुफ़ देख पड़ता है जिसको हम आधुनिक काल के

आध्यात्मिक विचार कह सकते हैं। इक़बाल ने जीवन के हर गंभीर विषय पर दृष्टि डाली है और विरला ही कोई ऐसा विषय होगा जिसपर उन्होंने कविता न लिखी हो। विशेषकर उन्होंने आत्मशक्ति, मानव ज्ञान, सर्वगुण सम्पन्न अलौकिक पुरुष, प्रकृति पर मनुष्य की विजय, व्यक्ति और धर्म एवं समाज से उसका सम्बन्ध, पूरब और पश्चिम के दर्शन-शास्त्र इत्यादि पर फ़ारसी और उर्दू में बहुत सी कविताएं लिखी हैं और अपने अंग्रेज़ी भाषणों में भी इन पर गूढ़ विचार प्रगट किए हैं।

उर्दू में इक़बाल के केवल चार संग्रह हैं: "बाँगे-दरा" "बाले-जिबरील" "ज़र्ब-कलीम" और "अर्मग़ाने-हिजाज़"। फ़ारसी में उनकी कई पुस्तकें हैं जो उर्दू संग्रहों से अधिक महत्व रखती हैं। उनकी भाषा सरल नहीं थी परन्तु वह जिस प्रकार के विचार प्रगट करते हैं उनके लिए वही ठीक कही जा सकती हैं। सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी बहुत सी रचनाएँ उर्दू-फ़ारसी तो क्या, संसार की किसी भाषा में अपना स्थान बना सकती है। इक़बाल मनुष्य की शक्ति पर पूरा विश्वास रखते थे और उसके भविष्य के ऐसे गीत गाते थे कि उन्हें जो भी पढ़ेगा उन विचारों की संगीत और प्रवाह में बहने लगेगा। उनकी पूरी पूरी कविता यहाँ नहीं दी जा सकतीं, इधर-उधर से कुछ शेर उदाहरण के लिए लिखे जाते हैं:—

कोई अब तक न यह समझा कि इन्साँ।
कहां जाता है, आता है कहां से॥

× × ×

दिल में कोई इस तरह की आरज़ू पैदा करूँ।
लोट जाए आस्माँ मेरे मिटाने के लिए॥

× × ×

न पूछो मुझ से लज़्ज़त ख़ानुमा-बरबाद[1] रहने की।
नशेमन[2] सैकड़ों मैंने बना कर फूक डाले हैं॥

× × ×

भला निभेगी तेरी हमसे क्योंकर ऐ वाइज़[3]।
कि हम तो रस्मे-मुहब्बत को आम करते हैं॥

× × ×

१—जिस का घर उजड़ गया हो, २—घोंसले, ३—उपदेशक,

शक्ती[४] भी, शान्ती[५] भी भगतों के गीत में है।
धरती के बासियों की मुक्ती[६] प्रीत में है॥

× × ×

उरुजे-आदमे-खाकी[७] से अन्जुम सहमे जाते हैं।
कि यह टूटा हुआ तारा महे-कामिल[८] न बन जाए॥

× × ×

न तू ज़मी के लिए है न आस्माँ के लिए।
जहाँ है तेरे लिए, तू नहीं जहाँ के लिए॥

× × ×

सितारों से आगे जहाँ और भी है।
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं॥

बीसवीं शताब्दी में बहुत से ऐसे कवि पैदा हुए जो उर्दू साहित्य के इतिहास में जगह पाने के योग्य हैं। कुछ का वर्णन किया जा चुका है और कुछ ऐसे हैं जिन पर विस्तार से लिखना इस पुस्तक में संभव नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी रचनाएँ अध्ययन करने के योग्य नहीं। "शाद" अज़ीमाबादी, ज्वाला प्रसाद "बर्क", नौबतराय "नज़र", महराज बहादुर "बर्क", जगत मोहन लाल "रवाँ" अमर नाथ "साहिर", "रियाज़", खैराबादी, मौलाना "सफ़ी", "फानी", "अज़ीज़", "साक़िब", "सायल," "आरज़ू," "सीमाब," "असगर" गोंडवी, 'जरीफ़", "हसरत" मोहानी, उन कवियों में से हैं जिनका देहान्त हो चुका है, और तिलोकचन्द "महरूम" पंडित "कैफ़ी," "जिगर" मुरादाबादी, "यगाना" चंगेज़ी, "असर" लखनवी, "जोश" मलसियानी, इत्यादि अभी जीवित हैं पर जिनको विशेष कारणों से १९३० में तब तक के कवियों में गिना जा सकता है। उनके यहाँ आधुनिक काल का नयापन है पर वह नवीन चेतना जो क्रांति में सहायक होती है अथवा वह परम्पराओं के तोड़ने का साहस जो आधुनिकता को जन्म देता है, इनके यहाँ बिरला ही पाया जाता है। आगे के अध्याय में उन कवियों का

४—५—६—इसी प्रकार लिखा है, ७—मिट्टी के बने हुए मनुष्य की उन्नति, ८—पूरा चाँद।

उल्लेख किया जायगा जिन्होंने इस युग की व्याकुलता, उद्विग्नता, विचार, स्वप्न और आशा का चित्रण किया है। उपरोक्त कवियों में अधिकतर ऐसे हैं जो ग़ज़ल और अन्य प्रकार की कविताएं सभी लिखते रहे हैं और जिन्होंने अपने युग की धाराओं को नवीनता की ओर मोड़ने में भाग लिया है। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो परिपाटियों से बंधे हुए होने पर भी अपना व्यक्तित्व प्रगट करते हैं और इतिहास में अपना स्थान बना लेते हैं।

"शाद" अज़ीमाबादी बिहार के प्रथम श्रेणी के कवियों में गिने जाते हैं। वह बड़े विद्वान थे और प्राचीन परम्पराओं से भली भाँति विज्ञ होने के साथ साथ नए जीवन के विरोधी नहीं थे। उन्होंने अपनी ग़ज़लों में विशेषकर वास्तविकता और भावपूर्ण-प्रेम अनुभवों का उल्लेख किया है। एक बड़ी आयु पाकर वह सन् १९२७ ई० में परलोक सिधारे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और उनका काव्य-संग्रह भी उनकी मृत्यु के पश्चात "नग़मए-इल्हाम" के नाम से प्रकाशित हो चुका है उनकी कविता में बड़ी मिठास और रंगीनी पाई जाती है। दो तीन शेर देखिए :—

मैं और सैरे लालओ-गुल[1] हिज्रे-यार[2] में।
कैसी बहार आग लगा दी बहार में।

× × × ×

तमन्नाओं[3] में उलझाया गया हूँ।
खिलौने दे के बहलाया गया हूँ॥

× × ×

यह बज़्मे-मै[4] है याँ कोताह-दस्ती[5] मे है महरूमी[6]।
जो बढ़कर खुद उठाले हाथ में मीना[7] उसी का है॥

ज्वाला प्रसाद "बर्क़" सीतापुर के रहनेवाले थे। जजी तक पहुँच कर सन् १९११ ई० में शरीर त्याग दिए। गद्य और पद्य दोनों के लिखने में निपुण थे। सरल भाषा में भावों का प्रगट करना उन्हें खूब आता था। बहार के मौसम पर एक बड़ी रोचक मनसवी लिखी है पर

१—वाटिका की सैर, २—बिरह, ३—आशाओं में, ४—शराब भोज ५—हाथ नीचे रहना, ६—वंचित रहना, ७—बोतल

अधिकतर अपनी ग़ज़लों की वजह से प्रसिद्ध हैं। नौबत राय "नज़र" (१८६६ से १९२३) लखनऊ के प्रसिद्ध कवि थे। कई पत्रिकाओं के सम्पादक रहे परन्तु उनका जीवन बड़ी कठिनाइयों में बीता। स्वास्थ्य भी बहुत ख़राब रहता था। उस पर से परिवारिक जीवन की चिन्ताएं भी घेरे रहती थीं। अपने समय में गद्य और पद्य दोनों के अच्छे लेखकों में गिने जाते थे उन्होंने लखनऊ के कृत्रिम रंग से हट कर कविता में सुधार का प्रयास किया और सफल भी हुए। वह बाह्य सौन्दर्य के बदले हृदय की आन्त्रिक पीड़ा का उल्लेख करने को कविता जानते थे। उनके दो तीन शेर यह हैं:—

अभी मरना बहुत दुश्वार है, ग़म की कशाकश से।
अदा[1] हो जाएगा यह फ़र्ज भी फ़ुरसत[2] अगर होगी॥

× × ×

अब नहीं मालूम क्या दुनियां में है रंगे-बहार।
एक ज़माना हो गया छूटे हुए गुलज़ार से॥

× × ×

यूं तो दिल को कभी क़रार न था।
अब बहुत बेक़रार रहता है॥

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है उस समय के लगभग सभी कवि किसी न किसी प्रकार से पुरानी शैली में सुधार ही ओर बढ़ रहे थे और विशेषकर लखनऊ में काव्य-रचना में घोर परिवर्तन हो रहा था। ऐसा नहीं है कि उस समय के कवियों ने पुरानी परम्पराओं को बिल्कुल ही त्याग दिया हो पर यह अवश्य है कि वह कविता को केवल एक शब्दाडम्बर बनने से बचाना और उसके द्वारा जीवन की गहरी बातों को प्रस्तुत करना आवश्यक समझते थे। कुछ कवि ऐसे थे जो प्राचीन परिपाटियों से दूर नहीं जाना चाहते थे जैसे "साहिर", "सायल" और "बेख़ुद" इत्यादि, मगर इनका गहरा अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इनकी चेतना भी पुराने कवियों को देखते हुये कुछ न कुछ नई थी। वह पुराने कवियों में मीर, ग़ालिब आतिश अनीस का अनुसरण किया जाता था और नए कवियों में हाली,

---

१—पूरा २—अवकाश

इक़बाल और सुरूर का। चुनांचे महाराज बहादुर बर्क़ (१८८४-१९३६) जिनके घर में कई पीढ़ियों से काव्य-रचना की परम्परा चली आ रही थी, अंगरेज़ी कवियों के अतिरिक्त सुरूर जहानाबादी से प्रभावित थे। उन्होंने ग़ज़लें कम और कविताएं अधिक लिखी हैं। भाषा कठिन और फ़ारसी से भरी हुई होती थी। उनकी कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उन्हीं में से ग़ज़ल के दो तीन शेर देखिए:—

ज़र्फ़-मै[1] टूट के भी होने न पाए बेकार।
हो शिकस्ता[2] कोई शीशा तो वह पैमाना बने॥

× × ×

खुलती नही हक़ीकते - दुनियाए - वेसबात्[3]।
एक ख़्वाब सा है दीदाए-हैरां[4] के सामने॥

"सफ़ी" लखनवी (१८६३-१९५०) लखनऊ के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी मृत्यु अभी चार साल पहिले हुई पर वह उसी युग के कवियों में गिने जाते हैं जिनका उल्लेख हो रहा है। फ़ारसी अरबी के विद्वान होने के साथ साथ वह अंग्रेज़ी भी जानते थे और उन्होंने लखनऊ काव्य के रंग में बड़ा परिवर्तन किया। वह लगभग ६० वर्ष तक हर प्रकार की कविताएँ लिखते रहे। काव्य-शास्त्र के हर भाग में वह निपुण थे और स्वभाव ऐसा नम्र था कि उनसे मिलकर सभी लाभ उठाते थे। उन्होंने ग़ज़लों के अतिरिक्त लम्बी लम्बी कविताएँ भी लिखीं जिनमें भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों का अति सुन्दर वर्णन किया गया है। कुछ कविताओं में वह हाली के निकट जान पड़ते हैं क्योंकि वह भी काव्य-रचना के साथ साथ जीवन में सुधार और उन्नति चाहते थे। उनकी कविताओं के बहुत से संग्रह वर्तमान हैं पर उनमें से कुछ ही प्रकाशित हो सके हैं। एक मसनवी पर हिन्दुस्तानी एकैडेमी ने उनको पुरस्कार भी दिया है। आयु के अंतिम पंद्रह वर्षों में उन्होंने उमर ख़ैय्याम की रूबाइयों का उर्दू काव्य में अनुवाद किया है और उन पर बड़ी गवेषणात्मक टीकाएँ लिखी हैं। उनकी एक विशेषता यह थी कि पुराने होते हुए भी वह

१—शराब का पात्र, २—टूटा हुआ, ३—बोतल, ४—मायारूपी संसार का रहस्य, ५—चकित नेत्रों,

नवीनता से दूर नहीं भागते थे और उसे अपनाने की चेष्टा करते थे। उनके कुछ शेर यह हैं:—

दिल में रह रह के खटक होती है।
खालिसे - दर्दे - मुहब्बत[1] होगी॥

× × ×

आकर जो नहीं जाती वह है शबे-तनहाई[2]।
जाकर जो नहीं आती वह उम्रे-गुरेज़ां[3] है॥

× × ×

कल हम आईने में रुख[4] की झुर्रियाँ देखा किये।
कारवाने-उम्रे-रफ्ता[5] के निशां देखा किये।
ज़ोर ही क्या था जफ़ाए[6] बाग़वां देखा किये।
आशियां[7] उजड़ा किया हम नातवां[8] देखा किये॥

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी "अज़ीज़" (१८८०-१९३५ ई०) लखनऊ के प्रसिद्ध कवियों में से थे। वह भी उन लोगों में गिने जाते हैं जिन्होंने यहाँ की कविता में भावुकता को महत्व दिया और नए विषय लाकर उसका क्षेत्र बढ़ाया। वह भी मीर और ग़ालिब के उपासक थे और उन्हीं के प्रकार गम्भीर विचार भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते थे। ग़ज़ल के अतिरिक्त वह क़सीदे भी बहुत उच्च-कोटि के लिखते थे। उनके क़सीदे धार्मिक नेताओं की प्रशंसा में होते थे। अज़ीज़ के दो काव्य-संग्रह "गुलकदा" और "सहीफ़ए-विला" प्रकाशित हो चुके हैं। शिबली, अकबर, शरर और इक़बाल सबने उनकी ग़ज़लों की प्रशंसा की है। उनकी ग़ज़ल के शेरों का रंग यह था:—

पहिले आईना एक नज़र देखो।
फिर मेरा दिल मेरा जिगर देखो॥

× × ×

१—प्रेम पीड़ा की खटक, २—विरह की रात, ३—भागती हुई आयु, ४—मुखारबिंदु, ५—बीती हुई आयु का क़ाफ़िला, ६—अत्याचार, ७—घोंसला ८—निर्बल।

हाय मजबूरियाँ मुहब्बत की।
चाहिए जो न था किया मैं ने॥

× × ×

बिजली सी एक सामने आकर निकल गई।
क्या देखते ही देखते दुनिया बदल गई॥

× × ×

अपने मरकज़[1] की तरफ़ माइले-परवाज़[2] था हुस्न।
भूलता ही नहीं आलम[3] तेरी अंगड़ाई का॥

मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन "साक़िब" (१८६६-१९४६ ई०) भी लखनऊ के सुविख्यात कवि थे। पिता की नौकरी के नाते इलाहाबाद, भूपाल और आगरा में भी रहे पर अधिक समय लखनऊ ही में गुज़रा। काव्य-रचना में इस प्रकार मग्न हो जाते थे कि इधर-उधर की खबर न रहती थी अधिकतर ग़ज़लें कहते थे और मीर और ग़ालिब के मार्ग पर चलने को अपने लिए गर्व की बात जानते थे। उनकी कविता में थोड़ा बहुत लखनऊ का बनावटी रंग भी मिलता है परन्तु वह अधिकतर हार्दिक भावों का चित्रण करते थे। उनका संग्रह भी "दीवाने-साक़िब" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनके कुछ शेर यह हैं:—

बाग़बाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे।
जिन प तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे॥

× × ×

तड़पा दिया है दिल को, शाबाश हम-सफ़ीरों[4]।
यूंही फिर एक सदा[5] दो टूटा क़फ़स, चला मैं॥

× × ×

दुआएँ दे मेरे बाद आने वाले मेरी वहशत को।
बहुत काँटे निकल आए मेरे हमराह[6] मंजिल से॥

असग़र हुसैन "असग़र" गोंडवी (१८८४-१९३६ ई०) वर्तमान काल के कवियों में अपनी सूफ़ियाना रचनाओं के लिए प्रसिद्ध

१—केन्द्र, २—उड़ने पर तैयार, ३—हालत ४—साथ की गाने वाली चिड़ियाँ, ५—आवाज़, ६—साथ

हैं। शिक्षा ठीक से नहीं हुई थी पर अपनी लगन से इतना पढ़ लिया था कि विद्वानों में गिने जाने लगे थे। सूफ़ी-मत से दिलचस्पी थी और अपनी कविता में विशेष कर उसी के गूढ़ ज्ञान प्रस्तुत करते थे कभी-कभी गद्य भी लिखते थे। उर्दू की प्रसिद्ध मसनवी गुलज़ारे-नसीम उनकी टीकाओं के साथ प्रकाशित हुई थी। अधिकतर ग़ज़लें लिखते थे, भाषा फ़ारसी से बोझिल होती थी परन्तु उनकी कविता में रस और सौन्दर्य बड़ी मात्रा में मिलते थे। उनके दो छोटे-छोटे काव्य-संग्रह "निशाते-रूह" और "सरोदे-ज़िन्दगी" प्रकाशित हो चुके हैं। उनके दो शेर पढ़िए :—

जोशे-जुनू में छूट गया आस्तान-यार।
रोता हूँ मुह प दामने-सहरा लिए हुए॥

× × ×

मैं क्या कहूँ कहाँ है मुहब्बत कहां नहीं।
रग रग में दौड़ी फिरती है नश्तर लिए हुए॥

"फ़ानी" बदायूनी, जिनका नाम शौकत अली था, इस समय के प्रसिद्ध कवियों में से थे। जीवन काल १८७६ से १९४२ ई० तक है। एल० एल० बी० पास करके लखनऊ, आगरा और इटावा में वकालत करते रहे, फिर हैदराबाद चले गए और वहीं अंतिम समय तक भिन्न-भिन्न नौकरियाँ करते रहे। बालपन ही से कविता की देवी के सामने शीश झुकाया था और २० वर्ष की आयु में एक संग्रह तैय्यार कर लिया था। उन्होंने मिल्टन और दूसरे कवियों की रचनाओं के अनुवाद भी किए थे; पर यह समस्त पूँजी किसी प्रकार नष्ट हो गई। इसके पश्चात् जो कुछ लिखा वह सब "कुल्लियाते-फ़ानी" के नाम से प्रकाशित हो गया है। फ़ानी ने अपना जीवन बड़े दुख में बिताया और कहा जा सकता है कि इसी स्थिति ने उनको उर्दू का सबसे बड़ा निराशावादी कवि बना दिया। उनकी कविता का रंग मीर और ग़ालिब से मिलता-जुलता है। थोड़ा-बहुत लखनऊ का प्रभाव भी है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह प्रथम-श्रेणी के कवि थे जिनके विचारों में दार्शनिक तत्व और भावपूर्ण वास्तविकता दोनों की कमी नहीं है। जीवन उनके लिए एक विपत्ति है जिससे मनुष्य-जाति मर कर ही छूट सकती है। उनकी कविता का रंग यह है:—

अदा से आड़ में खंजर की मुँह छिपाए हुए।
मेरी क़ज़ा[1] को वह लाए दूल्हन बनाए हुए ॥

× × ×

एक फ़िसाना सुन गए, एक कह गए।
मैं जो रोया मुस्कराकर रह गए ॥

× × ×

वह है मुख्तार[2] सज़ा दे कि जज़ा दे फ़ानी।
दो घड़ी होश मे आने के गुनहगार हैं हम ॥

× × ×

बिजलियाँ टूट पड़ी जब वह मुकाबिल से उठा।
मिल के पलटी थीं निगाहें कि धवाँ दिल से उठा ॥

× × ×

न इब्तिदा[3] की ख़बर है न इन्तिहा[4] मालूम।
रहा यह वहम कि हम है, सो वह भी क्या मालूम ॥

अज़ीज़ लखनवी के शिष्यों में जगत मोहन लाल "खां" (सन् १८८६-१६३४ ई०) बहुत प्रसिद्ध हैं वह उन्नाव के रहने वाले थे और एम० ए० एल० एल० बी० तक शिक्षा लखनऊ में प्राप्त की थी। उन्नाव में सफलता पूर्वक वकालत भी करते थे और काव्य - क्षेत्र में भी अपना स्थान बना रहे थे। उनका काव्य-संग्रह "रूहे-खाँ" और एक मसनवी "नक़्दे-खाँ" प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने कुछ अधूरी कविताएँ भी छोड़ीं जो उनके परिवार के पास सुरक्षित हैं। वह ग़ज़लें और रुबाइयाँ बड़े मनोहर और प्रभावित करने वाले ढंग से लिखते थे। उनकी कविताएँ भी बड़ी गम्भीर और विचारशील होती थीं। दो-चार शेर यह हैं:—

हंसे भी रोए भी लेकिन न समझे।
खुशी क्या चीज़ है दुनियाँ में गम क्या ॥

× × ×

१ मौत, २ अधिकारी, ३ आदि, ४ अन्त

क्यों ! सच है मुहब्बत का असर जाया नहीं होता।
वह रो देते हैं अब भी ज़िक्र आता है जहाँ मेरा॥

× × ×

पैहम[1] दिए वह रंज कि इन्सां बना दिया।
मिन्नत - पिज़ीर[2] हूँ सितमे - रोज़गार का॥

× × ×

किसी तरफ़ नज़रे-यास करके रो देना।
मेरी ज़ुबाँ में इसी को फ़ुग़ाँ भी कहते हैं॥

सैय्यद मक़बूल हुसैन "ज़रीफ़" लखनऊ के हास्य-रस के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषयों पर अपने रंग की कविताएं लिखीं जिनके अध्ययन से उनकी सामाजिक चेतना का भी पता चलता है। हँसी-हँसी में बहुत सी काम की बातें कही हैं जो जीवन सुधार के लिए अत्यन्त लाभदायक हो सकती हैं। उनकी कविताओं का संग्रह "दीवानजी" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनकी कविता का रंग यह है:—

वहशत में हर एक नक़शा उलटा नज़र आता है।
मजनूं नज़र आती है लैला नज़र आता है॥

× × ×

मुह फुलाकर तश्ना-कामाने-मुहब्बत[3] को हुज़ूर।
शरबते - दीदार का पूरा घड़ा देने लगे॥

कुछ महीनों के अलबल में उर्दू के तीन अच्छे कवि परलोक सिधारे, दिसम्बर, सन् १९५० ई० में "सीमाब"; अप्रैल, सन् १९५१ ई० में "आरज़ू", और मई १९५१ में "हसरत" मोहानी। सीमाब (१८८० से १९५०) आगरा के प्रमुख कवियों में से थे। आरम्भ में "दाग़" को अपनी कविताएं दिखाई थीं। कुछ दिन इधर-उधर नौकरी करते

१—बराबर, २—कृतज्ञ, ३—प्रेम के प्यासों,

बीता पर बाद में केवल साहित्यिक कामों में लगे रहते थे। गद्य और पद्य में छोटी-बड़ी मिलाकर ३०० के लगभग रचनाएं की हैं। वह बहुत लिखते थे और हर प्रकार की कविताएँ तीव्र-गति से लिख सकते थे। उन्होंने कविता का एक "आगरा स्कूल" चलाने की चेष्टा भी की थी। उनके प्रसिद्ध संग्रहों में "कारे-इमरोज़", "कलीमे-अजम", "शेरे-इनक़िलाब", और "सिदरतुल-मुन्तहा" के नाम लिए जा सकते हैं। उनका कोई विशेष रंग नहीं है पर भाषा और काव्य-शास्त्र पर पूर्ण अधिकार रखने के कारण कभी-कभी वह नए जीवन की समस्याओं पर भी विचार प्रगट करते थे। उनके शिष्यों की संख्या सारे भारतवर्ष में सहस्रों तक पहुँचती है। ग़ज़ल के दो-चार शेर देखिए:—

बदल गई वह निगाहे यह हादसा[1] था अखीर।
फिर इसके बाद कोई इनक़िलाब हो न सका॥

× × ×

कहानी मेरी रूदादे-जहा[2] मालूम होती है।
जो सुनता है उसी की दास्तां मालूम होती है॥
चमन के सानहे[3] को मुद्दतें गुजरी मगर अब भी।
चमकती है जो बिजली अशियाँ मालूम होती है॥

× × ×

हर चीज़ पर बहार, हर एक शै पर हुस्न था।
दुनिया जवान थी मेरे अहदे-शबाब[4] मे॥

सैय्यद अनवर हुसैन "आरज़ू" (१८७२—१९५१) लखनऊ के बहुत बड़े कवि समझे जाते थे, इन के पिता भी एक अच्छे कवि थे। आरज़ू जलाल के शिष्य थे परन्तु थोड़े ही समय में काव्य-शास्त्र पर उनको इतना अधिकार प्राप्त हो गया कि गुरू ने अपने दूसरे शिष्यों को उन्हीं के पास भेज दिया। जलाल की मृत्यु के पश्चात आरज़ू को उनकी गद्दी मिली। उनके जीवन का बड़ा भाग बड़ी कठिनाइयों और चिन्ताओं में बीता। कलकते और बम्बई के थियटरों के लिए ड्रामे और फ़िल्मों

१—दुर्घटना २—सारे संसार की कथा ३—दुर्घटना ४—युवावस्था

के लिए गाने लिखते रहे। वह भाषा विज्ञान के बहुत बड़े ज्ञाता और लखनऊ की भाषा के सबसे बड़े जानकार माने जाते थे। उनकी कविताओं के चार संग्रह "फ़ुग़ाने-आरज़ू", "जहाने-आरज़ू", "बयाने-आरज़ू" और "सुरीली बाँसुरी" प्रकाशित हो चुकें हैं। इनके अतिरिक्त और कई महत्वपूर्ण पुस्तकें जो व्याकरण और अलंकार से सम्बन्ध रखती है छप गई हैं। आरज़ू ने हिन्दुस्तानी भाषा में कुछ कविताएं लिखी हैं जिनमें अरबी या फ़ारसी का कोई शब्द नहीं आता और यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस सरल भाषा में भी वह अपने मनोभाव बड़े प्रवाह-पूर्ण ढ़ंग से प्रगट करते हैं। वह भी उन कवियों में गिने जाते हैं जिन्हों ने लखनऊ के रंग को सुधार कर निखारा। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए:—

चाहत का फल ऐसा है जैसे जल जाए खेती बोई हुई।
क्या होता है आँसू पोछने से, छिपती नहीं आँखें रोई हुई॥

× × ×

है एक ही होना तो यह अनबन नहीं अच्छी।
मेरा सा न बन तो मुझे अपना सा बना दे॥

× × ×

तारा टूटते सबने देखा, यह नही देखा एकने भी।
किसकी आँख से आँसू टपका, किस का सहारा टूटा है॥

× × ×

जो देखेगा रोते मुझे, तुमको हंसते।
मेरी बात छोड़ो तुम्हें क्या कहेगा॥

भारतवर्ष के प्रसिद्ध राजनीतिक नेता और प्रमुख कवि सैय्यद फ़ज़लुल हसन "हसरत" मोहानी (१८७५-१९५१) मोहान, ज़िला उन्नाव के रहने वाले थे। अलीगढ़ मे बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और उसी समय से भारतवर्ष के स्वतंत्रता आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। पूर्ण स्वराज्य के उपासक और असाधारण साहस के पुरुष थे।

न जाने कितनी बार जेल गए, अधिकतर कविताएं जेल ही में लिखी हैं। जब कभी बाहर आए तो साहित्यिक पत्रिकाएं निकालते और उर्दू कवियों के निर्वाचित संग्रह छापते रहे। यह इतना महत्वपूर्ण काम है जिसको भुलाया नहीं जा सकता। हसरत एक अच्छे आलोचक भी थे और उन्होंने काव्य-रचना के गुणों और अवगुणों पर कई पुस्तकें लिखीं। उन्हें आधुनिक युग में उर्दू का सबसे बड़ा ग़ज़ल लिखने वाला माना गया है और इसमें सन्देह नहीं कि मनोभावों का सरल और उसी के साथ हृदयंगम हो जाने वाला वृत्तान्त उनसे अधिक और किसी के यहाँ नहीं मिलेगा। उनके जीवन की सरलता, सचाई और गम्भीरता सब उनकी कविताओं में प्रवेश कर जाती है। यह भी ठीक है कि उनके यहाँ कोई दार्शनिक गहराई और विचारों का अनोखापन नहीं पाया जाता परन्तु वह अनुपम सादगी जो बनावट से एक मात्र वंचित होने के कारण हृदय में अपना घर बना लेती है, उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। प्रेम के भावों और युवावस्था के अनुभवों का चित्रण एक विचित्र सरलता से हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि यह बातें सबके हृदय की हैं। काव्य शैली की प्राचीन और नवीन धाराएं उनके यहाँ एक हो जाती हैं। उनका काव्य संग्रह १३ छोटे-छोटे भागों में प्रस्तुत हो चुका है, और सब मिलाकर भी "कुलियाते-हसरत" के नाम से छपा था जो अब नहीं मिलता है। उदाहरण के लिए यह शेर देखिए :—

हुस्ने-बेपरवा[1] को खुद-बीनो-खुदारा[2] कर दिया।
क्या किया मैंने कि इज़हारे-तमन्ना कर दिया॥

× × ×

नहीं आती तो याद उनकी महीनों तक नहीं आती।
मगर जब याद आते हैं तो अक्सर याद आते हैं॥

× × ×

वर्क़ को अब्र[3] के दामन में छिपा देखा है।
हमने उस शोख को मजबूरे-हया[4] देखा है॥

× × ×

१—सुन्दर व्यक्ति जिसको अपनी सुन्दरता का अनुमान नहीं है, २—आत्म-गौरव रखने वाला, ३—बादल, ४ लज्जाशील

परदे से एक झलक जो वह दिखला के रह गए।
मुश्ताके-दीद[1] और भी ललचा के रह गए॥

× × ×

हम से हर चन्द वो ज़ाहिर मे खफ़ा है लेकिन।
कोशिशे-पुरसिशे-हालात[2] चली जाती है॥

× × ×

दिले-मुज़्तर की सादगी देखो।
फिर उन्ही से सवाल करता है॥

× × ×

लाखों है तेरी दीद के मुश्ताक़ मगर हम।
नाचार तुझे जी से भुलाने मे लगे है॥

× × ×

है मश्क़े-सुखन[3] जारी, चक्की की मशक़्क़त भी।
एक तुरफ़ा[4] तमाशा है 'हसरत' की तबीअत भी॥

यह सब कवि इसी युग के हैं पर उनकी वाणी आज के तीव्र-गति जीवन को देखते हुए कुछ पुरानी जान पड़ती है। यह अब संसार में नहीं है पर इनकी कविताएं हर पाठक के हृदय में जीवन के समझने की इच्छा पैदा कर देती हैं। अपनी शिक्षा पारिवारिक जीवन और चेतना के फलस्वरूप इनकी रचनाओं में प्रभावित करने की शक्ति एक सी नहीं है। कुछ आलोचकों का विचार है कि शैली और चेतना दोनों को देखते हुए इन सबका अध्ययन एक साथ नहीं किया जा सकता क्योंकि यह विभिन्न परम्पराओं से प्रेरणा लेते हैं। पर एक इतिहास में उनको इसी स्थान पर रखना पड़ेगा जहाँ उन्होंने जन्म लिया और आलोचकों को यह सोचना पड़ेगा कि वह किस हद तक समकालीन जीवन से प्रभावित होकर रचनाएँ करते थे। यदि वह केवल रूढ़िवादी हों या रीति-गति को

१— देखने के उत्सुक, २—हाल पूछने की कोशिश, ३—काव्य-रचना, ४—अनोखी,

छोड़ना चाहते हों तो उसके कारणों को भी देखना आवश्यक होगा। भविष्य का इतिहासकार उनके सम्बन्ध में यह निश्चय करेगा कि वह कितना महत्व रखते हैं। अब संक्षिप्त में उन कवियों के नाम लिए जाते हैं जिनको किसी न किसी प्रकार से इसी समुदाय में गिना जाएगा और वह अभी जीवित भी हैं।

पंडित बृजमोहन दत्तात्रिय "कैफ़ी" सन् १८६६ ई० में पैदा हुये, फ़ारसी और उर्दू घर पर पढ़ी और अंग्रेजी दिल्ली के सेन्ट स्टीफ़ेन्स कालिज में। उन्होंने योरप की यात्रा भी की। इस प्रकार पुराने होते हुए भी उन्होंने नवीन विचारों को उदार हृदय से ग्रहण किया। हाली और आज़ाद से भी उनका परिचय रह चुका है। वह भाषाओं के बहुत बड़े विद्वान और उर्दू के बहुत बड़े जानकार माने जाते हैं। गद्य और पद्य दोनों में निपुण हैं और बहुत सी महत्वपूर्ण पुस्तकें लिख चुके हैं। उन्होंने कविताएँ बहुत लिखी हैं पर उनमें वह रस और मन-हरण शक्ति नहीं पाई जाती जो काव्य-रचना के लिए आवश्यक है। उनकी गद्य रचनाएँ अत्यन्त विचारशील और महत्वपूर्ण हैं। इस समय तक वह कुछ न कुछ लिखते जा रहे हैं और उर्दू भाषा के गिने चुने विद्वानों में उनको भी गिना जाता है।

"जोश" मलसियानी जिनका नाम पंडित लभ्भूराम है सन् १८८३ ई० में पंजाब में पैदा हुए थे और कविता में दाग़ के शिष्य हैं, काव्य-शास्त्र और भाषा के बड़े जानकार समझे जाते हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है और अभी बहुत कुछ छापने को बाक़ी है। वह अधिकतर ग़ज़लें लिखते हैं, कभी-कभी दूसरे प्रकार की कविताएँ भी लिखी हैं। गद्य में आलोचना उनका विशेष विषय है और अभी कुछ समय पूर्व उन्होंने ग़ालिब की कविताओं की टीका लिखी हैं जिससे उनके ज्ञान का पता चलता है।

तिलोक चन्द "महरूम" ने सन् १८८५ ई० के लगभग सरहदी प्रान्त में जन्म लिया। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करके शिक्षा-विभाग में नौकर हो गए। १२, १३ वर्ष की आयु से कविताएँ लिखते हैं और बहुत कुछ लिख चुके हैं। उनका एक संग्रह "गंजे-मआनी" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। पुराने जीवित कवियों में वह बड़े आदरणीय समझे जाते हैं। उनकी कविता में धार्मिक एकता और देश-भक्ति का अंश बहुत होता है। ग़ज़लें कम कहते हैं, पर जो कुछ कहते हैं वह

सरस होती हैं। उन्होंने कुछ कविताएँ बालकों के लिए भी लिखी हैं। बेकी और जोश मलसियानी की तरह घरसे बेघर होकर अब यह भी दिल्ली में रहते हैं।

तीन कवि "यगाना", "जिगर" और "असर" इस समय के प्रमुख कवि गिने जाते हैं। परन्तु जिन कारणों का ऊपर उल्लेख हुआ उनको देखते हुए इनको भी नव-जाग्रत के कवियों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अपनी विशेषताओं की दृष्टि से यह वर्तमान युग को भी प्रभावित करते हैं पर जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में इनका वह दृष्टिकोण नहीं है जो आज के नए लेखकों का है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी रचनायें मानव-जीवन के रंग-विरंगे चित्रों से खाली है बल्कि उनकी दृष्टि गहरी और मनोभावों का अध्ययन विस्तृत है, इसलिये उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में आज के उर्दू साहित्य पर पड़ रहा है।

मिर्ज़ा वाजिद हुसैन "यगाना" चंगेज़ी सन् १८८४ ई०में पटने में पैदा हुए। वहां के बड़े-बड़े विद्वनों और कवियों से शिक्षा प्राप्त की। फ़ारसी के अतिरिक्त अंगरेज़ी से भी भली भाँति परिचित हैं। आरम्भ में "यास" के नाम से कविताएं लिखते थे। सन् १९०५ ई० के लगभग लखनऊ आए और यहाँ के साहित्यिक जीवन में इस प्रकार सम्मिलित हुए कि यहीं के हो रहे। काव्य-क्षेत्र में किसी से लड़े, किसी को पछाड़ा, किसी से मित्रता की और इस प्रकार आज तक अपने व्यक्तित्व और अहं को किसी के सामने झुकने नहीं दिया। उनकी कविता पढ़कर मानव-जीवन की शक्ति का अनुभव होता है। स्वतंत्रता, बांकपन और सबलता उनके विचार की विशेषताएँ हैं। भाषा में कभी-कभी बोलचाल के साधारण शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। उन्होंने ग़ालिब के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है और बहुत से दूसरे कवियों से भी वह संतुष्ट नहीं हैं। दूसरी गद्य रचनाओं के अतिरिक्त उनकी गज़लों का संग्रह "आयाते-बिजदानी" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनके कुछ शेर यह हैं :—

इसी फ़रेब[1] ने मारा कि कल है कितनी दूर।
इस आजकल में अबस[2] दिन गवांए हैं क्या क्या॥

१—धोखा २ व्यर्थ

पहाड़ काटने वाले ज़मी से हार गए।
इसी ज़मीन में दरिया समाऐ है क्या क्या॥
ख़ुशी में अपने क़दम चूम लूं तो ज़ेबा[1] है।
वह लग़ज़िशो[2] प मेरी मुस्कराएँ हैं क्या क्या॥
ख़ुदा ही जाने यगाना मैं कौन हूँ क्या हूँ।
ख़ुद अपनी ज़ात[3] प शक दिल में आए है क्या क्या॥

× × ×

कैसे कैसे ख़ुदा बना डाले।
खेल बंदे का है ख़ुदा क्या है॥

मिर्ज़ा जाफ़र अलीखां "असर" ने सन् १८८५ ई० में लखनऊ में जन्म लिया। उनका परिवार यहाँ का प्रसिद्ध शिक्षित और सम्पन्न परिवार था। "असर" ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की और सन १९०९ ई० में उनको डिप्टी कलक्टरी मिल गई और लगभग सन् १९४४ ई० तक यह सिलसिला चलता रहा। उन्हों ने कविताएँ लिखना बालपन ही से आरम्भ कर दिया था और अज़ीज़ लखनवी के शिष्य हो गए थे। वह अंग्रेज़ी और फ़ारसी के भी बड़े विद्वान हैं और लखनऊ की भाषा के बड़े ममज्ञ समझे जाते हैं। वह जितने बड़े कवि हैं उतने ही बड़े आलोचक भी हैं और उनकी आलोचनाओं की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनको मीर की कविता से अत्यन्त प्रेम है, वैसे तो उन्होंने सभी कवियों का गहरा अध्ययन किया है पर मीर पर उनके लेख गहरे विचारों का पता देते हैं।

उन्होंने हर प्रकार की कविताएँ लिखी हैं जिनमें अधिकतर ग़ज़लें हैं। परन्तु दूसरी प्रकार की कविताओं की संख्या भी कम नहीं। दूसरी भाषाओं की श्रेष्ट कविताओं का अनुवाद भी उन्होंने पद्य में किया है। उनका भगवत गीता का अनुवाद भी बड़ी उच्च-कोटि की कविताओं में गिना जाता है और "नग़मए-जावेद" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। ग़ज़लों के दो संग्रह "असरिस्तान" और "बहारां" भी छप चुके हैं। इनके अतिरिक्त कई और संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और कई छपनेवाले हैं। असर की ग़ज़लें बहुत सादा और रंगीन होती हैं।

---

१ - उचित है २—लड़खड़ाने ३ - व्यक्तित्व

उनकी भाषा सरल और मधुर होती है। कभी-कभी गहरे सूफ़ियाना और दार्शनिक विचार भी प्रस्तुत करते हैं परन्तु प्रेम-भावनाओं का उल्लेख बहुत ही भावपूर्ण होता है। नमूने के लिए उनके यह शेर देखिए:—

भूलने वाले से कोई पूछता।
मैं तुझे दिलसे भुलाऊँ किस तरह॥

× × ×

हमने रो रो के रात काटी है।
आंसुओं में यह रंग तब आया॥

× × ×

झिलमिलाते हुए तारे क्या हैं।
मलगजे फूल तेरे बिस्तर के॥

× × ×

कुछ रोज़ यह भी रग रहा इन्तिज़ार का।
आंख उठ गई जिधर बस उधर देखते रहे॥

× × ×

देखो न आंख भर के किसी की तरफ़ कभी।
तुमको खबर नहीं जो तुम्हारी नज़र में है॥

× × ×

कुछ देर फ़िक्रे आलमे-बाला[1] को छोड़ दे।
इस अंजुमन[2] का राज़[3] इसी अंजुमन में है॥

"जिगर" मुरादाबादी इस समय के बड़े लोक-प्रिय कवि हैं। नाम अली सिकन्दर है। सन् १८९० ई० में उन्होंने मुरादाबाद में जन्म लिया। उनके पिता भी कवि थे, "जिगर" भी बचपन ही से कविताएँ

१—आकाश, २—सभा अर्थात् धरती, ३—रहस्य

लिखने लगे। आरम्भ में दाग़ को अपनी कविताएँ दिखाते थे पर जब असग़र गोंडवी का गहरा प्रभाव पड़ा तो उन्हीं को अपनी कविताएँ दिखाने लगे। उनके दो संग्रह "दाग़े-जिगर" और "शोलए-तूर" प्रकाशित हो चुके हैं। वह विशेष प्रकार की प्रेम-भरी कविताएँ लिखते हैं जिनमें रस और मादकता पाई जाती है। कुछ समय तक शराब उनके जीवन का विशेष अंग रही और उसी का प्रभाव कविता पर पड़ता रहा। कभी-कभी उन्होंने सूफ़ियाना विचार भी प्रगट किए हैं परन्तु उनकी कविता का वही भाग सबसे अधिक सुन्दर समझा जाता है जिसमें प्रेम-रस में डूबे हुए गीत गाए गए हैं। उनकी कविता में जो आकर्षक सुन्दरता मिलती है उसका रहस्य यही है कि वह प्रेम और सुन्दरता के उपासक हैं और उन्हीं का वर्णन रोचक ढंग से करते रहते हैं। उनके कुछ शेर यह हैं:—

दिल को बरबाद करके बैठा हूँ।
कुछ ख़ुशी भी है कुछ मलाल भी है॥

× × ×

तेरी आँखों का कुछ क़ुसूर नहीं।
हाँ मुझी को ख़राब होना था॥

× × ×

बताओ क्या तुम्हारे दिल प गुज़रे।
अगर कोई तुम्हीं - सा बेवफ़ा[1] हो॥

× × ×

अजी, कि तुझ बिन इस तरह ऐ दोस्त घबराता हूँ मैं।
जैसे हर शय[2] मे किसी शय की कमी पाता हूँ मैं॥

× × ×

१—प्रेम न करनेवाला, २—वस्तु,

मैं के खत उनका किया ज़ब्त[1] बहुत कुछ लेकिन।
थरथराते हुए हाथों ने भरम खोल दिया॥

× × ×

सावन की रैन अंधेरी, तनहाइयों का आलम।[2]
भूले हुए फ़िसाने[3] सब याद आ रहे हैं॥

× × ×

साकी[4] की हर निगाह प बल खाके पी गया।
लहरों से खेलता हुआ लहरा के पी गया॥

जगह की कमी के कारण जिन बड़े कवियों का उल्लेख न हो सका उनकी संख्या भी कम नहीं है। जो अब इस दुनिया में नहीं हैं उनमें से "इस्माईल" मेरठी, "मुहसिन" काकोरवी, "रियाज़" ख़ैराबादी, मौलाना मुहम्मद अली "जौहर", "जलील" मानिकपुरी, "आज़ाद" अन्सारी, "साइल" देहलवी इत्यादि का वर्णन होना चाहिए था पर न हो सका। इसी प्रकार जीवित कवियों में "अख्तर" हैदराबादी, "दिल" शाहजहाँपुरी, "नूह" नारवी, "बेख़ुद" देहलवी, "वहशत" कलकतवी और "अफ़सर" मेरठी इत्यादि के बारे में थोड़ा बहुत लिखना चाहिए था पर सम्भव न था। जो इनका अध्ययन करना चाहेगा वह इनके संग्रह प्राप्त कर सकेगा।

यह युग हर प्रकार की चेतनाएँ प्रस्तुत करता रहा है किन्तु जो परम्पराएं हाली, शिबली, अकबर, सुरूर, चकबस्त और इक़बाल ने पैदा की थीं उनका अनुसरण करने वाले आज उनसे बहुत आगे बढ़ गए हैं और अपनी कविता से वह क्रांतिकारी काम ले रहे हैं जिसे वह अपना सामाजिक कर्तव्य समझते हैं। उनका उल्लेख अंतिम अध्याय में किया जाएगा।

१—धैर्य धारण करना २—स्थिति, ३—कहानियाँ, ४—मधुबाला

अध्याय १०

नव-जागृति और नया साहित्य

(२) गद्य

वर्तमान युग को गद्य का युग कहा जा सकता है क्योंकि गद्य जीवन की शक्ति और संघर्ष का तर्कपूर्ण उल्लेख करता है। गद्य भाव-रहित न होते हुए भी विचारों के आपस के टक्कर से जन्म लेता है। उसके द्वारा जीवन-उद्देश्य का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया जा सकता है। इसी लिए उर्दू गद्य ने उसी समय उन्नति की जब भारतवर्ष का जीवन नए सांचे में ढल रहा था। पिछले अध्याय में वह पृष्ठभूमि दे दी गई है जिससे जीवन का यह परिवर्तन आँखों के सामने आ जाता है, उसका दोहराना आवश्यक नहीं है। परन्तु इस अध्याय के पढ़ते समय उन समस्याओं को आँख से ओझल न होने देना चाहिए जो भारतवर्ष के विभिन्न वर्गों के सम्मुख विभिन्न परिस्थितियाँ ला खड़ी करती हैं और विचार-धाराओं को नए मार्गों पर ला डालती हैं। लगभग ग़दर के समय तक के गद्य लेखकों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख सातवें अध्याय में किया जा चुका है। अब जिनका परिचय दिया जा रहा है उनके लिए यह कहा गया है कि वह अपने संग उर्दू साहित्य का स्वर्ण युग लाए और उर्दू गद्य को, जो उच्च-कोटि कीवैज्ञानिक और गम्भीर गद्य से ख़ाली था अपनी सबल रचनाओं से भर दिया। इस युग को साधारणतः सर सैय्यद का युग कहा जाता है क्योंकि कई बड़े लेखक जो उनके सम्पर्क में थे विशेष रूप से उनसे प्रभावित हुए और जो उनसे दूर थे उन्होंने भी इस आन्दोलन का अनुमोदन या विरोध करके सर सैय्यद के प्रभाव को अवचेतन रूप से स्वीकार किया।

सय्यद अहमद खाँ (१८१७-१८९८) ने दिल्ली में जन्म लिया। उनके पितामह दिल्ली दरबार में सदैव ऊंचे पद पर रहा करते थे। उनके ननिहाल में भी प्रसिद्ध विद्वान और आदरणीय लोग हुए थे। स्वयं उनके नाना गणित और ज्योतिष के बहुत बड़े विशेषज्ञ समझे जाते थे। ददिहाल और ननिहाल दोनों के सदस्य मुग़ल दरबार और ईस्ट-इन्डिया कम्पनी में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। सर सैय्यद की माता बड़ी गुणवती और स्वतंत्र विचार रखने वाली स्त्री थीं, सर सैय्यद की शिक्षा उन्हीं की देख-रेख में हुई। उन्होंने दिल्ली के बड़े बड़े विद्वानों से ज्ञान के सभी विभागों में अच्छी शिक्षा प्राप्त की। बड़ों के कवियों के साथ उठे बैठे और धार्मिक नेताओं की बैठकों में भी सम्मिलित हुए। युवा अवस्था में एक रंगीन स्वभाव रखते थे। पर कुछ समय बाद बहुत गंभीर, विचारशील और धार्मिक जीवन बिताने लगे। सर सैय्यद ने सन् १८३८ ई० के लगभग अंग्रेज़ी कम्पनी में नौकरी शुरू की और सन् १८४१ ई० में मुंसिफ़ हो गए और १८४२ ई० में दिल्ली के अन्तिम बादशाह ज़फ़र ने उनको कई उपाधियाँ प्रदान कीं। सन् १८५५ में सदर अमीन होकर बिजनौर गए। यहीं से उनके सुयश-काल का आरम्भ होता है। इससे पहिले भी वह लगभग ११ पुस्तकें लिख चुके थे पर उन्हें साहित्यकार के रूप में बहुत कम लोग जानते थे। वह बिजनौर ही में थे कि ग़दर हो गया। सर सैय्यद ने उसमें बड़ा काम किया। अंग्रेज़ कर्मचारियों को बचाने के अतिरिक्त उन्होंने विपत्ति में फँसे हुए लोगों की सहायता का सफल प्रबन्ध किया। विद्रोही सिपाही उनको मार डालना चाहते थे पर वह किसी प्रकार बच निकले। दिल्ली पहुँचे तो घर मिट चुका था पर वह हिम्मत न हारे और अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों के बीच समझौता कराने की चेष्ठा कराते रहे। सर सैय्यद सन् १८५८ ई० में सदरुस-सुदूर होकर मुरादाबाद पहुँचे। वहाँ उन्होंने कई पुस्तकें लिखी। फिर ग़ाज़ीपुर गए। वहाँ उन्होंने "साइन्टिफ़िक सोसाइटी" स्थापित की। सन् १८६६ई० में अलीगढ़ आए और सोसाइटी को अपने साथ लाए जिसमें बहुत सी अंग्रेज़ी पुस्तकों का अनुवाद हुआ। सन् १८६६ ई० में "ब्रिटिश इन्डियन एसोसिएशन" के नाम से एक संस्था बनाई जिसका उद्देश्य यह था कि मित्रता-पूर्वक अंग्रेज़ों से अधिकार प्राप्त किया जाए। उसी समय अलीगढ़ से उन्होंने एक पत्रिका निकाली जिसने उर्दू साहित्य में बड़ा नाम पैदा किया। सन् १८६७ ई० में उन्होंने उर्दू विश्वविद्यालय बनाने का प्रस्ताव

सरकार के सामने रक्खा, पर उसमें सफलता न हुई। सन् १८६७ ई० में उन्होंने होम्योपैथिक चिकित्सा के प्रचलित करने का आन्दोलन भी आरम्भ किया। उसी समय बनारस में हिन्दी-उर्दू का वह झगड़ा शुरू हो गया था जो दुर्भाग्य से अब तक चला जा रहा है। सर सैय्यद ने उर्दू के पक्ष में बहुत कुछ लिखा। सन् १८६९ ई० में वह अपने पुत्र को लेकर लंदन गए। वहाँ उन्होंने योरप में शिक्षा-प्रणाली का गहरा अध्ययन किया और उसी ढंग का एक कालिज खोलने का विचार लेकर लौटे। सन् १८७० में उन्होंने अपना प्रसिद्ध पत्रिका तहज़ीबुल-इख़लाक़ का उद्घाटन किया जो नए उर्दू गद्य का पहिला नमूना कहा जा सकता है। सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में एक विद्यालय खोला और सन् १८७८ ई० से कालिज की कक्षाएं भी खुल गईं तथा सन् १८८३ ई० से इस कालिज में सभी प्रकार की उच्च शिक्षा दी जाने लगी। इसी युग में वह वाइसराय की कौंसिल के सदस्य भी बनाए गए सन् १८८६ ई० में उन्होंने "मोहम्डेन एजुकेशनल कान्फ्रेन्स" नामक संस्था बनाई। सर सैय्यद मुसलमानों के कांग्रेस में सम्मिलित होने के विरुद्ध थे और उन व्यक्तियों और संस्थाओं का अनुमोदन करते थे जो राजभक्त थीं। उनका विचार था कि मुसलमान ग़दर में नष्ट हो चुके हैं, अगर फिर उनपर विपदा पड़ी तो कहीं के न रहेंगे। सर सैय्यद की विचार-धारा का अध्ययन करते हुए यह भी यह याद रखना चाहिए कि वह आरम्भ में हिन्दू-मुसलमानों को एक ही राष्ट्र का समझते थे और कहते थे कि हिन्दुस्तान के सभी निवासियों को केवल हिन्दू कहना चाहिए। उनका यह भी विचार था कि हिन्दुस्तानियों को ऊँचे से ऊँचा पद मिलना चाहिए और उनमें तथा अंग्रेज़ों में हर प्रकार की समानता होना चाहिए। बाद में यह विचार बदल गए थे। एक बहुत ही सफल और परिश्रमी जीवन बिताने के बाद सन् १८९८ ई० में उनका देहान्त हो गया।

सर सैय्यद इस युग के महान् पुरुष थे जिन्होंने भारतीय जीवन और विशेषकर मुसलमानों के जीवन के बहुत से विभागों को प्रभावित किया। यहां उनके प्रभाव का पूर्ण विश्लेषण नहीं किया जा सकता पर इतना जानना आवश्यक है कि वह अंग्रेज़ों की मित्रता प्राप्त करके भारतवर्ष की उन्नति चाहते थे। वह एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोच सकते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ी सभ्यता के सहयोग के बिना भारतवर्ष

उन्नति कर सकता है। उनके विचारों से उस नव जागरण को लाभ भी पहुँचे और हानि भी हुई जो देश के जीवन में प्रवेश कर रहा था। उन्होंने जो कुछ भी किया वह सुधार की दृष्टि से किया। वह एक निर्भय, चेतना-पूर्ण और अथक सुधारक थे। विद्या के साथ-साथ कर्म की भी असाधारण शक्ति रखते थे। उनके कार्य-क्षेत्र को देखकर यह कहना पड़ता है कि वह अकेले कई व्यक्तियों के बराबर परिश्रम कर सकते थे। जब तक वे जीवित रहे किसी प्रकार का विरोध उन्हें दबा न सका और जब वह मर गए तो उनके गुणों और अवगुणों के बहुत से अपनाने वाले पैदा हो गए।

सर सैय्यद ने छोटी-बड़ी ३० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। भाषणों, पत्रों और निबन्धों के संग्रह इसके अतिरिक्त हैं। आरम्भ में उन्होंने अधिकतर धार्मिक विषयों पर रचनाएँ कीं, उनकी पहिली महत्वपूर्ण पुस्तक "आसारुस-सनादीद" है। जिसमें उन्होंने दिल्ली की ऐतिहासिक इमारतों, बाज़ारों और प्रसिद्ध लोगों के सम्बन्ध में बहुत सी गवेषणात्मक बातें लिखी हैं। इसमें उन्होंने बहुत परिश्रम से बहुत सी ऐतिहासिक बातें लिख दी हैं जो इनसे पहिले कभी नहीं लिखी गई थीं। इसके अनुवाद योरप की भाषाओं में भी हो चुके हैं। ज़िला बिजनौर का इतिहास, बिजनौर में ग़दर का आँखों देखा हाल, ग़दर के कारणों का विश्लेषण, "लायल मोहम्डेन्स आफ़ इन्डिया," यह सब पुस्तकें लगभग पांच वर्ष के समय में लिखी गईं। इसके बाद उन्होंने बाइबिल की व्याख्या और कुछ समय के बाद क़ुरान शरीफ़ का विवरण भी लिखा। उस समय में उन्होंने जो निबन्ध लिखे उनका भी उद्देश्य यही था कि मुसलमानों और इसाइयों में एक दूसरे से सम्बन्ध उत्पन्न करने की इच्छा पैदा हो। वास्तव में यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता थी कि वह मुसलमानों के मस्तक से वह कलंक मिटाना चाहते थे जो उनके विचार में ग़दर से लग गया था।

उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "ख़ुतबाते-अहमदीया" कही जा सकती है जिसमें उन्होंने मुसलमानों के रसूल पर लगाए गए उन आरोपों का तर्कपूर्ण उत्तर दिया जो इसाई लेखक उनपर लगाया करते थे। इस पुस्तक के लिए सर सैय्यद ने बड़ा परिश्रम किया और बड़ा कष्ट उठाया। उन्होंने इसका अँग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित कराया। इसी प्रकार कई

और पुस्तकें लिखीं जिनमें इस्लाम धर्म की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

सर सैय्यद उर्दू साहित्य में निबन्ध रचना के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपनी पत्रिका तहज़ीबुल इखलाक़ मे जो निबन्ध लिखे हैं वह यही नहीं कि पहिले निबन्ध हैं बल्कि बड़े श्रेष्ठ भी है। सर सैय्यद अंग्रेज़ी बहुत कम जानते थे पर उन्होंने अच्छे-अच्छे अंग्रेज़ी निबन्धों से जानकारी प्राप्त कर ली थी और अपनी पत्रिका को उसी ढंग पर चलाना चाहते थे। इन निबन्धों में उस समय की सभी समस्याओं पर विचार प्रगट किए गए हैं, कहीं वाद-विवाद है, कहीं व्यंग, कहीं अध्यात्मिक प्रश्नों को नए वैज्ञानिक सिद्धान्तों से समझने की चेष्टा है। इनको पढ़कर सर सैय्यद के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

जब सर सैय्यद ने सन् १८३७ ई० के लगभग लिखना आरम्भ किया उस समय उर्दू गद्य में पुरानी शैली प्रचलित थी। चुनांचे उन्होंने अपनी पहिली बड़ी पुस्तक आसारुस-सनादीद उसी ढंग पर लिखी परन्तु दूसरे संस्करण के समय उसे नई साहित्यिक शैली में परिवर्तित कर लिया। साधारणतः सर सैय्यद को अपने विचारों के प्रचार से काम होता था और वह साहित्यिक सौन्दर्य पैदा करने का प्रयास नहीं करते थे पर अपने विचारों के लिये उनके हृदय में जो भावना पैदा होती थी उसे बड़े उत्साह से प्रगट कर सकते थे, इसीलिए उनका गद्य गम्भीर होने के साथ साथ प्रभावपूर्ण भी है। सर सैय्यद के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि चाहे उनके विचारों से भारतवर्ष को अधिक लाभ न पहुँचा हो पर उनकी साहित्यिक रचनाओं से उर्दू साहित्य अवश्य मालामाल हो गया।

मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद एक बहुत बड़े विद्वान और धार्मिक नेता मुहम्मद बाक़र के सुपुत्र थे। उन्होंने सन् १८३३ में दिल्ली में जन्म लिया, उनके जन्म के केवल ३ वर्ष बाद उनके पिता ने उर्दू का सबसे पहिला अख़बार दिल्ली से निकाला। आज़ाद ने फ़ारसी अरबी की बड़ी उच्च शिक्षा प्राप्त की और कविता में ज़ौक़ के शिष्य हो गए। उन्होंने दिल्ली कालिज में भी शिक्षा पाई। ग़दर में आज़ाद के पिता अंग्रेज़ों के हाथ से मारे गए, घर - बार लुटा और आज़ाद केवल अपने उस्ताद ज़ौक की कविताओं का हस्तलिखित संग्रह लेकर दिल्ली से निकल पड़े और जीविका की खोज में लखनऊ और हैदराबाद गए। १८६४ ई० में लाहौर पहुँच कर शिक्षा विभाग में १५ रु० महीने पर

नौकर हो गए। वहाँ उन्होंने कोर्स की किताबें लिख कर बड़ा नाम पैदा किया। शिक्षा विभाग के अंग्रेज़ी और हिंदुस्तानी अफ़सर उनके ज्ञान और लेखों से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने काबुल और ईरान की यात्रा भी की और वर्तमान फ़ारसी भाषा का अध्ययन भी किया। जैसा कि कहा जा चुका है आज़ाद ने कुछ अंग्रेज़ विद्वानों की सम्मति से लाहौर में अंजुमने-पंजाब स्थापित की और उसी में उर्दू के नए काव्य ने जन्म लिया। वह कई पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे और धीरे-धीरे उर्दू साहित्य के रत्नों में गिने जाने लगे। गवर्नमेंट कालिज लाहौर में अरबी-फ़ारसी के प्रोफ़ेसर नियुक्त किए गए, पर इस पद पर बहुत दिनों तक न रह सके। १८८७ में उनको "शमसुल-उलमा" की उपाधि मिली और सन् १८८८ ई० में मानसिक रोग का आरम्भ हुआ जो मरते समय तक बाक़ी रहा। उन्माद की अवस्था में भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें अधिकतर दार्शनिक और आध्यात्मिक विचार प्रगट किए हैं। पर उनका बड़ा भाग समझ में नहीं आता। उनका देहान्त लाहौर ही में सन् १९१० ई० में हुआ।

आज़ाद की रचनाओं की संख्या तो बहुत है पर उन्होंने "आबे-हयात", "दरबारे-अकबरी", "नैरंगे-ख़याल" और "सोख़नदाने-फ़ार्स" बहुत प्रसिद्ध हैं। आबे-हयात उर्दू काव्य का पहिला इतिहास है जिसमें गवेषणात्मक ढंग से कवियों के जीवन-चरित्र एकत्र किए गए हैं। सामाजिक पृष्ठ-भूमि में भाषा के आरम्भ और साहित्य की उन्नति का वर्णन किया गया है और बड़े मनोरंजक ढंग से उस वातावरण का नक़्शा खींचा गया है जिसमें पुराने कवि अपनी रचनाएँ करते थे। कई आलोचकों ने आज़ाद के बहुत से विचारों को ग़लत ठहराया है पर जैसे-जैसे समय बीतता जाता है और प्राचीन पुस्तकें मिलती जाती हैं, आज़ाद की बहुत सी बातें सिद्ध होती जाती हैं। इसी पुस्तक से उनके एक अच्छे आलोचक होने का भी पता मिलता है। दरबारे-अकबरी अकबरबादशाह की एक विचित्र जीवन-कथा है जिसमें आज़ाद ने उस सभ्यता को रूप-रेखा देने की चेष्टा की है जो हिन्दू मुसलमानों के मेल-जोल से उत्पन्न हुई थी। नैरंगे-ख़याल में प्रथम बार उस ढंग की एलीगरी (Allegory) लिखने का प्रयत्न किया गया है जो अंग्रेज़ी में पाई जाती थी। इस पुस्तक से भी आज़ाद की रचना-शक्ति का अनुमान लगया जा सकता है। आज़ाद भाषा-विज्ञान के भी बड़े

जानकार थे। उर्दू भाषा में उन्होंने प्रथम बार संस्कृत और फ़ारसी के समान स्रोत का पता लगाया। आज़ाद ही ने नए ढंग का पहिला ड्रामा भी लिखा जो अधूरा रह गया।

आज़ाद का जीवन उस विद्यार्थी का जीवन था जो सदैव कुछ सीखने और कुछ देने में लगा रहता है। उनका सम्बन्ध सर सैय्यद के चलाए हुए आन्दोलन से नहीं था पर वह उसी नवीनता के एक बड़े प्रचारक थे जो नई शिक्षा के कारण जीवन के हर प्रांगण में देख पड़ती थी। आज़ाद के बड़े से बड़े आलोचक ने उनकी गद्य-शैली की प्रशंसा की है क्योंकि उसमें जो रंगीनी, प्रवाह, सुन्दरता, जोश और विचारों के प्रगट करने का ढंग मिलता है वह कहीं और नहीं पाया जाता। भाषाओं से परिचित होने के कारण वह हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी बड़े उचित ढंग से करते हैं। आज़ाद की शैली बनावटी नहीं है बल्कि उनके विचार, चाहे वह जिस प्रकार के हों, उसी शैली में भली भाँति प्रगट होते हैं। उनके यहाँ एक प्रकार की रंगीनी में डूबी हुई सरलता, ताज़गी और सरसता मिलती है। उस समय अंग्रेज़ी के शब्द प्रयोग करने का बहुत रिवाज हो गया था पर आज़ाद उस कुप्रथा से बचे हुए हैं। शब्द इस प्रकार उनके वश में हैं जैसे कोई जादूगर अपनी वस्तुओं से काम लेता है। सारांश यह कि आज़ाद उर्दू के महान लेखकों में से हैं और उस नव-जागरण का प्रतिनिधित्व करते हैं जो ग़दर के बाद भारतवर्ष के अन्दर उर्दू में पैदा हो गया था।

ख़्वाजा अलताफ़ हुसैन हाली (सन् १८३६-१९१४) की जीवनी पिछले अध्याय में दी जा चुकी है। वह जिस प्रकार नए युग के एक महान कवि थे उसी प्रकार गद्य रचना में भी उनका स्थान बहुत ऊंचा है। पचास वर्ष के अन्दर उर्दू गद्य कोष में जो पूँजी इकट्ठा हो गई उसमें हाली का भाग बहुत है। उन्होंने १८६७ के लगभग उर्दू गद्य लिखना आरम्भ किया, उनकी पहिली पुस्तक धार्मिक वाद-विवाद से सम्बन्ध रखती है। उसके बाद उन्होंने कुछ और रचनाएँ कीं जो कोई महत्व नहीं रखतीं। सन् १८७४ ई० में 'मजालिसुन-निसा" के नाम से स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी जो बहुत पसन्द की गई। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में सबसे पहिला पुस्तक "हयाते-सादी" है जो सन् १८८२ ई०में लिखी गई। इसमें फ़ारसी के सर्वश्रेष्ठ लेखक और कवि सादी के जीवन और रचनाओं पर गहरी दृष्टि डाली गई है।

हाली ने जब अपनी नई कविताओं का संग्रह एकत्र किया तो इस पर एक प्रस्तावना लिखना आरम्भ किया वह बढ़ते-बढ़ते कई सौ पृष्ठों में फैल गई अब यह उर्दू की एक महान आलोचनात्मक रचना के रूप में बारम्बार अलग प्रकाशित हो चुकी है जिसको "मुक़द्दमए-शेरो-शायरी" कहा जाता है। उर्दू आलोचना शास्त्र में इसको वही स्थान प्राप्त है जो योरप में कालरिज और वर्डस्वर्थ के लेखों को प्राप्त है। वैज्ञानिक ढंग से लिखी गई यह पहली पुस्तक है जिसमें उर्दू कविता के गुणों और अवगुणों का पता चलता है। हाली सामाजिक और नैतिक सुधार के ऐसे उपासक थे कि उन्होंने उसके जोश में गुणों का उल्लेख बहुत कम किया है, अवगुणों की आलोचना बड़े विस्तार से की है। फिर भी जो कोई उर्दू कविता की विशेषताओं को समझना चाहता है उसे इस रचना से बड़ी सहायता मिलेगी। हाली की तीसरी महत्वपूर्ण पुस्तक "यादगारे-ग़ालिब" है जिसमें उन्होंने ग़ालिब की जीवन-कथा के साथ साथ उनकी कविताओं और लेखों की आलोचना भी की है, यह भी उर्दू साहित्य की एक महान् पुस्तक है। ग़ालिब पर बहुत सी किताबें लिखी जा चुकी हैं, पर यादगारे-ग़ालिब का स्थान आज भी बहुत ऊँचा है। उन्होंने सर सैय्यद का जीवन-चरित्र "हयाते जावेद" के नाम से सर सैय्यद की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद लिखा। इनके अतिरिक्त उनके निबन्धों, पत्रों और लेखों के भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

हाली भी सर सैय्यद के राजनीतिक विचारों से बहुत कुछ सहमत में पर सर सैय्यद के मुक़ाबिले में वह अधिक प्रगतिशील कहे जा सकते हैं। उन्होंने सरल और सीधी भाषा में स्थिति को समझने और उसी के अनुकूल जीवन बिताने का पाठ पढ़ाया। उनका विचार था कि पच्छिम से आई हुई सभ्यता में ज्ञान और विज्ञान की जो लहरें हैं वह भारतवर्ष को भी आगे बढ़ा सकती है परन्तु उन्होंने कभी सर सैय्यद की प्रकार धर्म और आहार-व्यवहार को अँग्रेज़ी सभ्यता के साँचे में ढालने का आदेश नहीं दिया। उनके दिल में भी भारतवासियों और विशेषकर मुसलमानों की गिरी हुई दशा से पीड़ा उठती थी, पर वह गम्भीरता के साथ उनको पतन के दलदल से बाहर निकलने के लिए उभारते रहते थे। इसी विचार के अधीन उन्होंने कविता, आलोचना, जीवन-चरित्र रचना हर एक में नए पथ ढूढ़ निकाले। वह पहिले बड़े आलोचक भी हैं और प्रथम श्रेणी के जीवन चरित्र लेखक भी। उनके जीवन में जो

सरलता और भोलापन था वही उनकी रचनाओं में भी पाया जाता है वह जिन बातों को ठीक जानते थे उन्हें विश्वास और सत्यता के साथ बिना किसी का हृदय पीड़ित किए हुए लिख देते थे और यही बात उनके लेखों को जीवन की समस्याओं के निकट लाती है। उनकी भाषा सरल होती थी, उनका विचार था कि उर्दू जानने के लिए हिन्दी और प्राकृत का जानना आवश्यक है। कभी-कभी वह अंग्रेज़ी के शब्द अनुचित ढंग से लिख जाते थे जो अब अच्छे नहीं मालूम होते। इसमें सन्देह नहीं कि आलोचना के सम्बन्ध में उनका दृष्टि कोण नैतिक सुधार के विचारों से सीमित हो जाने के कारण कहीं-कहीं वास्तविकता से दूर जा पड़ता है पर साधारणतः उनके विचार नपे तुले और यथार्थ-वादी होते हैं। नए उर्दू साहित्य के भली-भाँति समझने के लिए हाली के गद्य और पद्य दोनों हो का विवेचनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होगा क्योंकि वह एक ओर तो भविष्य पर दृष्टि जमाए हुए थे और दूसरी ओर भूतकाल की परम्पराओं से पूर्णतः नाता तोड़ना भी न चाहते थे।

डा० नज़ीर अहमद (१८३६-१९१२ ई०) बिजनौर में पैदा हुए, अरबी-फ़ारसी की प्रारम्भिक शिक्षा वहीं प्राप्त की, फिर दिल्ली आए। बड़ी दीनता के साथ एक मस्जिद की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते थे। सहसा एक दिन दिल्ली कालिज की ओर जा निकले, कदाचित् कोई उत्सव था, यह भी उसमें सम्मिलित हो गए और किसी प्रकार प्रिंसिपल के पास पहुँच गए। अंग्रेज़ प्रिन्सिपल ने इनसे अरबी भाषा और साहित्य के बारे में कुछ बातें पूछीं और इनकी जानकारी से प्रभावित होकर अपने कालिज में दाखिल कर लिया। नज़ीर अहमद ने स्वयं लिखा है कि मैंने सच्ची विद्या, सहनशीलता, विचार की स्वतंत्रता और राजभक्ति उसी कालिज में सीखी। ८ वर्ष बाद कालिज छोड़ा और इधर-उधर नौकरी करने लगे। ग़दर के बाद डिप्टी इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स हो गए। अपने उत्साह से अंग्रेज़ी भाषा का अध्ययन किया और उन्नति करके कुछ ही दिनों में डिप्टी कलेक्टरी तक पहुँच गए। उनके अनुभव और ज्ञान को देख कर हैदराबाद रियासत ने उन्हें १७०० रु० मासिक वेतन पर सन् १८७७ ई० में अपने यहाँ बुला लिया। सन् १८८३ ई० में पेन्शन लेकर दिल्ली चले आए और आयु का शेष भाग लिखने - पढ़ने में बिता दिया। एडिनवरा

विश्वविद्यालय और पंजाब विश्वविद्यालय ने उनको एल० एल० डी० और डी० ओ० एल० की उपाधियाँ प्रदान की।

डा० नज़ीर अहमद बहुत बड़े लेखक और वक्ता थे। उनकी आवाज़ ऊँची और भारी थी और जब बड़ी से बड़ी सभा में वह भाषण देते थे तो सन्नाटा छा जाता था। वह हास्य-प्रिय भी थे, अपने चुटकुलों और क़िस्सों से मजमे को अपने बस में कर लेते थे उनके भाषणों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उनको पढ़कर उनके ज्ञान का अनुभव लगाया जा सकता है। वह सर सैय्यद से बहुत सी बातों में सहमत थे और उनकी शिक्षा की योजना के लिए एक प्रचारक का भी काम करते थे पर उनके धार्मिक विचारों से विरोध करते थे। सरकारी नौकर होने के कारण सदैव अंग्रेज़ी राज्य के गुण गाते और अंग्रेज़ी की सूझ-बूझ, राजनीति, उदारता इत्यादि की प्रशंसा करते रहते थे।

उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखीं और कई क़ानूनी ग्रन्थों का अनुवाद भी किया है जिनमें इंडियन पिनल कोड (Indian Penal Code) और एविडेन्स ऐक्ट (Evidence Act) के अनुवाद उनकी अनुवाद शक्ति का चमत्कार कहे जा सकते हैं। नज़ीर अहमद ने क़ुरान शरीफ का अनुवाद भी उर्दू में किया परन्तु जिन पुस्तकों ने उनको अमर बनाया है वह कुछ उपन्यास हैं जिनमें विपदा में फंसे हुए मुसलमान मध्यम वर्ग के सुधार पर विचार प्रगट किए हैं। उनका सबसे पहिला उपन्यास "मिरातुल-उरूस" है जो सन् १८६६ ई० में लिखा गया, इसी कारण से वह उर्दू के पहिले उपन्यासकार कहे जाते हैं। यह पुस्तक वास्तव में उन्होंने प्रकाशित होने के लिए नहीं लिखी थी बल्कि अपनी पुत्री के पढ़ने के लिए बिना किसी विशेष विचार के लिख डाली थी। पर वह एक अंग्रेज़ कलेक्टर के हाथ लग गई, उसने उसे प्रकाशित करने पर ज़ोर दिया और उन्हें एक बड़ा पुरस्कार भी दिलाया। फिर यह सिलसिला चल निकला और उन्होंने सात उपन्यास लिखे जिनमें से कई पर उनको सबसे अच्छी पुस्तक लिखने पर पुरस्कार मिले। "मेरातुल-उरूस" और "बेनातुन-नाश" दोनों में लड़कियों को सुघड़ बनने, शिक्षा प्राप्त करने और ससुराल में जीवन बिताने के सिद्धान्त बताए गए हैं। यह सारी बातें ऐसी रोचक और मनहरण कहानियों के रूप में लिखी गई हैं कि बच्चे उनको पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। उपन्यास की दृष्टि से इनमें और नज़ीर अहमद के दूसरे

उपन्यासों में यह कमी पाई जाती है कि बीच-बीच में वह धर्म और नीति पर भाषण देने लगते हैं और उनके उपन्यासों के पात्र आदर्शवादी प्रतीत होने लगते हैं। उनका तीसरा उपन्यास "तौबतन-नुसूह" (१८७७) सब से अधिक प्रसिद्ध और दिलचस्प है। इसमें दिल्ली के मिटते हुए मुसलमान घरानों का चित्र सामने आ जाता है और नज़ीर अहमद उसी में यह बिचार भी प्रकट करते हैं कि सच्ची धार्मिकता के बिना जीवन सफल नहीं हो सकता उनके दूसरे उपन्यासों में "इब्नुलवक़्त" बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने भारतीयों के अंग्रेज़ी रहन-सहन और आहार-व्यवहार ग्रहण करने की निन्दा की गई है। नज़ीर अहमद कवि भी थे और उनकी कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है परन्तु उर्दू काव्य के इतिहास में उसका कोई स्थान नहीं है। कई आलोचकों ने उनके सम्बन्ध में यह कहा है कि वह जितने बड़े विद्वान थे उसके अनुकूल उन्होंने कोई रचना नहीं छोड़ी और उपन्यास लिखना उनकी महानता के विरुद्ध था पर यह आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि उस समय जो सामाजिक समस्याएँ मुसलमानों के मध्यमवर्ग को व्याकुल कर रहीं थीं और जिसके सुधार की योजनाएँ सर सैय्यद शिक्षा के क्षेत्र में बना रहे थे, जिसे हाली और आज़ाद उच्च-कोटि की रचनाएँ लिखकर पूरा कर रहे थे उसी प्रकार नज़ीर अहमद अपने उपन्यासों से लोगों को नए मार्ग दिखाना चाहते थे। उनके हर उपन्यास के न जाने कितने संस्सररण निकल चुके हैं और बहुत सी भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं, इससे उनके सुधार प्रयत्न की सफलत का पता चलता है।

नज़ीर अहमद की गद्य शैली अपनी विशेषताएँ रखती है। उन्हें दिल्ली की बोल चाल, मुहावरे और बात-चीत करने के ढंग पर पूरा अधिकार था इसलिए वह बड़ी प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग कर सकते थे। अरबी के विद्वान होने के कारण कभी-कभी अनुचित अरबी शब्द भी उसमें ठूस देते थे और ऐसे मुहावरे लिख जाते थे जो उस स्थान के लिए उचित न होते थे फिर भी साधारणतः उनकी शैली बड़ी रोचक है। हास्यरस में डूबी हुई होने के कारण उनकी बातें बहुत जल्द अपनी ओर खींच लेती हैं। अपने व्याख्यानों में वह अंग्रेज़ी शब्द भी अनुचित रूप से बोल जाते थे। वह उर्दू के पहिले लेखक हैं जिसने

स्त्रियों की बड़ी बड़ी समस्याओं पर केवल विचार ही प्रगट नहीं किए बल्कि उनके साथ सहानुभूति भी दिखाई। उन्होंने धर्म के सिद्धान्तों को भी वैज्ञानिक ढंग से लिखने की चेष्टा की और कठिन से कठिन समस्या को सरल और सुरुचि रूप से प्रस्तुत किया। सब बातों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि वह उर्दू के केवल पहिले उपन्यास कार नहीं बल्कि उन लेखकों में से है जिन्होंने नए युग के साहित्य की नीव दृढ़ की ओर भविष्य के लिए पथ प्रदर्शक बन गए।

उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मौलाना शिबली नोमानी (१८५७-१९१४) जो उपरोक्त बड़े लेखकों में सबसे छोटे थे। आज़मगढ़ में पैदा हुए थे उन्होंने अरबी, फ़ारसी, धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र इत्यादि की शिक्षा बड़े-बड़े विद्वानों से प्राप्त की। उनके पिता वकील थे और इनको भी वकील बनाना चाहते थे, इसलिए शिबली भी वकालत की परीक्षा पास करके कुछ दिन वकालत करते रहे पर उसमें उनका जी न लगा। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था, इसलिए परिवारिक जीवन में भी शान्ति न थी चुनांचे सन् १८८२ में शिबली अलीगढ़ कालिज में फ़ारसी के अध्यक्ष होकर चले गए। यह जीवन उनके लिए बड़ा रचनात्मक सिद्ध हुआ। वहाँ उनको सर सैय्यद, मौलाना हाली, "मुहसिनुल-मुल्क" और प्रोफ़ेसर आरनल्ड से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ और उनके ज्ञान की सीमाएँ बिस्त्रित हुईं, यहीं उन्होंने भारतवर्ष के नव-निर्माण और नई चेतना का अनुभव भी किया, सर सैय्यद के बहुमूल्य पुस्तकालय से लाभ उठाने का अवसर मिला और उन्हीं के अनुरोध पर मुसलमान महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखने का उत्साह भी प्राप्त हुआ। उस समय तक शिबली अधिकतर कविताए लिखते थे पर जब उन्होंने गद्य लिखना आरम्भ किया तो थोड़े ही समय में वह बहुत बड़े लेखकों में गिने जाने लगे। आरनल्ड के साथ वह मिश्र, शाम और दूसरे इस्लामी देशों में भी गए और वहाँ से अपनी नई पुस्तकों के लिए बहुत सी सामग्री लाए। मौलाना शिबली नए और पुराने का एक विचित्र सम्मिश्रण थे। सरसैय्यद से उनका सम्बन्ध उनके जीवन तक तो एक सहकारी का सा रहा पर बाद में वह उनके विचारों का विरोध करने लगे। सन् १९९८ अलीगढ़ कालिज से त्यागपत्र देकर आज़मगढ़ चले आये और वहाँ एक नैशनल स्कूल स्थापित किया। कुछ दिन बीतने के बाद हैदराबाद के कला और साहित्य के निर्माण विभाग में उनको

एक अच्छी जगह मिल गई और वहां रहकर शिबली ने कई पुस्तकें लिखीं। उसी समय कुछ मुसलमान धार्मिक नेताओं ने एक अरबी पाठशाला "नदवतुल-उलमा" के नाम से स्थापित किया था, शिबली उससे बड़ी दिलचस्पी लेते थे परन्तु उनमे जो एक नवीनता की लहर थी उसके कारण कट्टर पंथी नेता सदैव उनका विरोध करते रहते थे यहाँ तक कि कुछ समय बाद मौलाना शिबली को उससे भी अलग हो जाना पड़ा।

सन् १६०७ में एक बड़ी दुर्घटना से उनको दोचार होना पड़ा। वह आज़मगढ़ मे थे और बैठे लिख रहे थे कि घर की किसी स्त्री ने बंदूक़ अलग रखने के लिए उठाई, वह छूट गई और मौलाना का एक पाँव पूर्णतया बेकार हो गया परन्तु उसने उनको बेकार नहीं किया और वह लिखने-पढ़ने के काम में मरते दम तक लगे रहे। आज़मगढ़ ही में उन्होंने एक बहुत बड़ी सांस्कृतिक संस्था "दारुल-मुसन्नेफ़ीन" नाम से स्थापित की जो अभी तक अपना काम कर रही है। शिबली ने केवल ५७ वर्ष की आयु पाई पर उनकी रचनाओं की संख्या बहुत है। वह केवल एक धार्मिक नेता नहीं थे वरन् भारतवर्ष की राजनीति से भी गहरा सम्बन्ध रखते थे। मुसलिम लीग का विरोध करते थे और कांग्रेस को स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाली संस्था मानते थे। वह बड़े निडर और प्रतिभाशाली पुरुष थे और अपने विचार बड़ी दृढ़ता से प्रकट करते थे।

जैसा कि कहा गया है मौलाना शिबली की रचनाओं की संख्या बहुत है। उनमें दर्शन-शास्त्र, साहित्य, इतिहास, निबंध-जीवन चरित्र, पत्र इत्यादि सभी विषय पाए जाते हैं पर जिन रचनाओं से उनका नाम जीवित है वह यह हैं:—"अलमामून," "अलफ़ारूक़," "सीर-तुननबी," "इल्मुल-कलाम," "शेरुल-अजम," "मुवाज़िनए-अनीसो-दबीर"। शिबली के ऐतिहासिक दृष्टि-कोण और धार्मिक विचारों से स्वयं उनके सहधर्मियों ने विरोध प्रगट किया है पर साहित्यिक रचना की दृष्टि से वह बहुमूल्य है। इसी प्रकार उनके साहित्यक विवेचन मे भी ग़लतियाँ मिलती हैं फिर भी उनके साहित्यिक महत्व से विमुख नहीं हुआ जा सकता। शिबली की आलोचना वैज्ञानिक तो नहीं होती पर कविता और साहित्य से आनन्द प्राप्त करने के लिए बहुत से मार्ग दिखाती है। उन्होंने दार्शनिक विषयों

पर जो कुछ लिखा है उसमें भी त्रुटियां हैं पर उनका महत्व यह है कि इससे पहिले किसी ने भी पच्छिम और पूरब के विद्वानों के विचार इस प्रकार एकत्र नहीं किए थे और न उनको मुसलमान दर्शन शास्त्र के दृष्टि कोण से देखा था। मौलाना शिबली की भाषा बड़ी सरस, प्रवाहपूर्ण और रंगीन होती हैं, वह उर्दू के बहुत बड़े लेखकों में गिने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ज्ञान के हर क्षेत्र में अपना चिन्ह छोड़ा है। उनके निबंधों और पत्रों के संग्रह भी गहरे अध्ययन की चीज़ हैं, उनसे शिबली के जीवन और कृत्य के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम होती हैं। उन्होंने ज्ञान प्राप्त करने और उसका प्रचार करने की जो परम्परा चलाई थी वह इस समय तक जीवित हैं इसलिए अब भी उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

नव-जागरण के इस युग ने बहुत से लेखकों को जन्म दिया उनमें से सबका उल्लेख विस्तार से यहाँ नहीं हो सकता अगर्चे साहित्य-निर्माण में उनका इतना हाथ है कि उनकी चर्चा न करना भी अनुचित होगा। मौलाना ज़काउल्ला ने लगभग १०० पुस्तकें लिखीं जिनमें अधिकतर इतिहास और गणित से सम्बन्ध रखती हैं। वह बहुत बड़े विद्वान और लेखक थे पर उनकी गद्य शैली में कोई चमत्कार न था। मुहसिनुल-मुल्क ने बहुत कम लिखा पर जो कुछ लिखा है वह बड़े उच्च-कोटि का है। सैय्यद अली बिलग्रामी संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच और अन्य भाषाओं के बड़े विद्वान थे। उन्होंने फ्रांसीसी विद्वानों की दो प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद इस प्रकार किया है कि वह स्वयं उन्हीं की लिखी हुई मालूम होती हैं। हैदराबाद में एक ऊँची पदवी पर रहकर उन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बड़े रचनात्मक काम किए। मौलाना शिबली के मित्रों में मेहदी इफ़ादी थे जिन्होंने थोड़े से निबन्ध और पत्र लिखे हैं पर वह इतने महत्वपूर्ण हैं कि गद्य के किसी इतिहास में उनको छोड़ा नहीं जा सकता। उनकी शैली बड़ी रोचक और रंगीन होती है। नासिर अली देहलवी, दिलगीर अकबरावादी और नासिर, नज़ीर फ़िराक़ भी उर्दू गद्य के बड़े अच्छे लेखकों में गिने जाते हैं। उनकी बहुत कम रचनाएँ संग्रहीत रूप में मिलती हैं।

जिस युग का उल्लेख किया जा रहा है उसमें उर्दू उपन्यास ने भी बड़ी उन्नति की थी। मौलाना नज़ीर अहमद के उपन्यासों का वर्णन हो चुका है और उनको प्रथम उपन्यासकार कहा भी जाता है पर वास्तव

में पण्डित रतन नाथ "सरशार" और मौलाना अब्दुल हलीम "शरर" ने उर्दू उपन्यास को अंग्रेजी उपन्यास कला की दृष्टि से लिखा। उपन्यास योरप में भी वर्तमान युग की पैदावार है और वहीं से भारतवर्ष की अन्य भाषाओं ने ग्रहण किया। उर्दू में कहानियाँ बहुत लिखी जा चुकी थीं जिनमें से कुछ का वृतान्त अपने-अपने स्थान पर आभी चुका है पर ऐसे उपन्यास जो मानव जीवन का यथार्थ चित्रण करें, इस नए युग ही में लिखे जा सकते थे। नज़ीर अहमद के उपन्यास त्रुटियों के होते हुए भी उस कला को बहुत सी विशेषताएं रखते हैं क्योंकि उनमें प्रथम बार असम्भव और अप्रकृतिक घटनाओं से बचने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार उर्दू उपन्यास की नीव १८६७ ई० के लगभग पड़ गई थी इसके पश्चात् सरशार, शरर, सज्जाद हुसैन, मिर्ज़ा रुस्वा इत्यादि ने इस नींव पर विशाल भवन खड़ा कर दिया।

पण्डित रतन नाथ सरशार (१८४६-१९०२) लखनऊ के एक कशमीरी परिवार में पैदा हुए थे उन्होंने अरबी, फ़ारसी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं की शिक्षा प्राप्त की थी और शुद्ध उर्दू उनकी मात्र भाषा थी। पहिले वह एक स्कूल में अध्यापक हो गए और वहीं से अपने लेख विभिन्न पत्रिकाओं में भेजने लगे, फिर कुछ समय बाद वह लखनऊ के प्रसिद्ध पत्रिका "अवध अख़बार" के सम्पादक बना दिए गए और उसी में उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "फ़िसानए-आज़ाद" क्रमशः लिखी। वहां से अलग होने के बाद इलाहाबाद हाई कोर्ट में अनुवादक हो गए पर उनकी स्वच्छता और स्वतंत्रता ने उनको वहाँ टिकने न दिया और १८९५ ई० में वह हैदराबाद पहुँच गए जहाँ उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। सरशार को मद्य-प्रेम ने मृत्यु द्वार तक पहुँचा दिया और १९०२ में उनका अन्त हो गया।

सरशार एक अच्छे कवि भी थे और लखनऊ के अच्छे कवियों में गिने जाते थे, पर आज वह उर्दू गद्य के बहुत बड़े लेखक होने के नाते इतिहास में बड़ा उच्च स्थान रखते हैं और लोग उनकी काव्य रचनाओं से अपरिचित हैं। वह अत्यन्त तीव्र बुद्धि और व्याकुल स्वभाव के थे। कोई काम एक दम से जमकर नहीं करते थे इसीलिए उनके लेखों में कहीं-कहीं कटीलापन पाया जाता है। मदिरा की बाहुल्य ने उनको हर वस्तु की ओर से बेपरवाह बना दिया था। इसका

प्रभाव केवल उनके जीवन पर नहीं उनकी रचनाओं पर भी पड़ा। उन्होंने बहुत कुछ लिखा है पर उसका कुछ ही अंश महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने कुछ पुस्तकों का अनुवाद किया और अधिक तर स्वयं लिखीं हैं जिनमें से प्रसिद्ध यह हैं:—"फ़िसानए-आज़ाद" "जामे-सरशार", "सैरे-कोहसार", "कामिनी", "बिछड़ी दुल्हन", "पी कहाँ", "कुड़मधुम"। उन्होंने "अलिफ़लैला" का अनुवाद भी किया और डान कुइकज़ोट को "खुदाई फ़ौजदार" के नाम से उर्दू में परिवर्तित किया।

सच यह है कि जो विशेषता फ़िसानए-आज़ाद को प्राप्त हुई और कई हज़ार पृष्ठों की पुस्तक होने पर भी जिस उल्लास से वह पढ़ी गई वैसी विरला ही कोई पुस्तक पढ़ी गई होगी जिस समय सरशार अवध अख़बार के सम्पादक थे उसी समय उन्होंने अपनी पत्रिका में यह कथा लिखना आरम्भ किया, न उन्होंने बहुत विचार करके किसी उपन्यास की रूप रेखा तय्यार की थी और न वह यह जानते थे कि यह कथा फैलकर लगभग पाँच हज़ार पृष्ठ घेर लेगी। उन्होंने केवल लखनऊ के उस जीवन का चित्रण किया था जो लखनऊ की नव्वाबी मिटने के बाद एक परम्परा के रूप में जीवित थी वह इस जीवन को आदि से अन्त तक जानते थे, प्रत्येक श्रेणी के लोगों से परिचित थे, सबके बात-चीत के ढंग जानते थे इसलिए उन्होंने बड़ी वास्तविकता से ऐसे चित्र खींच दिए हैं जो उस सभ्यता के मूल्यांकन में बहुत सहायक हैं। सरशार पर सरवैन्टीज़ (Cervantse) का इतना गहरा प्रभाव था कि उन्होंने अपनी सभी बड़ी बड़ी पुस्तकों में इस प्रभाव के चिन्ह छोड़े हैं। फ़िसानए -आज़ाद के पात्र उसी प्रकार जीवन के बिगड़े हुए चित्र हैं जैसे कारटून में मिलते हैं पर उनका विवरण वास्तविकता तक हमको ले जाता है। चार भागों में लिखी हुई यह कथा कुछ पृष्टों में बयान की जा सकती है पर उसका बहुत सा अंश ऐसा है कि कहानी का भाग न होते हुए भी अत्यन्त आवश्यक है इसका अर्थ यह है कि यदि वह भाग उसमें से निकाल दिया जाय तो फ़िसानए-आज़ाद का सारा चमत्कार समाप्त हो जाए। इसको संक्षिप्त रूप में प्रेमचन्द्र ने हिन्दी में प्रकाशित किया था पर उसमें जो भाषा का मज़ा है वह हिन्दी की साधारण शैलियों में जीवित नहीं रक्खा जा सकता। यह बात स्वयं सरशार की किसी दूसरी पुस्तक में नहीं। जामे-सरशार और सैरे-

कोहसार भी पढ़ने योग्य हैं पर उनकी त्रुटि भी यही है कि अच्छे उपन्यासों की भाँति उनका प्लाट गठा हुआ नहीं है।

सरशार एक बहुत बड़े कलाकार और जीवन के बहुत बड़े जानकार थे। पर उनका चमत्कार यह है कि वह अपने मनोभावों को कहानी में उभरने नहीं देते और यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि वह उस सभ्यता की किन मूल विशषताओं को पसन्द करते थे और किन के मिटने का उन्हें दुःख न था। भाषा पर इतना अधिकार रखने वाले उर्दू में बहुत कम लेखक हुए हैं।

इस युग के दूसरे महान उपन्यासकार मौलाना अब्दुल हलीम "शरर" (१८६०-१९२६) हुए हैं। उन्होंने लखनऊ में जन्म लिया था और अभी केवल ६ वर्ष के थे कि अपने परिवार के संग कलकत्ता चले गए। उनके घर के लोग अवध के अंतिम बादशाह वाजिदअली शाह के यहाँ मटियाबुर्ज में रहते थे। शरर ने वहीं अरबी-फारसी की शिक्षा प्राप्त की। थोड़ी बहुत अंगरेजी भी सीख ली थी और वहीं उनको कविताएँ रचने और लेख लिखने का भी शौक़ हो गया था। लगभग २० वर्ष की आयु में वह लखनऊ आए और यहाँ भी अपनी शिक्षा का सिलसिला जारी रक्खा। उस समय अवध अख़बार का बड़ा ज़ोर था, शरर ने भी अपने साहित्यिक निबंध उसी में लिखे और थोड़े ही समय में दूर-दूर तक उनका यश फैल गया। आरम्भ ही से वह एक प्रकार की काव्य-मयी गद्य लिखते थे। यह शैली उर्दू के लिए एक नवीनता रखती थी इसीलिए शीघ्र ही उन पर लोगों की आँख पड़ने लगी। थोड़े ही समय में उन्होंने इस रंग को और प्रवाहपूर्ण बना लिया और साधारणतः उर्दू के लेखक उसी शैली में लिखने लगे। वह कुछ समय के लिए हैदराबाद भी गए और वहाँ उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। सन् १८८७ ई० में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका "दिलगुदाज़" निकालना आरम्भ की और अपने उपन्यासों के अध्याय उसमें लिखने लगे। कुछ ही समय में यह एक लोकप्रिय पत्रिका बन गई और शरर ने अपने बहुत से उपन्यास और सहस्रों निबंध उसी में प्रकाशित किए। शरर को मुसलमानों के इतिहास से भी गहरा लगाव था और वह कभी-कभी ऐतिहासिक पुस्तकें भी लिखते रहते थे। सन् १९९१ ई० में वह हैदराबाद गए और वहीं से १५ मास के लिए एक रईस के साथ इंग्लैंड गए। वहाँ उन्होंने फ्रांसीसी भाषा सीख ली। १८९८ ई० में हैदराबाद वापस आए और कई

वर्ष तक हैदराबाद और लखनऊ का चक्कर लगाते रहे। यहाँ तक कि सन् १६०४ ई० में स्थायी रूप से लखनऊ चले आए और मृत्यु के समय तक यहीं रहे।

मौलाना शरर ने लगभग ६५ साल की आयु में इतना लिखा कि बहुत कम लेखक उनका मुक़ाबला कर सकते हैं। उन्होंने कम या अधिक समय के लिए ६ साप्ताहिक और मासिक पत्रिकायें निकालीं और छोटी-बड़ी १०२ पुस्तकें लिखीं जिनमें सबसे अधिक उपन्यास हैं, इनके अतिरिक्त उनके निबंधों के आठ भाग अलग प्रकाशित हुए हैं जिनमें साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और कल्पनात्मक लेख एकत्र कर दिए गए हैं।

शरर के अधिकतर उपन्यास मुसलमानों के प्राचीन जीवन से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें मुसलमानों की वीरता, उदारता और धार्मिक दृढ़ता के चित्र कभी-कभी उन्होंने एक प्रचारक के रूप में प्रस्तुत किए हैं। उनके अधिकतर उपन्यास एक ही ढंग के और एक ही शैली में लिखे हुए मिलते हैं। कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है यदि एक उपन्यास के पात्र दूसरे में रख दिए जायँ तो कोई बड़ा अंतर न होगा। नवयुवक और अनुभव-रहित रोमाना स्वभाव रखने वालों के लिए उनके हलके-फुलके उपन्यासों में आनंद का बड़ा सामान मिल सकता है; परंतु उपन्यास को जीवन के मूल आदर्शों और बड़े संघर्षों का चित्रण करने वाला साहित्यिक रूप मानने वालों को उनके यहाँ बहुत कम मिलेगा। उनके प्लाट ढीले, उनके पात्र सपाट और उनका उद्देश्य साधारण होता है। उनका सबसे प्रसिद्ध उपन्यास "किरनों से-वरीं" है। इसके अतिरिक्त "अय्यामे अरब", "हुस्न का डाकू", "मन्सूर मोहना", "ज़वाले-बुग़दाद" प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बंकिमचन्द्र चटरजी के उपन्यास दुर्गेशनन्दिनी का अनुवाद भी उर्दू में किया था। शरर ने कुछ नाटक भी लिखे परन्तु "शहीदे-वफ़ा" के सिवाय उनको किसी में सफलता प्राप्त न हुई। उन्होंने कुछ कविताएं भी लिखीं पर लोग उनको भूल चुके हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि शरर एक बड़े लेखक थे पर उनकी रचनाओं का थोड़ा ही सा भाग समय की कसौटी पर पूरा उतरेगा। वह लखनऊ के बड़े प्रभावशाली और आदरणीय पुरुष थे और जब तक जीवित रहे यहाँ की साहित्यिक चहल-पहल के केन्द्र रहे।

यह बात पिछले अध्याय में कही जा चुकी है कि उस समय उर्दू में

बहुत से समाचार पत्र और पत्रिकाएं निकल रही थीं,इनका साहित्यिक महत्व है। सन् १८७७ ई० में उर्दू का सुप्रसिद्ध हास्यजनक साप्ताहिक "अवध पंच" निकला, जिसके प्रथम सम्पादक सज्जाद हुसैन थे। थोड़े ही समय में उसके चारों ओर बड़े अच्छे-अच्छे लेखकों का एक ऐसा समूह एकत्र हो गया जो शायद ही किसी पत्रिका को मिला हो। राजनीतिक दृष्टि से अवध-पंच बड़ा प्रगतिशील था और हँसी-हँसी में वह अंग्रेजी राज्य के दमन और आर्थिक लूट-मार पर कड़ी चोटें करता था, कांग्रेस के आदर्शों को अपनाता और राष्ट्रीयता के आन्दोलनों का साथ देता था। साहित्यिक क्षेत्र में अलबत्ता वह किसी प्रकार को नवीनता को उचित नहीं समझता था। चुनांचे जब मौलाना हाली ने नई कविता का शंख फूँका तो अवध पंच उनके पीछे पड़ गया। राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय समस्याओं में से विरली ही कोई ऐसी होगी जिन पर उस समय राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हास्यरस में डूबे हुए लेख न लिखे गए हों। उसकी भाषा लखनऊ के बोल-चाल की भाषा थी और अवध पंच के सभी लेखक भाषा-व्यवहार में निपुण थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अवध पंच द्वारा उर्दू में हास्यप्रिय साहित्य का एक बड़ा कोश एकत्र हो गया और यह बात विश्वस्त रूप से कही जा सकती है कि उसी समय से उर्दू में ऐसे गद्य साहित्य की परम्परा स्थापित हुई है। अवध पंच के लेखकों में यह बहुत प्रसिद्ध हैं:—पंडित त्रिभुवननाथ "हिज्र","मिर्जा मच्छू बेग "सितम ज़रीफ", नव्वाब सैय्यद मुहम्मद "आज़ाद", मुंशी ज्वाला-प्रसाद "बर्क़" मुंशीअहमद अली, अकबर इलाहाबादी, पंडित रतन नाथ "सरशार", पंडित बृज नारायण चकबस्त। इनमें से प्रत्येक एक ऊँचा स्थान रखता है, इनमें से कुछ का उल्लेख किसी न किसी सम्बन्ध में हो चुका है।

अवध पंच के सम्पादक मुंशी सज्जाद हुसैन (१८५६-१९१५) लखनऊ में पैदा हुए और यहीं शिक्षा प्राप्त की। इन्टरमीडिएट तक अंग्रेजी भी पढ़ी। कुछ दिनों तक सैनिकों को उर्दू पढ़ाने पर नियुक्त रहे पर उसमें जी न लगा और सन् १८७७ ई० में उन्होंने अवध पंच निकाला। थोड़े ही समय में यह पत्रिका भारतवर्ष की प्रमुख पत्रिकाओं में गिनी जाने लगी। सज्जाद हुसैन सन् १८८७ ई० में कांग्रेस में सम्मिलित हुए और सदैव उसके आदर्शों का प्रचार अपने हास्यजनक अखबार में करते रहे। निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने कई उपन्यास भी लिखे जिनमें "हाजी बग़लोल", "कायापलट", "मीठी छुरी" और "अहमक़ुल-

लज़ीन" प्रसिद्ध हैं। यह सबके सब हास्य रस से भरे हुए हैं। इनमें हाजी बग़लोल सबसे महत्वपूर्ण है और सरशार के फ़िसानए-आज़ाद से मिलता-जुलता है। उन्होंने भी लखनऊ की सभ्यता के हास्य-जनक अंगों को बड़ी निपुणता से प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा लखनऊ की बोल-चाल की भाषा है और साधारण कहावतें, कथन, और मुहावरे ऐसे उचित ढंग से उनके वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं कि सीधी-साधी बातों में भी मज़ा पैदा हो जाता है। जब उर्दू के हास्य-प्रिय साहित्य का इतिहास लिखा जाएगा तो उनके आरम्भ करने वालों में सज्जाद हुसैन को भी एक उच्च स्थान मिलेगा। उस समय तक सभी ऐसे लिखने वाले कोई विशेष समाजिक दृष्टि कोण नहीं रखते थे पर किसी न किसी रूप में व्यक्ति की त्रुटियों को दिखाकर वह सुधार की ओर संकेत अवश्य करते थे। स्पष्ट रूप से वह किसी नई चेतना का पता नहीं देते। फिर भी सरशार और सज्जाद हुसैन दोनों के यहां उस संघर्ष के चित्र मिलते हैं जो नए और पुराने के बीच जारी था।

इस युग के एक और महान उपन्यासकार मिर्ज़ा मुहम्मद हादी "रुसवा" (१८५८-१९३१) हैं। यह केवल एक आकस्मिक बात थी कि उन्होंने एक उचाट हृदय से दो चार उपन्यास लिख दिए जिन्होंने उनको उर्दू साहित्य के इतिहास में एक उच्च स्थान दिला दिया, नहीं तो वह जितने बड़े विद्वान और ज्ञानी थे वैसे सैकड़ों वर्ष में कहीं दो एक पैदा होते हैं। वह बहुत सी भाषाए जानते थे और कई विज्ञानों में बिना किसी शिक्षा व सहायता के स्वयं अपने परिश्रम से निपुणता प्राप्त की थी। तर्क शास्त्र और दर्शन-शास्त्र से उन्हें विशेष प्रेम था, ज्योतिष और गणित के वह सच्चे प्रेमी थे, पूरब और पश्चिम की सभी विद्याओं से वह परिचित थे और गहरे अध्ययन का परिणाम यह था कि वह सभी विषयों पर अधिकारपूर्ण बात कह सकते थे। धर्म से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रों को उन्होंने गहरी दृष्टि से पढ़ा था और बहुत सी धार्मिक पुस्तकें दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखकर छोड़ गए हैं जो अब तक प्रकाशित नहीं हो चुकीं हैं।

मिर्ज़ा रुसवा ने प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता से प्राप्त की और थोड़े ही समय में बहुत कुछ सीख लिया। अंग्रेज़ी में इन्ट्रेंस तक पढ़ कर इन्जीनियरी की परीक्षा पास की और कुछ दिन नौकरी भी की। पर उन्हीं दिनों में उनको केमस्ट्री से दिलचस्पी पैदा हो गई,

नौकरी छोड़ दी और घर का सब कुछ बेचकर इंगलैण्ड से वैज्ञानिक यंत्र मगा लिए। बी० ए० का इम्तिहान भी प्राइवेट पास कर लिया और अमरीका से एक पी० एच०.डी० की डिग्री भी मंगाई। कुछ समय तक लखनऊ के स्कूलों और कालिजों में पढ़ाते भी रहे पर उनका सारा समय लिखने-पढ़ने में बीतता था। वह बड़े अच्छे कवि भी थे और संगीत शास्त्र से भी भलीभांति परिचित थे। उन्होंने दर्शन-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, धर्मशास्त्र, इत्यादि पर बहुत सी रचनाएं कीं परन्तु साहित्य की दृष्टि से उनकी कुछ कविताएं और कुछ उपन्यास ही महत्व रखते हैं। कविताओं में "मुरक्कए-लौला-मजनूं" और मसनवी "उमीदो-बीम" प्रसिद्ध हैं और उपन्यासों में "उमराव जान अदा," "शरीफ़ जादा" और "जाते-शरीफ़" सर्व श्रेष्ठ हैं। उन्होंने अपनी अन्तिम आयु में हैदराबाद में नौकरी करली थी और वहां बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद भी किया परन्तु उनको उनके ज्ञान और पांडित्य ने साहित्य में जगह नहीं दिलाई है बल्कि उनके उपन्यासों ने।

शरीफ़ जादा नामक उपन्यास मे उन्होंने एक ऐसे पुरुष की जीवन कथा लिखी है जो बिल्कुल उन्हीं के स्वभाव से समानता रखता है। बहुत से लोगों का विचार है कि यह स्वयं उनकी आत्म-कथा है। यह रचना ऐसे सरल और मनोरंजक ढंग से लिखी गई है कि इसमें कहीं किसी प्रकार की कृतिमता नहीं देख पड़ती है। उनके दूसरे उपन्यास जाते-शरीफ़ में उच्च-श्रेणी के लोगों की जीवन कथा इस प्रकार लिखी गई है कि ग़दर के बाद अवध की दुर्दशा का चित्र सामने आ जाता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना उमराव जान अदा है जिसमे एक वेश्या की आत्म-कथा उसी के मुख से बयान की गई है। उस समय तक लोग इस विषय को अपनाते डरते थे, और साहित्य के विशाल और पवित्र भवन मे उसे लाते हुए उन्हें संकोच होता था हालांकि वह सामंती युग मे जीवन के बनाने और बिगाड़ने मे बड़ा भाग लेती थी। रुसवा ने एक वेश्या के मुख से वह सब बातें कहलाई हैं जो उसको जीवन के एक बिशेष संकट में फंसा देती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि रुसवा की दृष्टि में समाज सुधार का कोई स्पष्ट विचार न था परन्तु जिस लखनऊ को वह जानते थे उसके जीवन के सभी अंगों को एक सच्चे कलाकार की तरह हमारे सामने ला खड़ा किया है और यह सब कुछ ऐसे सहज ढंग से हो जाता है कि हम केवल

उन चित्रों में खो जाते हैं और हमें स्वयं यह पता नहीं चलता कि इस चित्रण से रुसवा क्या काम लेना चाहते हैं। इस बात पर सभी आलोचक सहमत में कि वास्तविकता की दृष्टि से यह उर्दू के महत्त्व-पूर्ण उपन्यासों में से है। एक वेश्या के चित्र के पीछे प्रत्येक वर्ग के लोग खड़े देख पड़ते हैं और वह लखनऊ हमारे सामने आ जाता है जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में दम तोड़ रहा था। उस समय की सभ्यता, साहित्यिक जीवन, सामाजिक और धार्मिक अवस्था, देहातों की आर्थिक दुर्दशा और लूट-मार के अतिरिक्त प्रेम भावना के अनुपम नक़्शे भी इस उपन्यास में मिलते हैं। अंत में रुसवा ने एक उपदेशक और प्रचारक का रूप धारण कर लिया और वही इस उपन्यास का दुर्बल भाग है। वैसे यह पूरा उपन्यास निपुणता से खींचे हुए चित्र की तरह सम्पूर्ण है जिसमें जीवन अपनी व्याकुलता और उद्विग्नता के साथ देखा जा सकता है।

रुसवा ने एक काव्यबद्ध नाटक भी लिखा। उनका विचार था इस प्रकार वह यूरोपियन नाटकों की भाँति उर्दू में भी काव्यबद्ध नाटक प्रचलित कर सकेंगे, पर इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। उन्होंने लैला-मजनूं की प्रसिद्ध प्रेम-कहानी को नाटक का रूप दिया, इसलिए उसमें आनन्द और मनोरंजन अवश्य प्राप्त होता है पर उर्दू में गद्य में लिखे हुए नाटकों का जितना स्वागत किया गया उतना इसका न हो सका।

इस समय के दूसरे उपन्यासकारों और कहानी लेखकों में मौलाना राशिदुलख़ैरी का भी एक उच्च स्थान है जिन्होंने डाक्टर नज़ीर अहमद के मार्ग का पालन किया और स्त्री-जीवन के सुधार को अपना उद्देश्य बनाकर बहुत सी करुणाजनक कहानियाँ लिखीं उनके यहाँ दुःख और शोक का इतना वर्णन होता था कि उनको "मुसव्विरे-ग़म" (दुःख का चित्रकार) कहा जाने लगा था। उनकी दृष्टि में भी कोई विशेष दार्शनिक गहराई नहीं थी परन्तु वह जीवन की साधारण दुर्घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार करते थे जिससे करुणा का एक असाधारण वातावरण तैय्यार हो जाता था। उनकी भाषा दिल्ली की शुद्ध और सरस बोल-चाल की भाषा थी और मुसलमान मध्यम वर्ग के क्लेश और पारिवारिक जीवन के कलह को बड़ी जानकारी के साथ प्रस्तुत करके वह एक लोकप्रिय लेखक बन गए थे।

राशिदुलख़ैरी ने इसी उद्देश्य से दो पत्रिकाएँ भी निकाली थीं जिनमें अधिकतर स्त्रियों ही के सम्बन्ध में निबंध और कहानियाँ होती थीं। इन दो पत्रिकाओं में "इस्मत" बहुत प्रसिद्ध है जो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी निकलता रहा। उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। छोटी-छोटी कहानियों के संग्रह भी तैय्यार किए और बहुत से उपन्यास लिखे जिनमें से "सुबहे-ज़िन्दगी," "शामे-ज़िन्दगी," "शबे-ज़िन्दगी," "माहे-अजम," "नौबते-पंजरोज़ा," "मनाज़िलुससायरा," "उरूसे-कर्बला" बहुत प्रसिद्ध है और कई-कई संस्करणों में छप चुके हैं। अब भी मध्यम वर्गकी मुसलमान स्त्रियाँ उनके उपन्यासों को बड़े उत्साह से पढ़ती हैं।

इस संक्षिप्त इतिहास में दूसरे उपन्यासकारों का उल्लेख नहीं किया जा सकता, केवल उनके नाम दिए जाते हैं, जैसे मुहम्मदअली "तबीब," ज्वाला प्रसाद "बर्क़," अब्बास हुसैन "होश," शाद अज़ीमाबादी, क़ारीसर्फ़राज़ हुसैन, मिर्ज़ा मुहम्मद सईद, पंडित किशन प्रसाद कौल इत्यादि। इनमें से प्रत्येक ने एक-आध उपन्यास ऐसे लिखे हैं जिनका बड़ा साहित्यिक महत्व है और जिनको कला की दृष्टि से उच्च स्थान दिया जा सकता है पर इस जगह उनके वर्णन का अवसर नहीं है।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है उर्दू नाटक का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अमानत की "इन्दर सभा" के साथ हो चुका था पर कुछ समय तक नाटक नहीं लिखे गए। मौलाना मुहम्मद-हुसैन आज़ाद ने "अकबर" के नाम से एक ड्रामा अवश्य लिख जो पूरा न हो सका पर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में जब भारतवर्ष में व्यापार की रुचि बढ़ी और मनोरंजन द्वारा लाभ उठाने का विचार पैदा हुआ तो बम्बई के कुछ पर्सियों ने अंग्रेज़ी नाटकों से प्रभावित होकर नए ढंग की नाटक कम्पनियाँ बनाईं। भारतवर्ष में नौटंकी, रहस और लीला की परम्पराएँ चल रही थीं जो एक बिगड़े हुए रूप में प्राचीन संस्कृत नाटकों और रंग-मंचों की नक़ल थीं। अब जो नए मंच बने और नाटकों की नई मंडलियाँ स्थापित हुईं वह देश की परम्पराओं से नहीं योरप के विचारों से प्रभावित थीं। यह बात स्पष्ट है कि नाटक और मंच दोनों एक दूसरे के साथ-साथ उन्नति करते हैं यहाँ जो मंच बना वह केवल रुपया कमाने के लिए था और उसकी जड़ देश की भूमि में दूर तक फैली हुई नहीं थी इसलिए इस समय जो नाटक लिखे गए वह या तो विदेशी नाटकों और कथाओं पर

रित थे या भारतीय जीवन का उल्लेख करते थे तो बड़े साधारण ढंग से। इन नाटक कम्पनियों में "रौनक़" बनारसी, हुसैनी मियाँ ज़रीफ़, मुहम्मद अब्दुल्ला, मिर्ज़ा नज़ीर बेग, "तालिब" बनारसी, अहसन लखनवी, पंडित "बेताब" और ग़ुलाम अली "दीवाना" इत्यादि ने ड्रामे लिखे। विनायक प्रसाद "तालिब" ने अंग्रेज़ी के कई नाटकों को उर्दू में अपना लिया था। अहसन लखनवी ने शेक्सपियर के ड्रामों को उर्दू नाटक के रूप में ढाल लिया। कहीं-कहीं उन्होंने अनुवाद का प्रयास भी किया है पर अधिकतर वह नाटक की कहानी को हिन्दुस्तानी बनाकर लिख देते हैं। उनके ड्रामों में बड़ी जान और रस होता है। पंडित नरायन प्रसाद "बेताब" ने हिन्दू धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों को नाटकों में चलाया है और अहसन और तालिब की भांति उन्होंने भी उर्दू नाटक को बहुत ऊपर उठाया है।

सन् १६२० ई० तक जो नाटक लिखे गये थे उनमें साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, या वह केवल मंच पर मनोरंजन की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। नाटकों में कोई सामाजिक प्रथा बिरला ही जगह पाती थी। देश प्रेम या और इसी प्रकार के नैतिक गुणों की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। प्रेम के भोंडे और भद्दे खेल खेले जाते थे और यदि कभी नैतिक विषय आ जाते थे तो उनको बड़े कृत्रिम और साधारण ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। गानों पर बहुत ज़ोर दिया जाता था और मंच के उन्नतिशील न होने के कारण बहुत से दृश्य अप्राकृतिक रूप से दिखा दिये जाते थे। पर धीरे धीरे अलफ्रेड और एलफ़िंस्टन कम्पनियों ने अच्छे मंच बनाए और उसी समय नाटक के अच्छे लेखक भी पैदा हुए।

अलफ्रेड नाटक कम्पनी में आग़ा हश्र काश्मीरी नामक एक अभिनेता थे। उन्होंने नाटक लिखना आरंभ किया और थोड़े ही समय में उर्दू के सब से अच्छे नाटककार स्वीकार किये जाने लगे। उन्होंने भी शेक्सपियर के नाटकों को हिन्दुस्तानी बनाकर प्रस्तुत किया और पौराणिक कथाओं को नाटक का रूप दिया। वह उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के अतिरिक्त हिन्दी भी भली भाँति जानते थे इसलिये वह हिन्दी शब्द और हिन्दी गीत भी बड़े उचित ढंग से अपने नाटकों में लाते थे। उनके कुछ नाटक उर्दू में हैं, कुछ हिन्दी में और कुछ मिली-जुली भाषाओं में। उन्होंने सामाजिक विषयों को भी नाटकों में जगह दी। उनके प्रसिद्ध नाटकों में

"सुफैद ून," "तुर्की हूर," "आँख का नशा", "औरत का प्यार," "सूरदास", "विलवा मंगल", "श्रवण कुमार" और "सीता बनवास" है। उनके नाटक अब तक बड़े उत्साह से देखे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक नाटककार की हैसियत से उन्होंने एक नई शैली की नींव डाली जिस पर बाद में और लेखक आगे बढ़े।

मंच के अतिरिक्त कुछ नाटक केवल साहित्य की दृष्टि से लिखे गए हैं, उनमें मौलाना शरर, अब्दुल माजिद दरियाबादी, पंडित कैफ़ी इत्यादि के नाटक प्रसिद्ध हैं। उमरावअली और किशनचन्द "जेबा" ने राजनीतिक विषयों पर ड्रामे लिखे। अग़ा हश्र के शिष्यों में हकीम अहमद शुजाअ के नाटक नाटक कम्पनियों में बड़े लोक-प्रिय सिद्ध हुए। डा० आबिद हुसैन, डा० इशतियाक़ हुसैन, मुहम्मद उमर, नूरइलाही, आरज़ू इत्यादि ने भी अच्छे अच्छे नाटकों की रचना की। इम्तियाज़ अली "ताज" ने अपना सर्व श्रेष्ठ ड्रामा "अनारकली" भी साहित्यिक दृष्टि से लिखा और बहुत से आलोचक उसको उर्दू का सबसे अच्छा नाटक समझते हैं। कोई २५ वर्ष से उर्दू में एकांकी नाटकों का रिवाज भी हो गया है और उसके लिखने वाले बहुत है। एकांकी नाटकों में जीवन की सभी समस्याओं को उसी प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है जिस प्रकार कहानियों में। इनमें से कुछ नाटक रेडियो के लिए भी लिखे गए हैं और कुछ केवल साहित्यक रूप रखते हैं, मंचपर दिखाने के लिए उनमें बड़ा परिवर्तन करना पड़ेगा। उपेन्द्रनाथ अश्क, सआदत हसन मन्टू, राजेन्द्र सिंह बेदी, कृष्णचन्द और ख्वाजा अहमद अब्बास ने ऐसे नाटक लिखे हैं जिनमें वर्गशोषण, सामाजिक अन्याय, भूख, बेजोड़ विवाह पूजी और श्रम का संघर्ष, स्वतन्त्रता युद्ध और जीवन की असंख्य समस्याऐं बड़ी सुन्दरता और कलात्मक निपुणता के साथ प्रस्तुत की गई हैं।

इस युग में पत्रिकाओं की चर्चा अधिक बढ़ रही थी और उनका स्तर भी ऊँचा हो रहा था। राजनीतिक वाद-विवाद के अतिरिक्त साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और आर्थिक बिषयों पर लेख वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुकूल होते थे। सर सैय्यद के समय से यह सिलसिला चला था और समय के साथ साथ और अधिक व्यापक होता जा रहा था मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, हसन निज़ामी, मौलाना मुहम्मद अली, ज़फ़र अली खाँ इत्यादि ऐसे पत्र-

कार हैं जिनका साहित्य में बड़ा ऊंचा स्थान है। मौलाना आज़ाद ने "अल-हिलाल" और "अल-बलाग़" के नाम से जो दो अख़बार निकाले उन्होंने एक नवीन ढंग की पत्रकारी को जन्म दिया। इसी प्रकार मौलाना मुहम्मद अली ने अंग्रेज़ी और उर्दू में जो समाचार पत्र निकाले उनकी चर्चा भी साहित्य के हर इतिहास में अवश्य की जाएगी।

मौलाना आज़ाद की गद्य अरबी और फ़ारसी शब्दों से भरी हुई उनमें अलंकारों और उपमाओं का अधिक प्रयोग होता है, उनमें कविता होती है की रंगीनी पाई जाती है और उससे ऐसे बल और ऐसी शक्ति का उद्भव होता है कि पढ़ने वाला उसके प्रवाह में वह जाने पर विवश होता है। वह जितने बड़े विद्वान हैं उतने ही अच्छे वक्ता और लेखक भी हैं। उन्होंने कई पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं जो बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उनकी पहिले की रचनाओं में "तज़किरा" नामक पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने अपने पूर्वजों का हाल बड़े रोचक ढंग से लिखा है। क़ुरान शरीफ़ का जो अनुवाद टीका-सहित उन्होंने किया है वह ज्ञान का एक बहुत बड़ा भंडार है और जो व्यक्ति भी इसलामी विचार और ज्ञान का अध्ययन करना चाहेगा उसको इस पुस्तक से बड़ी सहायता मिलेगी। सन् १९४२ ई०के बन्दी काल में उन्होंने कुछ पत्र अपने एक मित्र के नाम लिखे और लिखकर रखते गए. कुछ वर्ष हुए वह "ग़ुबारे-ख़ातिर" के नाम से प्रकाशित हुए हैं और एक दफ़ा फिर उर्दू के पाठकों ने गद्य रचना की वह झलक देखी जो उनकी आरम्भिक रचनाओं में पाई जाती थी। राजनीति ने उन्हें अपना बना लिया है पर उससे समय निकाल कर जब कुछ लिख देते हैं तो नए साहित्य का एक भाग बन जाता है।

मौलाना मुहम्मद अली कवि भी थे और लेखक भी पर उन्होंने विशेष रूप से कोई रचना नहीं छोड़ी है उनके लेखों और पत्रों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें हमें अच्छा गद्य और अच्छा ज्ञान दोनों ही मिलते हैं। इसी प्रकार ज़फ़र अली खाँ ने भी पद्य और गद्य दोनों में बहुत कुछ लिखा है और गद्य में विशेष कर उनकी अंग्रेज़ी पुस्तकों के अनुवाद बड़ा महत्व रखते हैं।

ख़्वाजा हसन निज़ामी जो इस समय लगभग ८० वर्ष के है दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी हैं। वह बचपन ही से सूफ़ियाना, धार्मिक और साहित्यिक विषयों पर लिख रहे हैं और इस समय तक छोटी बड़ी सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करवा चुके हैं, उनमें हर प्रकार के लेख मिलते हैं। उन्होंने

अपनी आप बीती में बड़े विस्तार से अपनी जीवन कथा लिखी है। उनकी पुस्तकों में "मुहर्रम नामा," "कृष्ण बीती," "सी पारए-दिल" और बारह भागों में उपन्यास के ढंग पर नादर की कथा बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा बड़ी सरल, सरस, और बोल-चाल के ढंग की होती है, छोटे-छोटे वाक्यों में बड़ी बड़ी बातें कहना उन्हें खूब आता है, हिन्दी शब्दों का प्रयोग बड़े उचित ढंग से करते हैं। उन्होंने भाषा में क़ुरान शरीफ़ का अनुवाद भी किया जिसे महात्मा गांधी ने भी बहुत पसन्द किया था उन्होंने बहुत से पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं जिनमें अधिकतर उन्हीं के लेख होते थे। मुसलमानों के एक समुदाय में उनका बड़ा आदर किया जाता है क्योंकि वह निज़ामुद्दीन औलिया के वंश में गिने जाते हैं।

२० वी शताब्दी के आरम्भ में उपन्यास के अतिरिक्त छोटी कहानियां भी लिखी जाने लगीं थी। सर अब्दुल क़ादिर ने लाहौर से "मख़ज़न" नामक एक पत्रिका निकाली थी जिसमें कभी कभी विदेशी कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित होते थे। कानपूर से "ज़माना" निकलता था उसमें भी कहानियाँ छपती थीं। यह बताना असम्भव है कि पहिली कहानी कब लिखा गई पर इतना तो निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सन् १९०७ ई० के लगभग प्रेमचन्द ने ज़माना में अपनी पहिली कहानी "दुनिया का सबसे अनमोल रतन" छपवाई। प्रेम चन्द का उल्लेख आगे के अध्याय में किया जाएगा यहाँ केवल इतना ही कहना कि उस समय कहानियां लिखी जाने लगी थी और विशेष कर या तो वह अनुवाद होते थे या प्रेम और रोमान से भरी हुई कोई कथा। लेखकों का कोई सामाजिक दृष्टिकोण न था, वह केवल दिलचस्पी पर ध्यान देते थे। ऐसे लिखने वालों में सज्जाद हैदर "यलदरम" नियाज़ फ़तहपूरी और सुलतान हैदर "जोश" के नाम लिए जा सकते हैं। यलदरम ने तुर्की भाषा से कई उपन्यासों, नाटकों और कहानियों का अनुवाद करके उर्दू के पढ़ने वालों का एक नए रंग से परिचित किया। उनकी रचनाओं में "ज़ाहरा","सालिस-बिल ख़ैर," "जलालुद्दीन ख़्वारिज्मशाह," "ख़्यालिस्तान" और "हिकायातो-एहतेसासात" प्रसिद्ध हैं। उनका गद्य अति रंगीन और भाव-पूर्ण होता है। वह सामाजिक विषयों के बदले मनोभावों को प्रस्तुत करने पर ज़ोर देते हैं। उनकी रचनाओं में हास्य-रस की साधारण सी लहर भी दौड़ी हुई होती है इसलिए वह पढ़ने वाले को बहुत प्रभावित करते हैं। एक

प्रकार से यह उर्दू साहित्य का रोमानी युग था, जिसमें लेखक नवीन दिशाओं में बढ़ रहे थे पर उनके सम्मुख कोई बड़ा आदर्श नहीं था, उनके विचारों में भी नवीनता होती थी और शैली में भी। यही युग बदल कर राजनीतिक चेतना का युग बन गया जिसका उल्लेख आगे आएगा।

नियाज़ फ़तहपुरी जिनकी आयु इस समय लगभग ६५ वर्ष की है आरम्भ में इसी रंग के लेखकों में थे पर अब समस्याओं के जटिल हो जाने के कारण उनका दृष्टिकोण बदल गया है और वह नई जागृति से प्रभावित होकर नई बातों का स्वागत करने पर तैय्यार हैं परन्तु जिन लेखों ने उनको उर्दू साहित्य के इतिहास में जगह दिलाई है वह उनके युवा वस्था के लिखे हुए हैं जैसे "एक शायर का अंजाम," "शहाब की सरगुज़श्त", "निगारिस्तान" और "जमालिस्तान"। नियाज़ एक बड़े विद्वान और वेग गति से लिखने वाले लेखक हैं वह अरबी-फ़ारसी के अच्छे पण्डित हैं, अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषा से भी भली-भाँति परिचित हैं। सन् १९२२ ई० से वह अपनी एक मासिक पत्रिका "निगार" निकाल रहे हैं जिसने उर्दू के बहुत से नए लेखकों को अपनी विचार स्वतंत्रता और बुद्धिवाद से बहुत प्रभावित किया। वह धर्म को बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं और बड़े तर्क-पूर्ण ढंग से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं, इसमें उनका कड़ा विरोध भी हुआ पर वह अपने विचारों को प्रगट करने में कभी संकोच नहीं करते। नियाज़ को प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता परन्तु वह कुछ समय पहिले भी अपनी विचार स्वतंत्रता के कारण रूढ़िवादियों से अलग समझे जाते थे।

नियाज़ ने उपन्यास, नाटक, कहानियाँ, आलोचना, इतिहास सभी प्रकार की रचनाएँ की हैं। उनकी कहानियाँ अधिकतर रंगीन, रोमानी और मनोरंजक होती थीं जिनमें सामाजिक पृष्ट-भूमि न रख कर वह केवल मनो-भावों का विश्लेषण करते थे। इस समय वह अधिकतर आलोचनात्मक निबन्ध लिखते हैं जिनमें वह प्रभावपूर्ण ढंग से साहित्य की विशेषताएँ प्रस्तुत करते हैं। उनका दृष्टि-कोण सौन्दर्य-शास्त्र से प्रभावित है। नियाज़ की भाषा आरम्भ में फ़ारसी-अरबी शब्दों और वाक्यों से बहुत बोझल हुआ करती थी, उसमें बड़ा जोश और ज़ोर होता था पर अब एक प्रकार की सरलता पैदा हो गई है तथापि उसकी रंगीनी में अधिक कमी नहीं हुई है। उन्होंने हिन्दी

और विशेषकर ब्रज भाषा के अच्छे-अच्छे दोहों को टीका-सहित "जज़बाते-भाषा" के नाम से प्रकाशित कराया है।

हाली, आज़ाद और सर सैय्यद के बाद से उर्दू में साहित्यिक आलोचना का आम रिवाज हो गया है। आलोचकों में कई श्रेणी के लोग मिलते हैं। कुछ ऐसे हैं जो केवल गवेषणात्मक ढंग से पुरानी पुस्तकों और लेखों पर टीकाएँ लिखते हैं और उनको लम्बी लम्बी भूमिकाएँ लिखकर प्रकाशित करते हैं। कुछ वह हैं जो हाली के पथ पर चलकर साहित्य की विशेषताओं और त्रुटियों की खोज लगाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो साहित्य और कविता में केवल सौन्दर्य की खोज लगाते हैं और सुन्दरता का जो प्रभाव स्वीकार करते हैं उसको रचनात्मक ढंग से लिख देते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो केवल व्याकरण और शब्दों के ठीक अर्थ इत्यादि से काम रखते हैं। इन सब आलोचकों की संख्या बहुत है और सबका उल्लेख असम्भव है फिर भी कुछ प्रसिद्ध लेखकों के नाम और काम पर दृष्टि रखना वर्तमान काल की साहित्यिक उन्नति के समझने में सहायक होगा। इस अध्याय में जिनकी चर्चा की जाएगी उनमें से अधिकतर वह हैं जिनका दृष्टिकोण सामाजिक विश्लेषण पर निर्भर नहीं है बल्कि वे अपने ढंग से कवियों की जीवनी, उनके मृत्यु दिवस, उनके छोटे-छोटे हालात, उनकी रचनाओं की संख्या और उनके दूसरे साहित्यकारों से सम्बन्ध रखने पर ज़ोर देते हैं। यह काम भी किसी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए आवश्यक हैं पर इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब तक जीवन और साहित्य के सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध को न देखा जाए उसकी प्रगति का इतिहास पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। चेतना-पूर्वक जिन आलोचकों ने यह दृष्टि कोण अपनाने की चेष्टा की उनका उल्लेख अंतिम अध्याय में होगा यहाँ केवल उन्हीं की चर्चा की जाएगी जो पुराने और नए के बीच की कड़ी बन गए हैं या अवचेतन रूप से उस परम्परा को दृढ़ करने में सहायक सिद्ध हुए जो हाली ने चलाई थी।

मौलाना अब्दुल हक़, मौलाना सुलैमान नदवी, मौलाना अब्दुल मजिद दरियाबादी, लाला श्रीराम, हाफ़िज़ महमूद शीरानी, पंडित कैफ़ी, सैय्यद अहमद देहलवी, मुहम्मद हुसैन "अदीब," नसीर हुसैन "ख्याल," अब्दलीप शादानी, मसूद हसन रिज़वी "अदीब,"

डाक्टर मोहन सिंह दीवाना, रशीद मिद्दीक़ी, डाक्टर ग़ौर, नसीरुद्दीन हाशिमी और डाक्टर अब्दुल्लाह उन आलोचकों में गिने जाते हैं जिन्होने आधुनिक काल में उर्दू साहित्य को लोकप्रिय और व्यापक बनाने में बड़ा भाग लिया है। यह बात स्पष्ट है कि इनमें से पांच छः के अतिरिक्त अभी सब के सब जीवित हैं और अपने कामों में लगे हुए हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखना इस संक्षिप्त इतिहास में सम्भव नहीं है पर यह याद रखना चाहिए कि इनमें से कई के काम बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी रचनाएँ वही महानता रखती हैं जो हाली, आज़ाद, और शिबली की रखती थीं।

नए साधनों के पैदा हो जाने के कारण यह लेखक दर्शन शास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास और विज्ञान की सहायता से ज्ञान की सीमाएं विस्तृत करते हैं पर जैसा कि कहा गया है इनमें से अधिकतर वह हैं जो साहित्य की प्रगति को सामाजिक चेतना की दृष्टि से नहीं देखते। मौलाना अब्दुल हक़ जो इस समय ८४ साल के लगभग हैं उर्दू के एक बहुत बड़े लेखक और विद्वान समझे जाते हैं। उन्होने अपनी समस्त आयु उर्दू की प्राचीन रचनाएँ खोजने, उन पर टीकाएँ लिखने, उन्हें प्रकाशित करने और उर्दू भाषा को शक्तिशाली बनाने में लगा दी है। वह हैदराबाद में कई कालिजों के प्रिंसिपल और अध्यक्ष रहे और वहीं उन्होंने अपनी अधिकतर पुस्तकें और निबंध लिखे। उनकी रचनाओं में "मराठी पर फ़ारसी का असर", "नुसरती", "मरहूम देहली कालिज" प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उनके गवेषणापूर्ण और आलोचनात्मक निबंधों के कई संग्रह "मुक़द्दमाते-अब्दुलहक़", "तनक़ीदाते-अब्दुलहक़", "चन्द हम असर" के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने अपनी खोज से उर्दू के कई प्राचीन लेखकों और कवियों को जीवित किया और अपने अथक परिश्रम से उर्दू भाषा को लोकप्रिय बनाने में बड़ी सहायता की। सच यह है कि उनके लेख इतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितना उनका यह काम कि उन्होंने बहुत से लेखकों को रचनात्मक काम की ओर लगाने का प्रयत्न किया। वह हाली के ढंग की सरल गद्य लिखते हैं और भाषा को अनुचित फ़ारसी और अरबी शब्दों से बोझल नहीं होने देते पर सन् १९३६ ई० के पश्चात् उनकी दृष्टि में कुछ ऐसी संकीर्णता पैदा हो गई थी कि उनके अनुचित उत्साह से भारतवर्ष में उर्दू-हिन्दी झगड़े को बढ़ावा मिला। अब वह

पाकिस्तान में अंजुमन तरक़्क़ीए-उर्दू स्थापित करके उसी काम को आगे बढ़ा रहे हैं जो उन्होंने हिन्दुस्तान में आरम्भ किया था।

लाला श्रीराम देहलवी (१८७५-१९२९) दिल्ली के एक बड़े परिवार से सम्बन्ध रखते थे जिसमें उर्दू के अच्छे-अच्छे लेखक पैदा हो चुके थे। लाला श्रीराम अंग्रेज़ी, फ़ारसी और अरबी ख़ूब जानते थे इसलिये जब अपने स्वास्थ्य के बिगड़ जाने के कारण सन् १९०७ ई० में उन्होंने नौकरी छोड़ दी तो उर्दू कवियों का एक ऐसा तज़किरा लिखने का प्रयत्न किया जिसमें कोई कवि छूटने न पावे। उसके चार बड़े बड़े भाग प्रकाशित हो चुके थे कि उनका देहान्त हो गया। यह तज़किरा जो "ख़ुमख़ानए-जावेद" के नाम से प्रसिद्ध है उर्दू की महत्वपूर्ण किताबों में गिना जाता है। इसमें कहीं-कहीं ग़लती भी हो गई है पर साधारणतः इसमें गहरे अनुसंधान से काम लिया गया है। इस पुस्तक को संग्रहीत करने के लिए उन्होंने सहस्रों पुस्तकें एकत्र की थीं जिनमें से कुछ संसार में कहीं और नहीं पाई जातीं। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी रचना और उनका पुस्तकालय सब हिन्दू विश्वविद्यालय काशी को दे दिए गए और उनके काम को पंडित कैफ़ी ने आगे बढ़ाने की चेष्टा की। चुनांच उसका पाँचवाँ भाग पंडित कैफ़ी ने संकलित करके प्रकाशित कराया है। पंडित कैफ़ी स्वयं एक बहुत बड़े विद्वान हैं और भाषा विज्ञान विशेषज्ञों में गिने जाते हैं। उनकी कविताओं का उल्लेख हो चुका है परन्तु वास्तव में वह एक गद्य के लेखक की हैसियत से उर्दू भाषा के इतिहास में सदैव जीवित रहेंगे। उन्होंने नाटक इत्यादि भी लिखे हैं पर उनकी सर्व-श्रेष्ट रचना "कैफ़िया" भाषा सम्बंधी ज्ञान का एक अनन्य कोष है। उनकी आयु भी ८५ वर्ष के लगभग पहुँच चुकी है पर वह अब भी लिखने-पढ़ने के कामों में लगे हुए हैं।

नव्वाब नसीर हुसैन ख़याल (१८८०-१९३४) पटने के एक विख्यात लेखक हुए हैं। उन्होंने भी उर्दू भाषा की उत्पत्ति और उन्नति के सम्बन्ध में कई गवेषणापूर्ण रचनाएँ की हैं जिनमें से दो, "दास्ताने-उर्दू" और "मुग़ल और उर्दू" प्रसिद्ध हैं। उनके लिखने का ढंग मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद से मिलता-जुलता था। वह शब्दों का प्रयोग बड़ा सुन्दरता से करते थे और जिस शब्द से जिस स्थान पर

जो काम लेना चाहते थे वह बड़े रोचक ढंग से ले लेते थे उनकी शैली में गंभीरता और सरसता एक साथ मिलती है।

मौलाना शिबली की स्थापित की हुई संस्था दारुल-मुसन्नफ़ीन ने आज़मगढ़ में उर्दू के कई लेखकों ने उस कार्य को जारी रक्खा जो उसके निर्माता ने शुरू किया था। मौलाना सुलैमान नदवी, अब्दुस्सलाम नदवी, सईदअन्सारी, रियासतअली नदवी, शाह मुईनुद्दीन नदवी सब उर्दू के अच्छे लेखक माने जाते हैं, इनमें मौलाना सुलैमान नदवी का महत्व सबसे अधिक है। वह शिबली के सच्चे उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं। उनकी पुस्तकों में कुछ वह हैं जिनको मौलाना शिबली अधूरा छोड़ गए थे और कुछ वह जो स्वयं उन्हीं के विचारों का परिणाम कही जा सकती हैं उनकी पुस्तकें भी विशेषकर धार्मिक साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से केवल दो पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—"नुक़ूशे-सुलैमानी" और "ख़ैय्याम"। यह दोनों रचनाएँ उर्दू की सुन्दर गद्य शैली में महानुभावनाओं से भरा हुई हैं। वह एक बहुत बड़े विद्वान हैं इसलिये उनके अधिकतर लेख गहरे अनुसंधान का पता देते हैं, यह बात ख़ैय्याम के अतिरिक्त उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "अरब और हिन्द के तअल्लुक़ात" में पाई जाती है। वह भी पाकिस्तान चले गए थे और वहीं उनका देहान्त १९५३ ई० में हो गया। मौलाना अब्दुस सलाम की पुस्तक "शेरुलहिंद" उर्दू काव्य का इतिहास समझने में बड़ी मदद देती है। इस संस्था के अन्य लेखकों की रचनाएँ अधिकतर धार्मिक हैं पर उनका साहित्यिक महत्व भी है।

मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी वर्तमान युग के प्रसिद्ध विद्वानों और लेखकों में समझे जाते हैं। उनके जीवन में बहुत से उतार-चढ़ाव आए हैं। जिस समय वह अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उन पर नास्तिक भावों का गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने बुद्धिवादी दृष्टिकोण से इस्लाम और अन्य धर्मों पर चोटें की, उसी समय उन्होंने यूरोपियन दर्शन-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कई पुस्तकों का अनुवाद किया और अंग्रेज़ी उर्दू में बहुत से लेख लिखे। इसके पश्चात उन्होंने पलटा खाया और धीरे धीरे फिर धार्मिक विचारों का प्रचार करने लगे और अब उनकी संकीर्णता इतनी बढ़ गई है कि वह संसार की हर घटना को केवल इस्लामी दृष्टिकोण से देखते हैं। यह दृष्टिकोण

भी केवल उनका ही होता है। उन्होंने कुछ साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं जो शैली की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। उनके संग्रह "मक़ालाते-माजिद" और "मजामीने-माजिद" के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं और अनुवादों में "फ़लसफ़ए-जज़्बात और "फ़लसफ़ए-इजतिमाअ," "तसौव्वुफ़ और इस्लाम," "तारीख़े-"इख्लाक़े-योरप" और "मुहम्मद अली की डायरी" प्रसिद्ध हैं। वह चेतनापूर्वक हर प्रगतिशील विचार का विरोध करना अपना कर्तव्य समझते हैं, उनके लिखने का ढंग ऐसा सुन्दर और मनोरंजक है कि उनके रूढ़िवादी विचार भी पढ़ने में मज़ा आता है।

नए उर्दू साहित्य के निर्माताओं में वहीदुद्दीन "सलीम" पानीपती भी बड़ा महत्व रखते हैं। पद्य और गद्य दोनों में उनके कार्य सराहनीय हैं। वह कई भाषाओं के विद्वान थे इसलिए उन्होंने भाषाविज्ञान और विशेषकर पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद और रचना के सम्बन्ध में जो कुछ किया है वह उल्लेखनीय है। उनका समस्त जीवन एक ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थी का जीवन था जिसे वह बड़ी सादगी से बिताते थे। उनकी आयु का बड़ा भाग हैदराबाद में बीता, यहाँ उन्होंने नए साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया। उनके पद्य संग्रह के अतिरिक्त दो गद्य की रचनाएं भी मिलती हैं—"इफ़ादाते-सलीम" और "वज़ए-इस्तेलाहात," और दोनों उनके ज्ञान का परिचय देती हैं। पहली रचना निबन्धों का एक संग्रह है किन्तु हर निबन्ध अपने स्थान पर विशेषता रखता है और दूसरी पुस्तक पारिभाषिक शब्दों को बनावट से सम्बन्ध रखती है जिसपर इस समय तक कोई वृद्धि नहीं हो सकी हैं सन् १९१६ ई० में उनका देहान्त हो गया।

डाक्टर अब्दुर-रहमान बिजनौरी, अज़मतुल्लाह खाँ और सज्जाद अन्सारी तीन ऐसे नाम हैं जो भली-भाँति ख्याति प्राप्त करने के पहले ही मिट गए। तीनों थोड़ी-थोड़ी आयु में परलोक वासी हुए। यह सब कवि भी थे और लेखक भी। अज़मतुल्लाह खाँ ने हिन्दी काव्य-शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था और उर्दू कविता को नए साँचे में ढालने की चेष्टा की थी, जो उर्दू काव्य-शास्त्र के इतिहास में सदैव आदर का पात्र बनी रहेगी। उनकी कविताओं का संग्रह "सुरीले बोल" प्रकाशित हो चुका है। गद्य में भी उनके लेखों के दो संग्रह छपे हैं जिनके अध्ययन से अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि उन्हें लिखने

का कुछ और समय मिलता तो वह कितनी महत्वपूर्ण रचनाएँ छोड़ जाते। इसी प्रकार डाक्टर बिजनौरी की भी केवल दो रचनाएँ मिलती हैं एक निबंधों का संग्रह "बाक़ियाते-बिजनौरी" और दूसरा मिर्ज़ा-ग़ालिब की काव्य रचना पर एक दार्शनिक लेख जो "महासिने-कलामे-ग़ालिब" के नाम से प्रकाशित हुआ। वह योरप की कई भाषाएँ जानते थे और दर्शन-शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान थे इसलिए उनका यह लेख दार्शनिक विचारों से भरा हुआ है। सज्जाद अन्सारी के कुछ निबन्ध और कविताएँ एकत्र करके उनकी मृत्यु के पश्चात् "महशरे-ख्याल" के नाम से प्रकाशित कर दी गईं जिनके अध्ययन से उनकी बुद्धि की तीव्रता, कलात्मकशक्ति और विचार स्वतंत्रता का पता मिलता है। उनके लेखों में बड़ी जान थी और वह बड़ा स्वतंत्रता से दार्शनिक और धार्मिक विषयों पर अपने विचार प्रगट करते थे। इन तीनों लेखकों में यह समानता अवश्य मिलती है कि वह सबके सब सौन्दर्य के उपासक और नवीनता का और अकृष्ट थे।

गवेषणात्मक साहित्य के विशेषज्ञों में हाफिज़ महमूद शीरानी का नाम बड़ा ऊँचा स्थान रखता है, उन्होंने उर्दू भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक महान पुस्तक "पंजाब में उर्दू" नामक लिखी है जिसमें प्रारम्भिक पंजाबी और प्रारम्भिक उर्दू का समानता दिखाई है। पृथ्वीराज रासौ पर भी उन्हों ने एक पुस्तक लिखी जो प्रकाशित हो चुकी है। उनको पुराने और समकालीन लेखकों के यहां ग़लती निकालने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता था और वह सहस्त्रों पुस्तकों को खंगाल कर उनमें से ऐसी बाते ढूढ निकालते थे कि उनकी बात न मानना कठिन हो जाता था। उन्होंने मौलाना आज़ाद और मौलाना शिबली की रचनाओं में अनुसंधान की बहुत सी ग़लतियां निकालीं जिनमें से कुछ पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। वह अरबी, फ़ारसी और हिन्दी के बड़े विद्वान थे पर उनकी गद्य शैली बड़ी रूखी फीकी और निस्सार होती थी। चार पांच वर्ष पूर्व उनका देहान्त हुआ। उस ढंग का काम करने वालों में इस समय भी कई आलोचकों के नाम लिए जा सकते हैं जैसे डा० अब्दुरसत्तार सिद्दीकी, डा० अबदुल्लाह, क़ाज़ी अबदुल वदूद और इम्तियाज़ अली "अर्शी" पर यहां उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना असम्भव है।

पं० मनोहर लाल जुतशी, मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी, मोलवी महेश प्रसाद, जाफर अली खाँ "असर" और नसीरुद्दीन हाशिमी ने उर्दू साहित्य

निर्माण में बड़े काम किए हैं और बहुत सी ऐसी प्राचीन रचनाएँ खोज निकाली हैं जिनसे हमारे ज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है पर इस स्थान पर उनकी रचनाओं पर भी कुछ विचार प्रगट नहीं किए जा सकते। जब कोई उर्दू साहित्य के वर्तमान युग का इतिहास विस्तार में देखना चाहेगा तो इन लेखकों के सम्बन्ध में उसे जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता होगी।

भारतीय विश्वविद्यालयों में जब से उर्दू को एक उच्च शिक्षा का विषय मानकर जगह दी गई है उस समय से वहां के अध्यापक बड़ा काम कर रहे हैं। उनमें जो नवीन सामाजिक चेतना से अधिक प्रभावित हुए हैं उनका उल्लेख आगे के अध्याय में होगा, यहां कुछ ऐसे लेखकों की चर्चा की जाती है जो प्राचीन साहित्यकारों के ढंग पर साहित्य निर्माण में विश्वास रखते हैं और किसी न किसी रूप में नवीन साहित्य के प्रयोगों की ओर शंका की दृष्टि से देखते हैं। इनमें मसूद हसन रिज़वी "अदीब", रशीद अहमद सिद्दीक़ी, सैय्यद ज़ामिन अली, डा० हफ़ीज़ सैय्यद, डा० ज़ोर, प्रो० अबदुल क़ादिर सर्वरी, डा० अन्दलीप शादानी और डा० अबदुल्लाह के नाम स्मरणीय हैं।

मसूद हसन रिज़वी अभी १६५४ तक लखनऊ विश्वविद्यालय में उर्दू फ़ारसी विभाग के मुख्याध्यक्ष थे। उन्होंने अधिकतर प्राचीन कवियों और लेखकों का विशेष अनुसन्धान किया है पर वह नए साहित्य से भी भली भांति परिचित है। उन्होंने मर्सिए का अनुसंधान विशेष रूप से किया है जिस पर वह एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिख रहे हैं उनकी प्रमुख प्रकाशित रचनाओं में "हमारी शायरी", "रूहे-अनीस", "दीवाने-फ़ाइज़", "क़ैज़े-मीर", "मजालिसे-रंगीं" और "मुतफ़र्रिक़ाते-ग़ालिब" प्रसिद्ध हैं। उनके लेख गवेषणपूर्ण होते हैं पर वह नए प्रकार की आलोचनाएँ भी लिखते हैं। उनकी लोकप्रिय पुस्तक "हमारी शायरी" उर्दू काव्य की विशेषताओं के समझने में बड़ी सहायक होती है। उनकी भाषा, सरलता और गम्भीरता दोनों से परिपूर्ण है। इस समय वह उर्दू नाटक के प्रारम्भ और वाजिद अली शाह के साहित्यिक महत्व पर काम कर रहे हैं।

रशीद अहमद सिद्दीक़ी मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ में उर्दू विभाग के प्रधान हैं वह विशेष कर हास्य-पूर्ण निबन्ध लिखते है। कभी-कभी आलोचनात्मक लेख भी लिखते हैं पर उनमें भी हँसी

के छींटें उड़ाते हैं। उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं जैसे "मज़ामीने-रशीद", "ख़न्दां", "गंजहाय-गिरांमाया", "तनज़ियातो-मुज़हिकात" और "शैख़ नियाज़ी"। उर्दू में हास्य-रस की परम्परा पर भी उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जो उर्दू में अपने ढंग की एक ही रचना कही जा सकती है। सिद्दीक़ी के व्यंग और गहरे संकेत उनकी कलात्मक शैली को गम्भीर और दार्शनिक बनाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वह वर्तमान युग के सबसे बड़े हास्यपूर्ण लेखक हैं, वह केवल हंसने के लिए नहीं लिखते शिक्षा और आत्मसंयम के लिए लिखते हैं।

सैय्यद ज़ामिन अली इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्रोफ़ेसर थे वह कवि भी हैं और लेखक भी, कविता में वह प्राचीन काव्य-शैली का अनुसरण करते हैं पर नवीन प्रयोगों की विशेषताओं को भी सराहते हैं उन्होंने भी अपना अधिक समय प्राचीन साहित्य, विशेष कर मर्सिए के अनुसंधान में लगाया है अब तक उनके कुछ ही लेख प्रकाशित हुए हैं जैसे "वाक़याते-कर्बला" और "उर्दू ज़बान और अदब", बहुत कुछ प्रकाशित होने के लिए अभी शेष है।

डा० हफ़ीज़ सैय्यद भी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उर्दू के अध्यक्ष थे। उन्होंने क़ाज़ी महमूद "बहरी" का विशेष अनुसंधान करके उसका काव्य-संग्रह संकलित किया जो प्रकाशित भी हो चुका है इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध और अशोक पर भी उनकी रचनाएँ छप चुकी हैं। उन्होंने धार्मिक दार्शनिक और साहित्यिक विषयों पर बहुत से लेख लिखे हैं। उनकी गद्य शैली सीधी साधी और नीरस होती है।

डा० मुहीयुद्दीन क़ादिरी "ज़ोर" हैदराबाद (दकन) के प्रमुख लेखकों में से हैं। उन्होंने योरप में रहकर भाषा विज्ञान पर बहुत काम किया और उसी समय में उर्दू अंग्रेजों में अपने अनुसंधान परिणाम प्रकाशित कराए। वही उन्होंने उर्दू के उन प्राचीन लेखकों और कवियों का अध्ययन किया जिनकी रचनाएं वहां के पुस्तकालयों में मिलती हैं। इनकी बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जैसे "रूहे-तनक़ीद", "तनक़ीदी मक़ालात", "हयाते-क़ुली क़ुतुब शाह", "दास्ताने-अदबे-हैदराबाद" इत्यादि। इनके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से कवियों के संग्रह अपनी टीकाओं सहित प्रकाशित कराए हैं। वह दकिनी भाषा और

साहित्य के विशेषज्ञ हैं और उन्होंने हैदराबाद में उर्दू साहित्य का अ संधान करने वाला एक पूरा जथा बना लिया है जो अब भी गवेषणात्मक कार्यों में लगा हुवा है और प्राचीन उर्दू साहित्य की खोज कर रहा है। डा० ज़ोर की गद्य शैली भी सीधी साधी और नीरस होती है।

अबदुल क़ादिर सर्वरी उसमानिया विश्वविद्यालय में उर्दू के अध्यक्ष हैं और कई पुस्तकें प्रकाशित करा चुके हैं, जैसे "जदीद उर्दू शायरी", "दुनियाए-अफ़साना", "उर्दू मसनवी का इरतिक़ा"। इनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ गल्पों के अनुवाद भी विभिन्न भाषाओं से किए हैं और कई कवियों के संग्रह की टीकाएँ लिखी हैं। समकालीन दक्षिणी आलोचकों में उनका एक विशेष स्थान है।

डा० अन्दलीप शादानी ढाका विश्वविद्यालय में उर्दू-फ़ारसी के प्रोफ़ेसर हैं। उनके अनुसन्धान का विषय वैसे तो फ़ारसी है पर उन्होंने उर्दू में भी बहुत लिखा है वह कवि भी हैं और आलोचक भी, कहानियों के कई संग्रह भी उन्होंने प्रकाशित कराए हैं। उन्होंने अधिकतर अपनी आलोचनाओं में उर्दू कविता की त्रुटियों की ओर संकेत किया है। उनके निबन्धों का एक संग्रह "तहक़ीक़ात" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

डा० अबदुल्लाह पंजाब विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफ़ेसर हैं, उन्होंने भी विशषकर फ़ारसी भाषा का अनुसंधान किया है पर उर्दू में भी बहुत कुछ लिख चुके हैं उर्दू गद्य पर उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा में एक पुस्तक लिखी है और बहुत से उर्दू निबन्धों में उसी पुस्तक के विचारों को विस्तृत रूप में प्रगट किया है। फ़ारसी के हिन्दू लेखकों और कवियों पर भी उनकी एक गवेषणापूर्ण रचना प्रकाशित हो चुकी है जिससे उनके ज्ञान का पता चलता है। वह नए रंग की आलोचनाएँ भी लिखते हैं पर उनकी विशेष रूचि प्राचीन लेखकों के अनुसंधान की ओर है। उनके लेखों का संग्रह "बहसो-नज़र" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

बहुत से नाम छोड़ दिए गए हैं और जिनका उल्लेख हुआ है वह भी बिलकुल अधूरा है पर इसमे अधिक सम्भव न था। जो कुछ लिखा गया है उसके अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव से उर्दू गद्य और पद्य दोनों में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। यह प्रभाव विचारधारा पर भी पड़ा था और शैली पर भी। सरसैय्यद

के समय से लेकर इस समय तक उन सभी विषयों पर काम हुआ है जो किसी भाषा को व्यापक और विस्तृत बनाते हैं। इससे यह भी प्रतीत होगा कि अंग्रेज़ी के प्रभाव को स्वीकार करने और उसका बहिष्कार करने की लहरें साथ साथ चल रही थीं फिर भी उर्दू साहित्य उस नए युग का संदेश-दूत बन गया जो ऐतिहासिक कारणों से सारे संसार पर छाया हुआ था। भारतवर्ष की सामाजिक और राजनीतिक चेतना के अनुपात से उर्दू साहित्य में भी नवीन विषयों को ग्रहण करने की शक्ति पैदा होती गई। जिस प्रकार उर्दू साहित्य ने यहाँ के समस्त जीवन को अपने घेरे में ले लिया उस का उल्लेख अन्तिम अध्याय में होगा।

अध्याय ११

नई दिशाएँ और भविष्य

इस समय तक वर्तमान युग के साहित्यकारों में जिन लेखकों और कवियों का वर्णन हुआ उनकी सामाजिक चेतना और साहित्यिक दृष्टिकोण में बड़ी विभिन्नता पाई जाती है, तथापि उन्होंने जो वातावरण पैदा कर दिया और उनकी रचनाओं ने जो पृष्ठभूमि तैय्यार कर दी उसको देख कर यह अनुमान लगाना कुछ ऐसा कठिन नहीं रह जाता कि उर्दू साहित्य किस दिशा में बढ़ रहा है। साहित्यिक परम्पराएँ ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों और उत्पादन के आर्थिक रूपों से बनती-बिगड़ती हैं, इसलिए जो परिवर्तन भारतवर्ष में हो रहे थे उन्हें देखना आवश्यक है।

पहिले महायुद्ध के पश्चात् संसार के कई देशों में स्वतन्त्रता और क्रान्ति की लहरें उठीं। रूस में तो युद्धकाल ही में समाजवाद स्थापित हो गया था पर एशिया भर में जागृति की बिजली दौड़ रही थी और मनुष्य की स्वाधीनता और उन्नति की कल्पनाएँ विज्ञान और उद्योग की प्रगति से सच सिद्ध होती जान पड़ती थीं। इसलिए जब सन् १९१९ ई० में अंग्रेज़ी शासन की ओर से भारतवर्ष को कुछ वैधानिक सुधार मिले तो यहाँ का माध्यम वर्ग भी उससे संतुष्ट न हुआ। युद्ध के समय में भारतवर्ष योरप के बहुत निकट आगया था और वहाँ की विचारधाराओं से प्रेरणा लेकर अपने भविष्य का निर्माण करना चाहता था, इसलिए कांग्रेस और दूसरे राजनीतिक दल शक्ति प्राप्त करने के लिए नई-नई योजनाएँ बनाते थे पर शोषित वर्ग को पूरी तरह साथ न रखने के कारण सुधार की ओर थोड़ी दूर बढ़ कर रह जाते थे। लेखकों और विचारकों में क्रान्ति और संघर्ष की जो

भावनाएँ इस समय पैदा हुईं वह भावुक और कल्पनात्मक अधिक थीं, वास्तविकता से उनका गहरा सम्बन्ध नहीं था। तात्पर्य यह है कि प्रगति की इच्छा केवल विचारों तक सीमित थी और विदेशी राज्य में जकड़े हुवे होने के कारण देश की दुर्दशा को बदलने की कोई उपाय निश्चित रूप से सामने नहीं आता थी, यहाँ तक कि महात्मा गांधी ने राष्ट्रीयता का सहारा लेकर अपना वह आन्दोलन चलाया जिसने प्रगति की नई दिशाओं की ओर संकेत कर दिया। पथ चमक उठा और राष्ट्र आगे चल पड़ा।

सुधार से एक मार्ग क्रान्ति की ओर भी जाता है। जब सुधार असफल जान पड़ता है तो क्रान्ति का विचार अवश्य आता है और भारतवर्ष के युवकों को यह राह दिखाई देने लगी थी। वह संसार के क्रान्तिकारी अन्दोलनों से प्रेरणा लेते थे और सुधार-वादियों से बहुत आगे बढ़कर विदेशियों को शीघ्र ही देश बाहर कर देना चाहते थे। वह बड़े- उत्साह से जनतन्त्र और समाजवाद के विचार प्रगट करते थे। भावुकता के बाहुल्य और चेतना की कमी से वह कभी-कभी आतंकवादी भी बन जाते थे। इसे एक प्रकार से क्रान्ति का रोमानी रूप भी कह सकते हैं। सारंश यह कि नवीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति ने नई चेतना, नई चेतना ने नए जीवन और नए साहित्य को जन्म दिया। इस साहित्य में भारतवर्ष के हृदय की धड़कन सुनी और भविष्य की रूपरेखा देखी जा सकती है।

सन् १६३० ई० के लगभग देश में राजनीतिक आन्दोलन की गति इतनी तीव्र हो गई कि कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य का नारा लगाना पड़ा। राजनीतिक दृष्टिकोण में धीरे-धीरे आर्थिक स्वाधीनता के विचार भी सम्मिलित होते जारहे थे, पूर्ण स्वराज्य की माँग भी उसी का एक रूप कही जा सकती है। स्वतन्त्रता की यह घोषणा सुधारवाद पर कड़ी चोट लगाती थी और उस दिशा का पता देती थी जिधर भारतवर्ष को बढ़ना था। स्वतन्त्रता का यह संग्राम कई कोण रखता था। विदेशी राज्य के अतिरिक्त यह संग्राम यहाँ के राजाओं, ज़मींदारों और पूँजीपतियों के विरुद्ध भी था इसलिए यहाँ के लेखकों और विचारकों में अपने वर्गीय दृष्टिकोण के कारण चेतना में विभिन्नता मिलती है। स्वयं काँग्रेस के अन्दर कई प्रकार के लोग थे, कोई बहुत

आगे जाना चाहता था कोई धीरे-धीरे चलकर स्वाधीनता की मंज़िल तक पहुँचने का इच्छुक था।

स्वतन्त्रता की भावना और देश की आर्थिक स्थिति ने शोषित-वर्ग को भी चौंकाया। किसान तो पहिले ही से जगह जगह मोरचे बना रहे थे पर सन् १६२८ ई० से मज़दूरों का आन्दोलन भी शुरू हो गया। दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसा होना आवश्यक भी था। देश की परिस्थितियों और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने समाजवाद और साम्यवाद के विचारों को दृढ़ कर दिया और भारतवर्ष की समस्याओं का हल क्रान्ति द्वारा सोचा जाने लगा। यहाँ ऐसे राजभक्त और सुधार-वादी भी मौजूद थे जो इन विचरों को विदेशी और हिन्सापूर्ण कह कर वर्गशांपण को स्थाई रखना चाहते थे पर इस बात को याद रखना आवश्यक है कि विदेशी विचार अथवा साहित्यिक रूप किसी देश की भूमि में उस समय तक जड़ नहीं पकड़ सकते जब तक कि स्वयं उस देश में उसे स्वीकार कर लेने की परिस्थिति उत्पन्न न हो गई हो। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, बुद्धिवाद और क्रान्तिवाद तथा यथार्थवाद और समाजवाद कहने के लिए तो विदेशी पारि-भाषिक शब्दों के अनुवाद हैं और अपने पीछे एक विदेशी इतिहास रखते है किन्तु परिवर्तित भारतीय चेतना के ढाँचे में इनका भी स्थान है। इन शब्दों और विचारों का प्रयोग उसी समय हुआ जब उन्होंने भारतीय भूमि और संस्कृति से रंग और प्रकाश प्राप्त कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में समाजवाद केवल एक कल्पनात्मक विचार के समान था पर थोड़े ही समय में जनता की जागृति ने राष्ट्रीय आन्दोलन को इससे प्रभावित कर दिया, यहाँ तक कि पक्के सुधारवादी भी अपने विचारों में उसका समनवय करने लगे। इसका एक और बड़ा कारण भी था। १६३० ई० के बाद से योरप में फ़ासिज्म का ज़ोर बढ़ रहा था और ऐसा जान पड़ता था कि इटली और जर्मनी प्रगतशीलता की सारी भावनाओं को कुचल कर रख देंगे। इसलिए सारे संसार में जहाँ कहीं भी स्वतंत्रता, शान्ति और प्रगति के उपासक विद्यामान थे उन्होंने फ़ासिज्म के विरुद्ध आवाज उठाई। भारतवर्ष में भी प्रगतिशील शक्तियों ने इसका साथ दिया इस लिए इस देश में समाजवाद से प्रेम और फ़ासिज्म से घृणा की भावना दिन प्रति दिन प्रबल होती गई। सन् १६३६ ई० में फ़ासिज्म

के विरुद्ध साँस्कृति की रक्षा के लिए जो अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था उसकी प्रतिध्वनि यहाँ भी सुनाई दी और यहाँ की विभिन्न भाषाओं के लेखक और कवि, वैज्ञानिक और विद्वान सचेत हो उठे। उस समय से इस समय तक भारतवर्ष और उसके बाहर जो घटनाएँ हुई हैं उनसे भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की भाँति उर्दू साहित्य भी प्रभावित होता रहा है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि अपने प्रगतिशील आलोचनात्मक दृष्टिकोण से उन ग़लतियों की ओर संकेत भी करता रहा जो राष्ट्रीयता को हानि पहुँचा सकती थीं। साहित्य की दृष्टि से इस जागृति का एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि देश की सभी महान भाषाओं में प्रगतिशील लेखकों के संघ बन गए जिन्होंने जीवन और साहित्य को निकट लाने के सभी साधनों से काम लिया।

पीछे के पृष्ठों में जिस परिवर्तन का उल्लेख हुआ है उसने साधारणतः दो रूप धारण कर लिए; एक को नवीनता और दूसरे को प्रगतिशीलता कह सकते हैं। दोनों ही के उपासक नए साहित्य को अपनाने की चेष्टा करते हैं पर आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों में बड़ा अन्तर मिलता है। इस अध्याय में दोनों प्रकार के साहित्यकारों का उल्लेख होगा पर हम यह संकेत करते जाएँगे कि किसका दृष्टिकोण क्या है।

जैसा कि कहा जा चुका है वर्तमान युग में साहित्य के सभी अंगों और सभी रूपों में उन्नति हुई है, प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए प्रयोग हुए हैं इसीलिए लेखकों और कवियों की संख्या बहुत बड़ी है। हर लेखक के सम्बन्ध में कुछ लिखना और उदाहरण देना असम्भव है, क्योंकि कई कवियों ने हर प्रकार की कविताएँ लिखी हैं, यदि उदाहरण में उनके एक ही रंग की कविता दी जाए तो उनके दूसरे विचारों और दूसरी शैलियों का अनुमान नहीं लगाया जा सकेगा, फिर भी इसका प्रयत्न किया जाएगा कि आधुनिक काल की साहित्यिक उन्नति का एक चित्र आँखों के सामने आजाए। उपरोक्त पृष्टभूमि में कवियों और लेखकों की विचारधाराएँ कहीं-कहीं तो स्पष्ट दिखाई देंगी और कहीं चेतना की अस्पष्टता के कारण ऐसे सामंजस्य का प्रयास मिलेगा जो यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही से निकट जान पड़ेगा।

इस अध्याय की पृष्टभूमि को देखते हुए जिस कवि का नाम

सबसे पहिले लिया जा सकता है वह "जोश" मलीहाबादी हैं। जोश की आयु इस समय लगभग ५८ वर्ष है। नाम शब्बीर हसन खाँ है और मलीहाबाद (लखनऊ) के रहने वाले हैं। उनके परदादा, दादा और पिता सब कवि हुए हैं और उनके काव्य-संग्रह भी छप चुके हैं। जोश ने नौ वर्ष की आयु से कविताएँ लिखना आरम्भ किया। उनकी शिक्षा पहिले तो घर ही पर हुई फिर लखनऊ, सीतापूर, आगरा और अलीगढ़ में अंग्रेज़ी पढ़ते रहे। पिता की मृत्यु के कारण शिक्षा अधूरी रह गई और घर का बोझ भी सर पर पड़ा। ज़मींदारी के झगड़ों और नातेदारों के अप्रिय व्यवहारों से घबरा कर घर से निकले और हैदराबाद में नौकरी करली। अपने स्वतन्त्र राजनीतिक विचारों के कारण १६३४ ई० में वहाँ से देश निकाला मिल गया। कुछ समय तक दिल्ली से एक पत्रिका निकालते रहे, फिल्मों के लिए गीत और कहानियाँ लिखते रहे, अब सरकारी पत्रिका "आजकल" के सम्पादक हैं।

जोश के लगभग १४ काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। पहिला संग्रह "रूहे-अदब" सन् १६२१ ई० में छपा था, शेष संग्रह सन् १६३५ ई० से निकलना शुरू हुए। इस समय वह एक बहुत बड़ी कविता "हर्फ़े-आख़िर[1]" के नाम से लिख रहे हैं जो कई भागों में प्रकाशित होगी, उसका विषय मानव चेतना के विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण है। उनके कुछ संग्रहों के नाम ये हैं:—"नक़्शो-निगार", "शोलाओ-शबनम", "फ़िक्रो-निशात", "हर्फ़ो-हिकायत", "रामिशो-रँग", "सुंबुलो-सलासिल", "सरोदो-ख़रोश" और "सुमूमो-सबा" इत्यादि। उन्होंने गद्य में भी कुछ निबन्ध लिखे हैं, एक शब्द-कोश भी तैय्यार कर रहे हैं पर वह विशेष रूप से एक कवि हैं और कवि होने ही के नाते जीवित रहेंगे।

आरम्भ में जोश की कविताएँ नवीनता रखने पर भी रीतिकाल के ढँग पर चलती थीं। यह कविताएँ एक भावुक और रंगीन स्वभाव का पता देती हैं, कभी कभी इनमें गंभीरता की झलक भी मिल जाती है। उस समय उन पर थोड़ा बहुत रहस्यवादी विचारों का प्रभाव भी था, टैगोर और इक़बाल की रचनाओं से भी प्रेरणा लेते थे। प्रकृति

१—अन्तिम शब्द

चित्रण में उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त होता था। सभी रोमानी कवियों को भाँति वह सुन्दरता के उपासक थे, चाहे वह प्रकृति में मिले चाहे मनुष्य जीव में और यदि कहीं न मिले तो वह अपने विचारों की सुन्दरता ही पर मुग्ध हो सकते थे। आरम्भिक कविताओं में जोश ने स्वयं अपने प्रेम का वरणं बहुत कम किया है, इसके प्रतिकूल विश्व-प्रेम, और ईश्वर-प्रेम के विचार बहुत मिलते हैं। हैदराबाद जाने के पश्चात इन विचारों के अतिरिक्त शृंगार रस में डूबी हुई कविताएं भी लिखने लगे, देश-प्रेम भी बढ़ा और धीरे धीरे राजनीतिक विषय भी कविताओं में जगह पाने लगे। उसी समय मदिरा का चसका भी पड़ा और उनकी कविताएं उसकी चर्चा से भर गईं। हैदराबाद ही में दर्शन-शास्त्र की ओर रुचि बढ़ी। १० वर्ष के समय में यह सारी बातें ऐसे उत्साह और जोश से लिखी गईं कि इक़बाल के बाद वही उर्दू के सबसे बड़े कवि समझे जाने लगे। आरम्भ में उनको "शायरे-फितरत" (प्रकृति का कवि) कहा जाता था अब 'शायरे शबाब" (युवावस्था का कवि) और "शायरे-इन्क़िलाल" (क्रान्ति का कवि) कहा जाने लगा। इन तीनों उपाधियों से उनकी चेतना की प्रगतिशीलता का अनुमान लगाया जा सकता है।

जोश को प्रकृतिक, शृंगार पूर्ण और राजनीतिक कविताएं लिखने पर समान अधिकार प्राप्त है। भारतवर्ष के राजनीतिक जीवन में कदाचित ही कोई ऐसी घटना हुई होगी जिस पर उन्होंने कविता न लिखी हो। वह राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुसलिम एकता, देश-प्रेम, जनतंत्र, शाँति और विचार स्वतन्त्रता के उपासक हैं और इन विचारों को उन्होंने अपनी सहस्रों कविताओं में बड़ी रोचक और मनोरंजक शैलियों में प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में आग की गर्मी और विचारों में ज्वालामुखी की शक्ति मिलती है, इसीलिये कभी-कभी उनकी रचनाओं में वह गंभीरता नहीं रहती जो एक विचारशील कवि के यहाँ होना चाहिए। सन् १९३० ई० के लगभग जब उनके यहाँ क्रांति की भावनाएँ बढ़ीं तो सबसे पहिले उन्होंने धर्म पर चोट की और विचार स्वतन्त्रता का प्रचार किया पर धीरे धीरे उन्होंने राजनीतिक क्रान्ति को अधिक महत्व देना शुरू किया। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से वह मनुष्य को विवश मानते हैं पर ईश्वर का इन्कार करते हैं, साथ ही वह मनुष्य की स्वतन्त्रता और प्रगति के गीत भी गाते हैं। विचारों की यह विषमता

केवल इस कारण से है कि वह जन साधारण और उनकी कामनाओं के प्रेमी होने के बावजूद उनके निकट या उनसे पूर्णतयः परिचित नहीं हैं। विचार और कर्म की यह दूरी कभी उनको आतंकवादी बनाती है कभी रोमानी, कभी प्रतिक्रियावादी और कभी बहुत बड़ा प्रगतिशील। इन सब के श्रोत उनके वर्ग के जीवन में ढूँढ़े जा सकते हैं।

जोश को शब्दों पर असाधारण अधिकार प्राप्त है। उर्दू में कोई कवि ऐसा नहीं है जो उपमाओं और अलंकारों के सुन्दर प्रयोग में उनकी बराबरी कर सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उर्दू के सारे साहित्य इतिहास में भविष्य उनको बहुत ऊँचा स्थान देगा। उदाहरण के लिए उनके कुछ शेर और एक कविता देखिए:—

अर्जो - समा[1] को साग़रो-पैमाना[2] कर दिया।
रिन्दों[3] ने कायनात[4] को मैख़ाना[5] कर दिया॥
कुछ रोज़ तक तो नाज़िशे-फ़रज़ानगी[6] रही।
आख़िर हुजूमे - अक़्ल[7] ने दीवाना कर दिया॥

× × ×

जँगल है, आबजू[8] है, शबे - माहताब[9] है।
ऐसे में उनको ढूंढ़ के लाएँ कहाँ से हम॥

× × ×

समझती हैं मग़ाले-गुल[10] मगर क्या जौरे-फ़ितरत[11] है।
सहर[12] होते ही कलियों पर तबस्सुम[13] आही जाता है॥

× × ×

१—पृथ्वी और आकाश, २—मधुपात्र और प्याला, ३—शराबियों, ४—विश्व, ५—मधुशाला, ६—चैतन्य का गर्व, ७—बुद्ध का आधिक्य, ८—नहर या नदी, ९—चांदनी रात, १०—फूल का अन्त, ११—प्रकृति की आदत, १२—सुबह, १३—मुस्कान

यों जब आवेज़िश[1] ही ठहरी है तो ज़र्रे[2] छोड़कर।
आदमी खुरशीद[3] से दस्तो-गरीबाँ[4] क्यों न हो॥

× × ×

वो ग़रीब दिल को सबक़ मिले कि खुशी के नाम से डर गया।
कभी तुमने हँस के जो बात की तो हमारा चेहरा उतर गया॥

एक कविता देखिए जिसका शीर्षक है "शिकस्ते-ज़िन्दाँ का ख़ाब" (कारागार के टूटने का स्वप्न):—

क्या हिन्द का ज़िन्दा[5] काँप रहा है, गूंज रही है तकबीरें।
उकताए हैं शायद कुछ कैदी और तोड़ रहे हैं ज़नजीरें॥
दीवारों के नीचे आ आकर, यूं जमअ हुए है ज़िन्दानी[6]।
सीनों में तलातुम[7] बिजला का, आँखो मे झलकती शमशीरें॥
भूखों की नज़र मे बिजली है; तोपों के दहाने ठंडे है।
तकदीर के लब[8] को जुम्बिश[9] है, दम तोड़ रही हैं तदबीरें॥
आँखों में गदा[10] की सुर्खी है, बेनूर[11] है चेहरा सुल्तां का।
तख़रीब[12] ने परचम[13] खोला है सिजदे में पड़ी हैं तामीरें॥[14]
क्या डनको खबर थी जेरो-ज़बर[15] रखते थे जो रूहे-मिल्लत[16]को।
उबलेंगें जमीं से मारे-सियह,[17] बरसेगी फ़लक[18] से शमशीरें॥
क्या उनको खबर थी सीनों से जो खून चुराया करते थे।
एक रोज़ इसी बरंगी से झलकेंगी हज़ारों तसवीरें॥
क्या उनको खबर थी होंठों पर जो क़ुफ्ल[19] लगाया करते थे।
एक रोज इसी खामोशी से टपकें गी दहकती तक़रीरें॥
सँभलों, कि वो ज़िन्दाँ गूज उठा, झपटो, कि वो क़ैदी छट गए।
उट्ठो, कि वो बैठीं दीवारें, दौड़ो कि वो टूटी ज़ंजीरें॥

१—संघर्ष, २—कण, ३—सूर्य, ४—संघर्ष करना, ५—कारागर, ६—संघर्ष के नारे, ७—क़ैदी, ८—हलचल, ९—अधर, १०—कम्पन, ११—भिखारी, १२—कान्तिहीन, १३—विनाश, १४—ध्वजा, १५—रचनाएँ, १६—उलट-पलट, १७—राष्ट्र की आत्मा, १८—काले साँप, १९—आकाश, २०—ताला

इस युग के बहुत बड़े कवि, आलोचक और लेखक प्रो० रघुपति सहाय "फ़िराक़" हैं। गोरखपूर के निवासी हैं और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के अध्यापक। उनके पिता "इबरत" भी उर्दू के अच्छे कवि थे। गम्भिरता और विचार-शीलता बालपन ही से फ़िराक़ के स्वभाव का अंग बनी हुई है और कई भाषाओं का गहरा अध्ययन करने के कारण उनकी विचार शक्ति बड़ी प्रबल और चेतना बड़ी रोचक हो गई है। एम० ए० पास करने के बाद डिप्टी कलक्टरी मिली पर राष्ट्र के स्वतन्त्रता संग्राम ने उनको ऐसा मोहित किया कि नौकरी छोड़ वह जेल चले गए।

जब फ़िराक़ ने कविता लिखना आरम्भ किया तो अमीर मीनाई और दाग़ का बोल-बाला था, फ़िराक़ भी अमीर मीनाई से प्रभावित हुए पर जब उन्होंने और कवियों को पढ़ा तो उनकी शैली में परिवर्तन हुआ और उनकी एक ऐसी शैली बन गई जो अपनी विशेष नवीनता रखती है। फ़िराक़ स्वाभाव से एक भावुक पुरुष हैं और अपने विचारों में दृढ़ हैं इसलिए वह अपने विचार नए ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जीवन की विषमताएँ और आन्तरिक संघर्ष के भाव एकत्र हो जाते हैं। उनकी ध्वनि में नम्रता के साथ शक्ति और करुणा के साथ मानव जीवन पर विश्वास भी मिलता है। फ़िराक़ आज के उन प्रगतिशील लेखकों और विचारकों में से हैं जो जीवन की सभी गम्भीर समस्याओं को अपनी कविता में स्थान देते हैं। आरम्भ में उनकी भाषा फ़ारसी मिश्रित थी पर अब कुछ समय से वह हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी बड़ी सुन्दरता से करने लगे हैं। फ़िराक़ ने अधिकतर ग़ज़लें कही हैं पर नज़्मों का एक संग्रह "रूहे-कायनात" और रुबाइयों का एक संग्रह "रूप" भी प्रकाशित हो चुके हैं। गद्य में भी कई पुस्तकें छप चुकी हैं पर विशेष रूप से उनको ग़ज़लों ही के कारण महानता प्राप्त है। उनकी ग़ज़लों के संग्रह "शोलए-साज़", "मिशअल", "रम्ज़ो - किनायात" और "शबनमिस्तान" हैं। कुछ शेर ये हैं:—

शाम भी थी धुआँ - धुआँ, हुस्न भी था उदास - उदास।
दिल को कई कहानियाँ याद सी आके रह गईं॥

× × ×

दिल दुःख के रह गया ये अलग बात है मगर।
हम भी तेरे ख्याल से मसरूर[1] हो गए ॥

× × ×

कब अपने होश में शबे-ग़म[2] काएनात[3] है।
ऐ दर्दे-हिज्र[4] तू ही बता कितनी रात है ॥

× × ×

ग़रज कि काट दिए जिन्दगी के दिन ऐ दोस्त।
बो तेरी याद में हों या तुझे भुलाने में ॥

× × ×

थरथरी सी है आसमानों में।
ज़ोर कितना है नातवानो[5] में ॥

× × ×

रफ़्ता रफ़्ता इश्क़ मानूसे-जहाँ[6] होने लगा।
ख़ुद को तेरे इश्क़ में तनहा[7] समझ बैठे थे हम ॥

× × ×

न समझने की हैं बातें न ये समझाने की।
ज़िन्दगी उचटी हुई नींद है दीवाने की ॥

हफ़ीज़ जालन्धरी पंजाब के लोक प्रिय कवियों में से हैं। उनकी शिक्षा बहुत मामूली है पर वह स्वभाव से ही कलाकार हैं। इस समय उनकी आयु ५४ वर्ष के लगभग होगी। वह कई पत्रों-पत्रिकाओं के सम्पादक रह चुके हैं। उनकी कविताओं के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें "सोज़ो-साज़" और "तलख़ाबए-शीरीं" प्रसिद्ध हैं। आरम्भ में हफ़ीज़ ने सरल, मीठी और हिन्दी से मिलता-जुलती भाषा में जो गीत लिखे उन्होंने उनका नाम दूर दूर तक फला दिया। मुसलमानों में

१—प्रसन्न, २—दुःख, और विरह की रात, ३—विश्व, ४—विरह की पीड़ा ५—दुर्बलों। ६—संसार से परिचित। ७—अकेला।

उनकी विशेषता और महानता उनकी प्रसिद्ध रचना "शाहनामए-इस्लाम" के कारण है, जिसमें उन्होंने मुसलमानों का इतिहास एक लम्बी कविता के रूप में लिखा है। इस रचना के चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं। साधारणतः वह प्रगतिशील कवियों में नहीं गिने जाते पर उनकी कुछ कविताएँ सामाजिक और राजनीतिक विषयों से भी सम्बन्ध रखती हैं। उनके एक प्रसिद्ध गीत का एक छन्द उदाहरण के लिये दिया जाता है:—

अपने मन में प्रीत बसा ले
अपने मन में प्रीत
भारत माता है दुखियारी—दुखियारे हैं सब नरनारी
तू ही उठाले सुन्दर मुरली—तू ही बन जा श्याम मुरारी
तू जागे तो दुनिया जागे—जाग उठें सब प्रेम पुजारी
जाग उठें सब प्रेम पुजारी
गाएँ तेरे गीत
बसाले अपने मन में प्रीत

"साग़र" निज़ामी को हिन्दी के पाठक भी थोड़ा बहुत जानते हैं क्योंकि उनका एक काव्य-संग्रह देवनागरी लीपि में भी प्रकाशित हो चुका है। वह मेरठ के रहने वाले हैं और "सीमाब" अकबराबादी के शिष्य हैं। आरम्भ में वह केवल गीत, ग़ज़ल और रोमानी कविताएँ लिखते थे, फिर देश भक्ति में मग्न हो गए और बहुत-सी सुन्दर और जोशीली कविताएँ लिखीं। धीरे-धीरे उन्होंने राजनीतिक रंग भी पैदा कर लिया और स्वतंत्रता, समाजवाद और जनता के हितों की बातें करने लगे। देश प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम एकता और स्वतंत्रता संघर्ष के सम्बन्ध में उन्होंने कई बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। उनकी काव्य शैली हिन्दी शब्दों के मेल से नवीन सी जान पड़ती है। वह शैली में संगीत का बहुत ध्यान रखते हैं इसलिए उनकी कविताएँ पढ़ते समय बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। वह गद्य भी लिखते हैं और कई पत्रिकाओं के सम्पादक भी रह चुके हैं। उनकी कविताओं और गद्य-लेखों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से "बादए मशरिक़", "रंग-महल" और "मौजे-साहिल" प्रसिद्ध हैं। उनके सुविख्यात क़ौमी तराने से एक छन्द उदाहरण के लिए प्रस्तुत है:—

सोने वालों को इक दिन जगा देंगे हम,
रस्मो-राहे-ग़ुलामी मिटा देंगे हम।
तेरे बैरी के टुकड़े उड़ा देंगे हम,
आसमानो-ज़मी को हिला देंगे हम।
कौन कहता है कमजोर निर्बल है तू,
हर तरफ़ ख़ूं के दरिया बहा देंगे हम।
जिस तरफ़ से पुकारे गा हिन्दोस्तां
उस तरफ़ ही वफ़ा की सदा देंगे हम।
ऐ वतन, ऐ वतन, ऐ वतन।
सर से बांधे हुए हैं तिरंगा कफ़न।
ऐ वतन, ऐ वतन, ऐ वतन।
जाने-मन, जाने मन, जाने मन॥

अख़्तर शीरानी जिन का युवावस्था ही में देहान्त हो गया, टोंक के रहने वाले थे। उर्दू के प्रमुख रोमानी कवि माने जाते हैं। प्रेम का इतना मधुर वर्णन करते हैं कि वह एक सुन्दर गीत की तरह सुनने वाले पर छा जाता है। कल्पना द्वारा वह एक प्रेम-द्वीप बना लेना चाहते हैं जहाँ चाँदनी, राग, विलास और प्रेम में डूबे हुए दो प्रेमी अपना जीवन बिता लें। नारी से प्यार की जैसी सुन्दर भावना उनके यहाँ मिलती है वह उस रूप में दूसरे के यहाँ विरला ही मिलेगी। दो ही वस्तु हैं जिनके लिए वह बड़े से बड़ा बलिदान करने को तैय्यार हैं, प्रेम और देश-भक्ति। इन्हीं दो शब्दों से वह कल्पनाओं का एक विशाल भवन खड़ा कर लेते हैं। उनकी शैली में सरलता के साथ-साथ एक प्रकार की मादकता भी मिलती है जो पढ़ने वाले को अपने साथ रस और रंग में डुबो देती है। उनकी राजनीतिक कविताओं का रंग भीतर से फीका और प्रभाव-हीन है। अख़्तर शीरानी की कविताओं के ६,७ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वह एक अच्छे गद्य-लेखक और सम्पादक भी थे। उनकी एक प्रसिद्ध कविता के दो तीन छन्द दिए जाते हैं:—

ऐ इश्क़ कहीं ले चल, इस पाप की बस्ती से।
नफ़रत-गहे-आलम[1] से लानत-गहे-हस्ती[2] से॥
इन नफ़्स परस्तों[3] से, इस नफ़्स परस्ती[4] से।

१—घृणापूर्ण संसार २—निन्दित जीवन ३—स्वार्थियों ४—स्वार्थ

दूर और कहीं ले चल, ऐ इश्क़ कहीं ले चल।
हम प्रेम पुजारी हैं, तू प्रेम कन्हैया है।
तू प्रेम कन्हैया है, यह प्रेम की नैय्या है॥
यह प्रेम की नैय्या है, तू उसका खिवइया है।
कुछ फ़िक्र[१] नहीं ले चल, ए इश्क़ कहीं ले चल।
इक ऐसी जगह जिसमें इन्सान न बसते हों।
यह मकरो-जफ़ा-पेशा[२] हैवान[३] न बसते हों॥
इन्सां की क़बा[४] में यह शैतान न बसते हों॥।
तो खौफ़ नही ले चल, ऐ इश्क वहीं ले चल।

"रविश" सिद्दीक़ी भी वर्तमान कवियों में एक ऊँचा स्थान रखते हैं। उनकी विचार-धारा को भी रोमानी कह सकते हैं। जहाँ तक राजनीतिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है वह एशिया के जागरण से प्रभावित हुए हैं। फ़ारसी और अरबी के अतिरिक्त वह हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेज़ी से भी परिचित हैं। इस समय उनकी आयु ४५ वर्ष के लगभग होगी और उन की काव्य-रचना की आयु २७-२८ वर्ष। रविश ग़ज़ल भी लिखते हैं पर उनको अपनी अन्य कविताओं के कारण विशेषता प्राप्त है। उनकी कविताओं में एक प्रकार का रहस्यवादी रंग भी पाया जाता है। उनकी भाषा फ़ारसी-मिश्रित है और शैली पर डा० इक़बाल का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। बहुत कह चुके हैं पर अब तक कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए एक कविता के दो छन्द देखिएः—

जुल्मो-बेदाद[५] की बुनियाद[६] को ढाने के लिए।
बिजलियाँ क़सरे-ग़ुलामी[७] प गिराने के लिए।
नक़्शे-तज़वीरे-तमद्दुन[८] को मिटाने के लिए।
किश्वरे-हिन्द[९] को आज़ाद बनाने के लिए।
शमए-बेदारिए-मशरिक़[१०] को फ़रोज़ां[११] कर दें॥

१—चिन्ता, २—छल कपट रखने वाले, ३—पशु, ४—लम्बा कुर्ता, ५—अत्याचार, ६—नेव, ७—दासता का भवन, ८—सभ्यता का धोका देने वाला चिन्ह, ९—भारत देश, १०—पूरब के जागरण का दिया, ११—दिव्य।

जिस तमद्दुन[1] में मसावात[2] के अन्वार[3] नहीं।
जिस तमद्दुन में कहीं जलवए-ईसार[4] नहीं।
जिस तमद्दुन का निगहवां[5] दिल-बेदार नहीं[6]।
जिस तमद्दुन में ग़रीबों के लिए प्यार नहीं।
उस तमद्दुन के हर ऐवान[7] को वीरां कर दें॥

ऐसी ही सुविख्यात एक और कवि इहसान दानिश हैं। एक दीन परिवार में जन्म लेने के कारण वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके पर बालपन ही से उन्हें पुस्तकावलोकन से गहरा प्रेम रहा है इसलिए उन्होने उर्दू के सभी अच्छे कवियों और लेखकों का अध्ययन किया है। जीविका के लिए उन्होने हर प्रकार की छोटी-छोटी नौकरियाँ की हैं। उन्हें मज़दूर जीवन का अनुभव भली भाँति प्राप्त है अतः उनकी बहुत सी कविताएं मज़दूर जीवन का चित्रण बड़े करुणाजनक रूप से करती है अगर्चे उनमे चेतना चम और भावुकता अधिक पाई जाती है। उनकी दृष्टि में गहराई नहीं है पर वह घटनाओं का चित्र खींचने और साधारण जीवन का रूप प्रस्तुत करने मे बहुत सफल हुए हैं। उनकी छोटी-बड़ी आठ दस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें "चराग़ाँ" और "आतिशे ख़ामोश" प्रसिद्ध हैं। भारत के बटवारे से पहले ही लाहौर चले गए थे। उनकी एक हिन्दी कविता से उदाहरण दिया जाता है:—

दीपक जागे, दिन छिपा, घटा पवन का ज़ोर।
पनघट सूना हो गया, छाई घटा घनघोर॥
भूली बिसरी आगई फिर साजन की याद।
नैनन से लागी झड़ी, कटना रैन कठोर॥

कविता की नई दिशाओं और नवीन शैलियों से लखनऊ देर में परिचित हुआ। चकबस्त को छोड़कर किसी दूसरे कवि ने चेतनापूर्वक अपनी कविताओं में नई समस्याओं का उल्लेख नहीं किया। जोश मलीहाबादी कहने को तो लखनऊ ही के हैं पर उनका अधिकतर समय बाहर ही बीता और वहीं वह जीवन की अन्य समस्याओं से

१—सभ्यता, २—बराबरी, ३—रोशनी, ४—बलिदान की सुन्दरता, ५—रखवाला, ६—जागता हुआ हृदय, ७—भवन

परिचित हुए। लखनऊ में पं० आनन्द नरायण मुल्ला ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया जिसका आरम्भ चकबस्त ने किया था। उनकी आयु इस समय ५० वर्ष से ऊपर है। वह एक प्रसिद्ध कशमीरी घराने से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है और एक सफल वकील रहकर हाई कोर्ट के जज हो गए हैं। आरम्भ में उन्होंने कुछ अंग्रेजी कविताएं लिखीं, कुछ फ़ारसी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद किए. पर बाद में उर्दू में लिखने लगे। उनकी कविताओं में गहराई और भावनाओं का चित्रण दोनों एक ही जगह मिलती हैं। उन्होंने कुछ रोमानी कविताएं भी लिखी हैं पर अधिकतर वह सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन करते हैं। वह अपने विचारों को इस प्रकार कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि उनकी प्रभावशीलता बढ़ जाती है और कविता केवल एक विचार का प्रचार बनकर नहीं रह जाती। गहरे देश-प्रेम के साथ उनकी विचार धारा में मानव-प्रेम की भावना भी बड़ी प्रबल है। उनका काव्य संग्रह "जूए-शीर" प्रकाशित हो चुका है। उदाहरण के लिए ग़ज़ल के ये शेर देखिए:—

तड़प शीशे के टुकड़े भी उड़ा लेते हैं हीरे की।
मुहब्बत की नज़र जल्दी से पहिचानी नहीं जाती॥
नज़र जिसकी तरफ़ करके निगाहें फेर लेते हैं।
क़यामत[1] तक फिर उस दिल की परेशानी नहीं जाती॥

× × ×

अभी शबाब[2] है कर लूं ख़ताएँ[3] जी भर के।
फिर इस मुक़ाम पर उम्रे-रवां[4] रहे न रहे॥

× × ×

तुमने फेरी लाख नरमी से नज़र।
दिल के आईने में बाल आ ही गया॥

× × ×

१—महाप्रलय, २—जवानी, ३—पाप, ४—बीतती हुई आयु,

असीर[1] आँखें कहाँ से सैरे-गुलशन के लिए लाएँ।
नज़र जितनी भी थी सर्फ़े-तलाशे-आशियां[2] कर दी ॥

× × ×

हाँ याद है किसी की वह पहिली निगाहे-लुत्फ़[3]।
फिर ख़ूं को यूं रगों में न देखा रवां कभी ॥

जब सन् १९३५ ई० के लगभग भारतवर्ष में प्रगतिशील लेखकों का आन्दोलन शुरू हुआ तो बहुधा अच्छे और नौजवान कवि और लेखक किसी न किसी प्रकार उसमें सम्मिलित हो गए। बहुत से पुराने लेखकों ने भी उसका समर्थन किया। टैगोर, पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अब्दुल हक़, आचार्य नरेन्द्र देव, मिसेज़ नायडू और प्रेमचन्द सभी प्रथम श्रेणी के विचारकों ने यह आशा प्रगट की कि भारतवर्ष जिस आर्थिक दुर्दशा और मानसिक दासता में फंसा हुआ है उस से छुटकारा पाने के लिए यह नया आन्दोलन जो साहित्य को जनता के निकट लाना चाहता है, एक आवश्यक और सुलभ क़दम होगा। अंग्रेज़ी राज्य, उसके भक्तों और रूढ़िवादियों के अतिरिक्त, किसी ने उसका विरोध नहीं किया। विरोध करने वालों एवं रूढ़िवादियों और प्रतिक्रियावादियों में कौन लोग थे? सामन्ती युग से चिमटे हुए लोग पूंजीपति और सामूहिक जन-चेतना के विरोधी। अच्छे कवियों और लेखकों ने इस आन्दोलन में एक नई शक्ति और नया प्रकाश देखा और अभी जिनका उल्लेख हुआ उनमें से कई प्रगतिशील लेखकों के सहायक ही नहीं वरन पथ-प्रदर्शकों में गिने जाते हैं, जैसे "जोश" और "फ़िराक़", पर कुछ कवि लेखक ऐसे भी हैं जो प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप पैदा हुए और साहित्य-क्षेत्र में अपनी जगह बना सके। उनका कोई भूत-काल नहीं था, उन्हें जो कुछ बनाया इसी आन्दोलन ने बनाया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि अब जिन कवियों का उल्लेख होने जा रहा है वह सब के सब पूर्णतयः प्रगतिशील हैं या प्रगतिशील लेखक संघ के सभी आदर्शों का प्रतिपालन करते हैं। ऐसा समझना बड़ी भूल होगी। इस संघ को भारतीय जीवन के उन्नतिशील विचारों का केन्द्र बनते देख

१—बन्दी, २—घोंसले की खोज में लग जाना, ३—स्नेह-पूर्ण दृष्टि।

कर बहुत से ऐसे लेखक भी इसमें सम्मिलित हो गए जो मध्यम वर्ग की दुश्चिन्ताओं में घिरे हुए थे और अपनी व्यक्तिवादिता को एक नया क्षेत्र देने के लिए इसे एक नवीन आन्दोलन समझकर इसके संग हो गए थे। कुछ तो ऐसे थे जो प्रतीकवाद, अस्पृष्टवाद और प्रयोगवाद तथा अन्य विचारों को प्रयोगशीलता समझ कर इसमें आए थे और उनके सम्मुख कोई सामाजिक सिद्धान्त न था। इस संक्षिप्त पुस्तक में प्रत्येक कवि और लेखक के विचार और उसकी चेतना के अस्त्र, उसके वर्ग सम्बन्ध और उसके दृष्टिकोण की आलोचना असम्भव है। यहाँ केवल उनकी कुछ रचनाओं और एक आध विशेषताओं की ओर संकेत किया जा सकेगा।

प्रगतिशील आन्दोलन की नींव उत्तर प्रदेश में पड़ी पर जंगल की आग की तरह इसका प्रकाश सारे देश में फैल गया। जहाँ तक उर्दू साहित्य का सम्बन्ध है लाहौर, दिल्ली, बम्बई, पटना, हैदराबाद और यू० पी० के अन्य नगर इसका केन्द्र बन गए। इसमें संदेह नहीं कि इस संघ में ऐसे लेखकों का भी अभाव न था जो केवल नवीनता, प्रयोग और वास्तविकता के नाम पर इसे अश्लीलता का माध्यम बनाना चाहते थे। जनता की दुर्दशा और पुनरुत्थान की ओर से उन्होंने आँखें बन्द कर रखी थीं। इस प्रकार हम यह भी देखेंगे कि कई महत्वपूर्ण लेखक और कवि जो प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भिक जीवन में एक लेखक होने के नाते एक प्रभावशाली जगह रखते थे, धीरे २ उससे दूर होते गए, जैसे डा० तासीर, अहमद अली, अहमदशाह बुखारी "पतरस", अख़तर राए पुरी और दूसरे लोग। इन सबके यहाँ एक प्रकार की संकीर्णता पैदा हो गई और यह प्रगतिशीलों के साथ नहीं रहे। इस स्थान पर उन सभी का उल्लेख होगा जो आज के लेखकों में गिने जाते हैं।

पंजाब के प्रसिद्ध कवि और लेखक "फ़ैज़" प्रगतिशील लेखकों में बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं। इस समय (१९५४) तो वह पाकिस्तान राज्य के बन्दी हैं पर पहिले वह कालिजों में अध्यापक, सेना में मेजर और पत्रिकाओं के सम्पादक रह चुके हैं। वह सदैव विभिन्न प्रगतिशील आन्दोलनों में भाग लेते रहें हैं और वहीं से प्रेरणा लेकर बड़ी निर्भीकता किन्तु सुन्दरता से जनतन्त्र, विचार स्वतंत्रता और शान्ति के समर्थन में कविताएं और लेख लिखते रहे हैं। उनके दो काव्य-संग्रह, "नक़्शे-

फ़रियादी" और "दस्ते-सबा" प्रकाशित हो चुके हैं जो बहुत लोक-प्रिय हैं। उनकी ध्वनि में प्राचीन कवियों की गंभीरता और कलात्मक निपुणता भी मिलती है और नए जीवन की व्याकुलता और क्रांतिकारी उत्साह भी। उन्होंने तुकान्त परम्परा से केवल उतना ही हटने की कोशिश की है जितना अपने विचारों को प्रगट करने के लिए आवश्यक समझा है। उन्होंने अपना समय प्रयोगों में व्यतीत नहीं किया पर जो कोई भी उनकी कविताएँ पढ़ेगा उसे एक करुणजनक, आशापूर्ण और शक्तिशाली नवीनता का अनुभव होगा, जो उनके सिवा और कहीं नहीं मिलती। उदाहरण के लिए यह छोटी सी कविता देखिए :—

फिर कोई आया दिलेज़ार[1] ! नहीं, कोई नहीं,
राहरो[2] होगा, कहीं और चला जाएगा।
ढल चुकी रात बिखरने लगा तारों का ग़ुबार[3],
लड़खड़ाने लगे ऐवानों[4] में ख़ाबीदा[5] चिराग़।
सो गई रास्ता तक-तक के हर इक राहगुज़ार[6],
अजनबी ख़ाक[7] ने धुंधला दिए क़दमों के सुराग़[8]।
गुल करो शमएँ, बढ़ा दो मयो-मीना-ओ-अयाग़[9],
अपने बेख़ाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल[10] करलो,
अब यहाँ कोई नहीं, कोई नहीं आएगा॥

असरारुलहक़ "मजाज़" प्रगतिशील कवियों में बड़े लोक-प्रिय हैं। उनकी आयु ४० वर्ष के लगभग है। अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त की और कुछ समय तक आल-इंडिया रेडियो में नौकर रहे पर जब प्रगतिशील आन्दोलन बढ़ा तो उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और पत्रिकाओं में लिखने लगे। उनकी कवितओं का संग्रह "आहँग" के नाम से कई बार प्रकाशित हो चुका है। यही संग्रह "शबताब" और "साज़े-नौ" के नाम से भी छपा है। आरम्भ में मजाज़ ने ग़ज़लें लिखीं पर शीघ्र ही अपना रास्ता ढूँढ लिया। उनकी कविता में प्रगति-

---

१—पीड़ित, २—पथिक, ३—धूल, ४—भवनों, ५—नींद के माते, ६—पथ चिन्ह, ७—अनजानी पृथ्वी, ८—चिन्ह, ९—शराब, बोतल, प्याला, १०—बन्द।

शील आन्दोलन के कई मोड़ मिलते हैं। आरम्भ में वह रोमानी थे और क्रान्ति के सम्बन्ध में भी उनका विचारधारा केवल रोमानी कल्पनाओं से संगठित हुई थी पर जैसे-जैसे प्रगतिशील लेखकों की चेतना बढ़ती गई मजाज़ भी आगे बढ़ते गए। मजाज़ को भारतवर्ष के जागते हुए नवयुवकों की आशाओं, कल्पनाओं और व्याकुल उमंगों का कवि कहा जा सकता है। उनकी शैली बड़ी प्रभावशाली, सरस और सबल है। अब वह कम लिखते हैं पर जो कुछ उन्होंने लिखा है वह बड़े उच्च-कोटि का है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता के कुछ छन्द देखिए :—

शहर की रात और मैं नाशादो-नाकारा[1] फिरूँ।
जगमगाती जागती सड़कों प आवारा फिरूँ।
ग़ैर[2] की बस्ती है कब तक दरबदर मारा फिरूँ।
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ, ऐ वहशते-दिल क्या करूँ॥

ये रुपहली छाँव ये आकाश पर तारों का जाल।
जैसे सूफ़ी का तसव्वुर[3], जैसे आशिक का ख़्याल।
आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल।
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ, ऐ वहशते-दिल क्या करूँ॥

इक महल की आड़ से निकला वो पीला माहताब।
जैसे मुल्ला का अमामा[4] जैसे बनिये की किताब।
जैसे मुफ़लिस[5] की जवानी, जैसे बेवा का शबाब।
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ॥

झिलमिलाते क़ुमक़ुमों की राह में ज़ंजीर सी।
रात के हाथों में दिन की मोहनी तस्वीर सी।
मेरे सीने पर मगर चलती हुई शमशीर सी।
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ, ऐ वहशते-दिल क्या करूँ॥

मुईन अहसन "जज़्बी", जो मजाज़ के समकालीन कवि हैं, इस समय अलीगढ़ विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं। आरम्भ में उन्होंने अपनी कविताएँ फ़ानी बदायूनी को दिखाईं और वही शोक-पूर्ण रंग

१—ग़मीन और बेकार, २—दूसरे, ८—ध्यान, ३—पवड़ी, ४—ज़ीन।

ग्रहण कर लिया पर प्रगतिशील लेखक संघ के सम्पर्क में आकर उनके विचारों में परिवर्तन हुआ, पर उससे निकट रहते हुए भी वह कला के सम्बन्ध में अपना एक अलग दृष्टिकोण रखते हैं। उन्होंने ग़ज़लें अधिक और दूसरे प्रकार की कवितायें कम लिखी हैं। उनकी रचनाऐं बड़ी मनोरंजक और भावपूर्ण होती हैं। वह मानव जाति की पीड़ा और वेदना को व्यक्ति की वेदना के रूप में बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत करते हैं। उनका काव्य-संग्रह "फ़रोज़ां" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। दो-चार शेर उदाहरण के लिए यहां दिए जाते हैं:—

जब किश्ती साबितो-सालिम[1] थी, साहिल[2] की तमन्ना किसको थी।
अब ऐसी शिकस्ता[3] किश्ती पर साहिल की तमन्ना कौन करे॥

× × ×

वही ज़िन्दगी मुसीबत, यही ज़िन्दगी मुसर्रत[4]।
यही ज़िन्दगी हक़ीक़त,[5] यही ज़िन्दगी फ़साना[6]॥

× × ×

अब कहाँ मैं ढूँढने जाऊँ सुकूँ[7] को ऐ ख़ुदा।
इन ज़मीनों में नहीं, इन आसमानों में नहीं॥

× × ×

न आए मौत ख़ुदाया तबाह-हाली[8] में।
ये नाम होगा ग़मे-रोज़गार[9] सह न सका॥

वर्तमान युग के एक बड़े क्रांतिकारी और कवि मख़दूम मुहीयुद्दीन हैदराबाद निवासी हैं। उस्मानिया युनिवर्सिटी में शिक्षा समाप्त करके वह एक कालिज में अध्यापक हो गए पर कुछ ही समय के बाद कम्युनिस्ट पार्टी का काम करने के लिए नौकरी छोड़ दी और अब एक

१—पूरी बनी हुई, २—तट, ३—टूटी हुई, ४—हर्ष, ५—सत्य, वास्तविकता, ६—कहानी, मिथ्या, ७—शान्ति, ८—दुर्दशा, ९—जीवन के दुख

बड़े क्रांतिकारी नेता हैं। आरम्भ में गद्य और पद्य दोनों में नाम पैदा किया था पर अब बहुत कम लिखते हैं। एक पुस्तक टैगोर पर और कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। मख़दूम की रचनाएं बड़ी चेतनापूर्ण, मनोहर और शक्तिशाली होती हैं। उनकी कला और क्रांति की दृष्टि में ऐसा सामंजस्य मिलता है कि उनकी चेतना की शक्ति प्रस्तुत हो जाती है। यह बात उनके काव्य-संग्रह "सुर्ख़ सवेरा" के अध्ययन से भली भाँति सिद्ध हो जाती है। उन्होंने कुछ छन्द-विहीन कविताएँ भी लिखी हैं। उदाहरण के लिए एक कविता के कुछ शेर देखिये जिसका शीर्षक "मशरिक़" (पूरब) है:—

झड़ चुके हैं दस्तो-बाज़ू[1] जिसके उस मशरिक़ को देख।
खेलती है साँस सीने में मरीज़े-दिक़ को देख॥
एक नंगी लाश बे-गोरो-कफ़न, ठिठरी हुई।
मग़रबी[2] चीलों का लुक़्मा[3] ख़ून मे लिथड़ी हुई॥
एक क़बरिस्तान जिसमें हूँ न हां कुछ भी नहीं।
एक भटकती रूह है जिसका मका कोई नहीं॥
इस ज़मीने-मौत-परवर[4] को ढाया जाएगा।
एक नई दुनिया, नया आदम[5] बनाया जाएगा॥

जाँनिसार अख़्तर जिनकी आयु इस समय लगभग ४० वर्ष है, अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त करके कई वर्ष तक ग्वालियर और भोपाल के कालिजों में अध्यापक रहे। उनके पिता "मुज़्तर" ख़ैराबादी भी बड़े अच्छे कवि थे। अख़्तर विद्यार्थी-जीवन में बड़ी मनोहर रोमानी कविताएँ लिखते थे और दूसरे नए कवियों की भांति वह भी क्रांति की ओर आए। उनका एक काव्यसंग्रह "सलासिल" के नाम से, शान्ति पर एक काव्य "अम्न नामा" प्रकाशित हो चुके हैं और दो प्रेस में हैं। उनकी कविताएँ सुन्दर और सजीव होती हैं। वह प्रगतिशील कवियों में एक उच्च स्थान रखते हैं और चेतना-पूर्वक लिखते हैं पर कुछ लोगों को उनमें उस शक्ति की कमी देख पड़ती है जो राजनीतिक विषयों पर लिखने के लिए आवश्यक है। एक कविता की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं:—

१—हाथ और बांह. २— यूरपी, ३— ग्रास, ४—मौत को पालने वाली ज़मीन, ५— मनुष्य

मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।
जो शाने पर बग़ावत का अलम लेकर निकलते हैं,
किसी ज़ालिम हुकूमत के धड़कते दिल प चलते है,
मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।
जो रख देते हैं सीना गर्म तोपों को दहानों पर,
नज़र से जिन के बिजली कौंदती है आसमानों पर,
मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।
झुलस सकते है जो शोलों से कुफ़रो-दी[1] की बस्ती को,
जो लानत[2] जानते है मुल्क में फ़िर्क़ा-परस्ती[3] को,
मैं उनके गीत गाता हूँ, मैं उनके गीत गाता हूँ।
वतन के नौजवानों मे नए जज़्बे जगाऊँगा,
मैं उनके गीत गाऊँगा, मैं उनके गीत गाऊँगा॥

अली सरदार जाफ़री वर्तमान युग के सबसे महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी कवि हैं। उन्हों ने कम्यूनिस्ट पार्टी के आदर्शों को अपना लिया है और साहित्य-रचना में उसी से काम लेते हैं। उन्हें प्रगतिशील आन्दोलनों में भाग लेने के कारण कई बार जेल जाना पड़ा। शिक्षा अलीगढ़, दिल्ली और लखनऊ में प्राप्त की। इधर कई वर्षों से बम्बई में रहते हैं। आरम्भ में उन्होंने कुछ रोमानी कविताएं लिखीं पर अब उनकी चेतना सभी सामाजिक और राजनीतिक विषयों को एक यथार्थवादी की दृष्टि से देखती है। उनकी इस चेतना का विकास राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी चेतना के साथ हुआ है और उसका एक अच्छा दर्पण है। मानव-प्रेम उनकी कविताओं से फूटा पड़ता है। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जाफ़री के शब्द और वाक्य एक ज्वालामुखी के समान फट पड़ते हैं। उनकी वर्ग-चेतना उनकी कविताओं में सच्चा ज़ोर भर देती है। उनके काव्य-संग्रह "ख़ून की लकीर", "एशिया जाग उठा", "अम्न का सितारा" और "पत्थर की दीवार" देखने योग्य हैं। उनका एक बड़ा काव्य "नई दुनिया को सलाम" के नाम से प्रकाशित हुआ है जो साम्राज्य विरोधी भावों से भरा

१—अधर्म और धर्म, २—धिक्कार, ३—साम्प्रदायिकता

हुआ है और मुक्त-छन्द के प्रयोग का एक बहुत सुन्दर उदाहरण माना जाता है। जाफ़री ने प्रगतिशील आन्दोलन पर एक आलोचनात्मक पुस्तक "तरक़्क़ी पसन्द अदब" के नाम से लिखी है जिस के और भाग अभी प्रकाशित होंगे। उनकी मुक्त-छन्द कविता का एक उदाहरण दिया जाता है:—

जाग हिन्दोस्तां अपने ख्वाबे-गिरां[1] से।
देख आज़ादी की सुबह का नूर फैला हुआ है।
तेरे बेटों के बिछड़े हुए लाल घर आ रहे हैं,
यह गुलामी की ज़ंजीर को तोड़ आए,
क़ैदखाने के दर खोल आए।
अपनी आग़ोश[2] में इनको बढ़ कर उठाले,
अपने दिल में बिठाले,
यह हिमाला है, यह विन्धयाचल है, यह नीलगीरी,
यह तेरे खेत हैं तेरे खलियान हैं,
तेरी कानें हैं यह, बाग़ हैं, यह तेरे कारखाने,
यह तेरे सब्ज़ो-शादाब[3] मैदां, यह हंसती हुई वादियां[4] हैं
यह तेरे साफ़ो-शफ़्फ़ाफ़[5] बहती हुई नदियां
तेरे गेंदे की पाली हुई बेटियां हैं
इनको अपने गले से लगाले
अपने पाकीज़ा[6] आंचल के नीचे छिपाले।

साहिर लुधियानवी, वर्त्तमान युग के प्रगतिशील और लोकप्रिय कवि हैं। वह भी उर्दू के बहुत से नौजवान कवियों की भाँति रोमान से क्रान्ति की ओर बढ़े हैं। उनकी आरम्भिक कविताओं में प्रेम और सुन्दरता का ऐसा रोचक और मनहरण वर्णन होता था कि पढ़ने वाले भी उनके संग रंगीनी में डूब जाते थे। उन्होंने प्रेम के सम्बन्ध में भी वर्ग-चेतना को सम्मुख रक्खा है और स्वछन्द प्रेम में जो सामाजिक बाधायें पड़ती हैं उनका उल्लेख बड़े करुण और व्यग-पूर्ण ढंग से किया है। अब वह अधिकतर क्रान्तिकारी और प्रगतिशील

१—गहरी नींद, २—गोदी, ३—हरे भरे, ४—घाटियां, ५—पारदर्शक, ६—पवित्र

कविताएँ लिखते हैं। उनकी उपमाएँ सुन्दर और उनके संकेत सूक्ष्म होते हैं। कला की दृष्टि से वह आधुनिक काल के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। उनका काव्य-संग्रह "तलख़ियाँ" कई बार प्रकाशित हो चुका है। कुछ समय से फ़िल्मी संसार ने उन्हें अपना लिया है और उनकी रचनाएं कम देखने में आती हैं। उदाहरण के लिये उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां दी जाती है:—

जिहाद[1] ख़त्म हुआ दौरे-आश्ती[2] आया।
संभल के बैठ गये महमिलो[3] में दीवाने॥

हुजूमे तशना-लबाँ[4] की निगाह से ओझल।
छलक रहे हैं शराबे-नफ़्स[5] के पैमाने॥

यह जश्न, जश्ने - मूसर्रत[6] नहीं तमाशा है।
नए लिबास में निकला है रहज़नों[7] का जुलूस॥

हज़ार शमए-उख़ूवत[8] बुझा के चमके हैं।
यह तीरगी[9] के उभारे हुए हसीं फ़ानूस[10]॥

अहमद नदीम क़ासिमी पंजाब के एक बड़े प्रगतिशील कथाकार और कवि हैं। उन्होंने पंजाब के देहातों का चित्रण अपनी कहानियों और कविताओं में बड़े सुन्दर रूप से किया है। उनकी काव्य-शैली बड़ी सजीव और उनके शब्द बड़े मीठे लगते हैं। आरम्भ में उन्होंने शृंगार रस को ही अपनाया पर धीरे-धीरे देश की राजनीतिक चेतना से प्रभावित होकर वह विचारशील और प्रगतिशील कविताएं लिखने लगे। उनकी सुन्दर कविताएं मानव-प्रेम की भावना जगाती हैं और भविष्य के सुन्दर स्वप्नों का चित्रण करती हैं। उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें "जलालो-जमाल" और "शोलए-गुल" प्रसिद्ध हैं। एक कविता की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए देखिये :—

१—युद्ध २—शान्ति युग ३—सवारी का हौदा ४—प्यासों की भीड़ ५—स्वार्थ की मदिरा ६—खुशी का समारोह ७—डाकू ८—भाई-चारे का दीपक ९—अंधेरा १०—ग्लोब

ख़यालो-ख़ाब[1] की दुनियाँ से भाग आया हूँ।
जवानियों के चमनज़ार[2] त्याग आया हूँ।
मैं बनके राग गया, होके आग आया हूं॥

शफ़क में डूबे हुए पर्वतों प घूम चुका।
हवा में खोई हुई रागनी प झूम चुका॥
गुलों के भीगे हुए आरिज़ों[3] को चूम चूका॥

बस अब उलट के रहूँगा ये पर्दाहाए-क़दीम[4]।
कि आम हो न सकी तेरी रहमतों[5] की शमीम[6]।
कोई पुकार रहा है मुझे नदीम! नदीम!॥

मैं आरज़ू[7] को हक़ीकत बनाके दम लूँगा।
मैं अपनी ख़ाक से नकहत[8] बनाके दम लूँगा।
तेरे जहान को जन्नत बनाके दम लूँगा॥

"कैफ़ी" आज़मी एक लोकप्रिय, प्रगतिशील और क्रांतिकारी कवि हैं। उनके दो संग्रह "झंकार" और "आख़िरे-शब" प्रकाशित हो चुके हैं जिनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने श्रंगार-रस में डूबी हुई कविताएं लिखी हैं और फिर चेतना-पूर्वक राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के गीत गाने लगे। अब वह साम्यवाद के बहुत बड़े प्रचारक हैं और अपनी कविताओं में कलात्मक ढंग से क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने देश-विदेश में होनेवाली कई घटनाओं पर भी बड़ी रोचक और प्रभाव-शाली कविताएं लिखी हैं। जनता के दुःख-सुःख को उन्होंने अपनी कविताओं में इस प्रकार समोया है कि कला और विषय एक हो जाते हैं। उनकी एक सुन्दर कविता के कुछ शेर देखियेः—

कली का रूप, फूल का निखार लेके आई थी।
वह आज कुल ख़ज़ानऐ-बहार लेके आई थी॥

तमाम रात जागने के बाद चश्मे-मस्त[9] में।
यक़ी का रस, उमीद का ख़ुमार लेके आई थी॥

१—कल्पना और स्वप्न, २—बाटिकाएं, ३—कपोलों, ४—पुरानी बाधायें, ५—दया, ६—सुगन्ध, ७—इच्छा, ८—सुगन्ध, ९—मतवाली आंख

बसन्ती सारी में छिपा हुआ सा वह जवाँ बदन।
जवाँ बदन प रेशमी बहार लेके आई थी॥
वह संदली कलाइयाँ, वह सब्ज़ो-सुर्ख चूड़ियाँ।
सोहाग लेके आई थी, सिंगार लेके आई थी॥
मेरी उजाड़ ज़िन्दगी की चिलचिलाती धूप में।
वह गेसुओं का अबरे-इत्बार[1] लेके आई थी॥
उदास-उदास ज़ीस्त[2] को सुना रही थी बाँसुरी।
घुटे-घुटे सुकूत[3] में सितार लेके आई थी॥

नए क्रान्तिकारी कवियों में "मजरूह" सुल्तानपूरी भी बड़े प्रिय लोक कवि हैं। अन्य प्रगतिशील कवियों की भाँति वह भी रोमानी आदर्शों से क्रान्ति की ओर आये हैं। उन्होंने अधिकतर गज़लें ही लिखी हैं जिनका एक छोटा सा संग्रह "ग़ज़ल" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। वह भी अधिकतर फ़िल्मों के लिये गीत लिखते हैं पर उनकी ग़ज़लें साहित्यिक महत्व रखती हैं। उनमें रसीलेपन के साथ-साथ प्रगतिशीलता भी मिलती है। उनके यह शेर उदाहरण के लिये देखिए :—

दुशमन की दोस्ती है अब अहले-वतन[4] के साथ।
है अब ख़िज़ां चमन में नए पैरहन[5] के साथ॥
सर पर हवाए-ज़ुल्म चले सौ जतन के साथ।
अपनी कुलाह[6] कज है उसी बांकपन के साथ॥
बह कर ज़मीं प है अभी गर्दिश में ख़ूं मेरा।
क़तरे वह फूल बनते हैं खाके-वतन के साथ।
किसने कहा कि टूट गया ख़नजरे-फ़िरंग।
सीने प ज़ख्मे-नौ[7] भी है दागे़-कुहन[8] के साथ॥

"शमीम" करहानी नए कवियों में एक ऊँचा स्थान रखते हैं। यह आज़मगढ़ (उ० प्र०) के रहनेवाले हैं। कुछ समय तक धार्मिक और रोमानी कविताएं लिखते रहे, फिर देश के राष्ट्रीय आन्दोलन से

१—सुगन्ध बरसानेवाले बादल, २—जीवन ३—मौनता, ४—देश निवासी, ५—पहनावा, वस्त्र, ६—टोपी, ७—टेढ़ी, ८—नया घाव, ९—पुरानी चोट।

प्रभावित होकर राजनीतिक और क्रान्तिकारी कविताएँ लिखने लगे। वह अपनी रचनाओं में कभी कभी हिन्दी के शब्द बड़ी सुन्दरता से लाते हैं। इस समय तक उनके तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं, "बर्क़ो-बाराँ", "रोशन अँधेरा" और "तराने"। कुछ समय से वह राष्ट्र के स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास एक विशाल प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिख रहे हैं। उनके एक राष्ट्र-गान के कुछ शेर देखिए:—

हम काम के नग़मे गाते हैं, बेकार तराना क्या जानें।
जो सिर्फ़ अमल के बन्दे हैं, वह बात बनाना क्या जानें॥
रग-रग में लहू को गरमाते, जाते हैं वतन की जय गाते।
हम अहदे-जवानी के माते, बूढ़ों का ज़माना क्या जानें॥
तूफ़ान में किश्ती खेते हैं, कुहसार[1] से टक्कर लेते हैं।
हम जंग में सर दे देते हैं, हम पांव हटाना क्या जानें॥
बेखौफ़ चलें संगीनों पर, और रोक लें गोली सीनों पर।
लिक्खा है हमारी जबीनों[2] पर, हम सर को झुकाना क्या जानें॥

बालमुकुन्द "अर्श" मलसियानी, पंडित लब्भूराम 'जोश' के सुपुत्र और स्वयं एक अच्छे कवि हैं। उनकी कविता में पुराने और नए का परामर्श होता है। सच्चाई और सादगी उनकी रचनाओं में मूल रूप से दिखाई पड़ती हैं। वह बड़ी निपुणता से गीत, ग़ज़ल और नज़्म सभी लिख सकते हैं। उनकी कविताओं के दो संग्रह प्रसिद्ध हैं, "हफ़्त रंग" और "चङ्गा-आहङ्ग"। उनकी एक ग़ज़ल के कुछ शेर देखिए :—

जिस ग़म से दिल को राहत[3] हो, उस ग़म का मदावा[4] क्या मानी।
जब फ़ितरत तूफ़ानी ठहरी, साहिल[5] की तमन्ना क्या मानी॥
राहत में रंज की आमेज़िश[6], इशरत[7] में अलम[8] की आलाइश[9]।
जब दुनियाँ ऐसी दुनियाँ है, फिर दुनिया दुनिया क्या मानी॥
खुद शेखो-बरहमन मुजरिम हैं, एक जाम[10] से दोनों पी न सके।
साक़ी की बुख़ल-पसन्दी[11] पर, साक़ी का शिकवा क्या मानी॥

१—पर्वत, २—माथे, ३—आनन्द, ४—चिकित्सा, ५—किनारा, ६—मिलावट, ७—आराम, ८—दुःख, ९—मिलावट, १०—प्याला, ११—कंजूसी

जगन्नाथ 'आज़ाद' भी पंजाब के प्रसिद्ध नौजवान कवि हैं। वह भी उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि तिलोकचन्द "महरूम" के सुपुत्र हैं। भारतवर्ष का बटवारा होने के पश्चात् उनकी कविता में एक ऐसी करुण भावना पैदा हुई जो उनकी रचनाएँ पढ़ने वाले को बहुत प्रभावित करती हैं। उनकी शैली पर थोड़ा-बहुत डा० इक़बाल का असर देख पड़ता है। उनके दो संग्रह "बेकरां" और "सितारों से ज़र्रों तक" प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके अध्ययन से उनके प्रगतिशील विचारों और मानव-प्रेम का अनुभव होता है। उनके भी कुछ शेर उदाहरण के लिये नीचे दिए जाते हैं—

बस एक नूर[1] झलकता हुआ नज़र आया।
फिर उसके बाद न जाने चमन प क्या गुज़री॥

मैं काश तुमको भी अहले-वतन बता सकता।
वतन से दूर किसी बे-वतन प क्या गुज़री॥

मेरे चमन में भी आई तो थी बहार मगर।
मैं क्या बताऊँ कि अहले-चमन प क्या गुज़री॥

खामोश क्यों है "क़तालो-नदीम"[2] कुछ तो कहें।
हमारे बाद हमारे वतन प क्या गुज़री॥

अख़्तर अन्सारी कवि, आलोचक और कथाकार तीनों रूपों में एक ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुके हैं। वह आरम्भ में शेली और कीट्स से प्रभावित हुए और अपनी रचनाओं में नैराश्य और करुणा-जनक भावों का प्रचार करते थे। परन्तु प्रगतिशील आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने भी अपनी कविता को सामाजिक और राजनीतिक चेतना पैदा करने के काम में लगा दिया। उनकी रसीली, मधुर और भावपूर्ण वाणी में बड़ा ज़ोर होता है। उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से "आबगीने" और "रूहे-अस्र" प्रसिद्ध हैं। उनकी दो छोटी-छोटी कविताएँ देखिये—

दिल को बर्बाद किये जाती है।
ग़म बदस्तूर दिये जाती है॥

१—प्रकाश, २— क़तील और नदीम पाकिस्तान के प्रसिद्ध कवि हैं।

मर चुकीं सारी उम्मीदें अस्तर ।
आरज़ू है कि जिये जाती है ॥

× × ×

ख़ूं भरे जाम उँडेलता हूँ मैं ।
टीस और दर्द झेलता हूँ मैं ॥
तुम समझते हो शेर कहता हूँ मैं ।
अपने ज़ख्मों से खेलता हूँ मैं ॥

जिन कवियों ने बहुत थोड़े समय में नाम पैदा किया है उनमें एक "वामिक" जौनपुरी भी हैं। उन्होंने गम्भीरता पूर्वक काव्य-रचना पिछले युद्ध के बीच में आरम्भ की। इसलिए उन पर समकालीन चेतना का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उन्होंने अधिकतर राजनैतिक और प्रगतिशील कवितायें लिखी हैं। वह कभी-कभी मुक्त छन्द और जनता की बोली में लिखने का प्रयोग भी करते हैं। उनके दो काव्य-संग्रह "चीखें" और "जरस" प्रकाशित हो चुके हैं। पहले संग्रह में सभी रचनाएँ १९४७ ई० के हिन्दू-मुस्लिम दंगों और गांधी जी की हत्या से प्रभावित होकर लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शेर देखिए:-

सुर्ख दामन में शफ़क़ के कोई तारा तो नहीं ।
हमको मुस्तक़बिले-ज़र्रीं[1] ने पुकारा तो नहीं ॥
दस्तो-पा[2] शल[3] हैं, किनारे से लगा बैठा हूँ ।
लेकिन इस शोरिशे-तूफ़ान[4] से हारा तो नहीं ॥

× × ×

दीवाने दीवाने ठैरे खेल गए अंगारों से ।
आबला-पाई[5] अब कोई पूछे इन जेहनी[6] बीमारों से ॥
किसने बसाया था और इनको किसने यूं बरबाद किया ।
अपने लहू की बू आती है, इन उजड़े बाज़ारों से ॥

१—सुनहरा भविष्य, २—हाथ-पांव, ३—टूटे हुए ४—तूफ़ान का जोश, ५—पांव में छाले पड़ना, ६—मानसिक ।

इस समय तक जिन कवियों का उल्लेख हुआ है उनमें से कई ऐसे हैं जिन्होंने छन्दों में प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में "राशिद", "मीराजी", "ख़ालिद", "सलाम" और कुछ दूसरे कवियों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने उर्दू के प्राचीन काव्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन किए, विचारधारा को सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने के लिये बहुत-सी बाधाएँ तोड़ दीं और मुक्त छन्दों का प्रयोग किया। आरम्भ में इस नीति का कड़ा विरोध हुआ पर धीरे-धीरे बहुत से नए कवियों ने इसे ग्रहण कर लिया। एक बात याद रखना आवश्यक है कि इसी नए प्रयोग के द्वार से होकर अश्लीलता, अस्पष्टवादिता और प्रतिक्रियावाद के विचार कविता में प्रवेश कर गए। बहुत से लोगों ने इसको प्रगतिशील कवियों का आन्दोलन समझ कर इसकी कड़ी आलोचना की। पर सत्य यह है कि प्रगतिवादियों ने यदि मुक्त छन्द का प्रयोग किया भी तो प्रगतिशील विचारों के लिए। इसके विपरीत प्रतिक्रियावादी कवियों ने अपने छिपे हुए, नग्न और अश्लील विचारों के प्रचार के लिये इसका प्रयोग किया। इसमें संदेह नहीं कि इस समय के कई कवि फ्रांस और अमरीका के पलायनवादी कवियों से प्रभावित थे। यह बताना असम्भव है कि उर्दू में मुक्त छन्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया; पर यह विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि राशिद और मीराजी इस रंग के दो बड़े कवि हैं और उन्होंने इसे फैलाने की सबसे अधिक चेष्टा की। राशिद, मीराजी से अधिक प्रगतिशील हैं और कभी-कभी सामाजिक और राजनीतिक विषयों की ओर भी संकेत करते हैं। पर मीराजी तो एकमात्र फ्राएड (Freud) के शिष्य थे और अपनी कविताओं, सुन्दर गीतों और गूढ़ लेखों में उसी के विचारों का प्रचार करते थे। राशिद का केवल एक संग्रह "मावरा" प्रकाशित हुआ है। मीराजी की कई पुस्तकें छप चुकी हैं जिनमें "गीत ही गीत" और "मीराजी की नज़्में" प्रसिद्ध हैं। अभी कुछ समय पहले तक बहुत से नए कवि अस्पष्टवादिता के चंगुल में फंसे हुए थे पर अब धीरे-धीरे उनके विचार नई सामाजिक चेतना के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत कर रहे हैं। सलाम मछलीशहरी उर्दू के एक अच्छे कवि हैं। हिन्दी शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से करते हैं और अपनी रचनाओं में एक ऐसी नवीनता पैदा कर देते हैं जो उनके व्यक्तित्व

का पता देती है। उनके तीन संग्रह "मेरे नग़मे" "वसअतें" और "पायल" हमारे सामने हैं।

इस संक्षिप्त इतिहास में आधुनिक काल के कई बड़े अच्छे कवियों का उल्लेख नहीं हो सका। इसका कारण केवल जगह की कमी है। सम्भव होता तो आले अहमद "सुरूर", "वज्द" हैदराबादी (लहू तरंग, आफ़ताबे-ताज़ा), "ताबां" (साज़े-लरज़ाँ), जवाद जौदी, (रंगे-संग) ज़हीर काश्मीरी (अज़मते-आदम), क़तील शिफ़ाई (हरियाली, गजर), गोपीनाथ "अम्न," विशेशर प्रसाद "मुनव्वर" (कुमार संभव), अख़्तरुल-ईमान (सवरंग, तारीक सय्यारा), जमील मज़हरी (नक़्शे जमील) मख़मूर जालन्धरी (जलवागाह, तलातुम), फ़िक्र तौंसवीं (हयूले), नरेश कुमार "शाद" (दस्तक, आहटें) अदम (ख़राबात, पेचोख़म) शाद आरफी, नियाज़ हैदर, ख़लीलुर-रहमान आज़मी, मासूम रज़ा "राही", बाक़र मेहदी, मसूद अख़्तर जमाल, परवेज़ शाहिदी, फ़ारिग़ बुख़ारी, इज़तिबा रिज़वी (शोलए-निदा) का उल्लेख किया जाता। ऊपर भी जिनका वर्णन हुआ है वह न तो उनका पूर्ण परिचय है न उनकी आलोचना। पर इससे अधिक सम्भव न था।

जिस पाठक ने पिछले कुछ पन्नों को विचारपूर्वक पढ़ा होगा उसे यह अनुमान लगाना आसान होगा कि उर्दू कविता की गति भारतवर्ष की अन्य भाषाओं की कविताओं से कुछ अधिक विभिन्न नहीं है। वह सारी धाराएँ जो आज मानव जाति के धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक और मानसिक जीवन में ऊँची-नीची लहरें उठा रही हैं उन सब का उल्लेख इन कवियों ने किया है। कुछ हैं जिनकी चेतना क्रान्तिकारी है, कुछ हैं जो केवल नवीनता को प्रगतिशीलता और आधुनिकता समझते हैं, कुछ हैं जो अपने वर्ग से टूट कर उस वर्ग में सम्मिलित हो गए हैं जिसे वह भविष्य का निर्माता समझते हैं और कुछ हैं जो अभी बीच में खड़े अपना पथ ढूँढ़ रहे हैं। इन कवियों में ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने अस्थाई और समयकालीन घटनाओं तथा विचारों को काव्य का विषय बनाया है और ऐसे भी हैं जो कविता को केवल शाश्वत भावों तक सीमित रखना चाहते हैं। कुछ मार्क्स (Marx) के उपासक है कुछ फ्रायड (Freud) के और कुछ दोनों में समन्वय चाहते हैं। इस प्रकार

१ कोष्ठक में केवल प्रसिद्ध काव्य संग्रहों के नाम दिये गये हैं।

उर्दू काव्य-रचना में विभिन्न शैलियाँ, चेतना के विभिन्न अस्त्र और विभिन्न रूप मिलते हैं। भविष्य क्या जान पड़ता है, इसकी ओर इस अध्याय के अन्त में संकेत किया जायगा।

कविता के अतिरिक्त उर्दू में गल्प-साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। संकेत किया जा चुका है कि नई कहानियाँ लिखने का आरम्भ पश्चिम के प्रभाव से बीसवीं शताब्दि में हुआ। पिछले अध्यायों में कुछ का परिचय भी दिया जा चुका है किन्तु वास्तव में कहानी को साधारण जीवन के सम्पर्क में लाने का काम प्रेमचन्द ने किया। इसीलिए हम प्रेमचन्द को उन साहित्यकारों की सभा में बड़े ऊँचे स्थान पर बिठाते हैं जो आज जीवन के बहुमुखी संघर्ष को अपनी रचनाओं में दिव्य रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। आज के कथाकारों की चेतना का विकास भी उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कवियों का, इसलिए उस सामाजिक पृष्ठभूमि को फिर से प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं जिसका उल्लेख हो चुका है। और न यही बताना आवश्यक है कि कहानी लिखने वालों में भी हर वर्ग और हर विचार के लोग हैं और उनके विचारों के श्रोत इतने विभिन्न हैं कि सब का वर्णन नहीं हो सकता। केवल कुछ प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू दोनों में सामान्य रूप से परिचित हैं। उनका नाम धनपतराय था और वह १८८० ई० में बनारस के निकट एक गाँव में पैदा हुए। उनका परिवार कायस्थों का एक साधारण परिवार था। इसलिए उनकी शिक्षा ठीक से न हो सकी। प्रेमचन्द ने अपनी लगन से थोड़ी उर्दू-फ़ारसी पढ़ ली और कुछ समय बाद इन्ट्रेंस की परीक्षा पास करके शिक्षा-विभाग में छोटी सी नौकरी कर ली। धीरे धीरे प्राइवेट बी० ए० तक की उपाधि प्राप्त कर ली और डिप्टी-इन्सपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स हो गए। सन् १९२१ ई० में, जब स्वतंत्रता आन्दोलन बढ़ा तो उन्होंने भी नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह साहित्य-निर्माण में लग गए। उनका स्वास्थ्य सदैव ख़राब रहता था, फिर भी वह अपने जीवन का अधिकतर समय लिखने-पढ़ने में ही बिताते थे। उन्होंने लिखना तो सन् १८९८ ई० से ही आरम्भ कर दिया था पर उनकी कहानियों का पहिला संग्रह "सोज़े-वतन" प्रकाशित हुआ तो उस पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया और उसका ढेर का ढेर उनकी

आँखों के सामने ही जला दिया गया। उस समय सरकारी नौकर होने के कारण वह "नव्वाबराय" के फ़रज़ी नाम से लिखा करते थे, पर सरकारी गुप्तचरों ने इसका पता लगा लिया। कुछ समय बाद उन्होंने यह नाम छोड़ दिया और प्रेमचन्द के नाम से हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखने लगे। अन्य पत्रिकाओं में काम करने के पश्चात् उन्होंने "हंस" के नाम से स्वयं एक प्रगतिशील पत्रिका निकाली और एक प्रेस स्थापित कर लिया। अपना आर्थिक संकट दूर करने के लिये कुछ दिन फ़िल्मी संसार की हवा भी खाई पर उनका जीवन कभी बहुत सुख से नहीं बीता, यहाँ तक कि सन् १९३६ ई० में उनका देहान्त हो गया।

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में उर्दू में कम और हिन्दी में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस स्थान पर केवल उनकी कहानियों की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत किया जायगा जिनके बहुत से संग्रह बारम्बार प्रकाशित हो चुके हैं। जिस लेखक के साहित्यिक जीवन का आरम्भ इस प्रकार हो कि उसका पहिला संग्रह जला दिया जाय उसके सम्बन्ध में यह समझना कुछ कठिन नहीं रह जाता कि वह उन परिस्थितियों को बदलना चाहता था जो निम्न वर्ग के हित में नहीं थीं और जो स्वाधीनता के बिना बदली भी नहीं जा सकती थीं। गाँव के एक दीन परिवार में जन्म लेकर और परिश्रम का जीवन बिताकर प्रेमचन्द ने साहित्य में उन साधारण लोगों को जगह दी जिन्हें अच्छे-अच्छे लेखक साहित्य का पात्र नहीं बना सके थे। वह किसानों, ज़मींदारों, छोटे-छोटे उद्योग-धन्धा करनेवालों, अछूतों, धर्मरक्षकों, बने हुए नेताओं, सभी से भलीभाँति परिचित थे और उनकी विवेचना से उन्होंने अपने अनुभवों की झोली भर ली थी। इन साधारण लोगों को वह अपनी कहानियों में इस प्रकार लाते थे जैसे वह जीवन क्षेत्र में चलते-फिरते थे। प्रेमचन्द जो कुछ लिखते थे उसका एक उद्देश्य था और वह इस बात को कला-निर्माण के विरुद्ध भी नहीं समझते थे। अपने सभी लेखों में उन्होंने देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करके सुधार और परिवर्त्तन का मार्ग दिखलाने की चेष्टा की है। इसीलिये कला की दृष्टि से वह यथार्थवादियों में बड़ा उच्च स्थान रखते हैं। जीवन के जैसे सुन्दर और सच्चे चित्र, मनोभावों का आन्तरिक संघर्ष और उसके फलस्वरूप नर-नारियों के

हार्दिक भेद जिस प्रकार उनके यहाँ खुलते हैं, दूसरे लेखकों के यहाँ वह इस सफलता के साथ नहीं मिलते। वह अपनी रचनाओं में सदैव स्वतंत्रता, न्याय और प्रगति का साथ देते हैं, इसीलिए प्रगतिशील लेखक उन्हें केवल एक महान् कलाकार ही नहीं मानते वरन् अपना नेता भी समझते हैं। यदि उनके लेखों का अध्ययन ऐतिहासिक रूप से किया जाए तो अनुभव होगा कि वह सुधार-वाद से क्रान्ति की ओर और गाँधीवाद की आदर्शता से यथार्थवाद की ओर बड़े वेग से बढ़ रहे थे और जो कोई उनकी अन्तिम रचनाएँ पढ़ेगा उसे यह मानने में संकोच नहीं होगा कि वह प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके विचारों में वह त्रुटियाँ भी थीं जो समकालीन चेतना का अंश बनी हुई थीं इसीलिए कहीं-कहीं एक प्रकार की आदर्शवादिता उनकी वास्तविकता को दबा लेती है।

प्रेमचन्द ने आरम्भ में जो कुछ लिखा उर्दू ही में लिखा। उनकी भाषा इतनी सुन्दर, सरल और भावपूर्ण होती थी कि उर्दू के सभी आलोचकों ने उसे सराहा है। वह शब्दों के उचित प्रयोग से ऐसा वातावरण तैय्यार कर लेते थे जो कहानी के प्रभाव को बहुत बढ़ा देता था। भारत की आत्मा, ग्राम्य जीवन के जैसे सुन्दर चित्र उन्होंने खींचे हैं उसकी तुलना किसी और लेखक से नहीं की जा सकती। उर्दू में उनके जो संग्रह छपे उनके नाम यह हैं, "सोज़े-वतन," "प्रेम पचीसी," "प्रेम बत्तीसी," "प्रेम चालीसी," "वारदात," "ज़ादे राह," "ख़ाबो-ख़याल," "ख़ाके परवाना," "आख़िरी तोहफ़ा," "देहात के अफ़साने" और "दूध की क़ीमत"। उनकी कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो अभी तक उर्दू के किसी भी संग्रह में सम्मिलित नहीं हुई हैं।

प्रेमचन्द ने उर्दू साहित्य में साधारण जन-जीवन के चित्रण की जो परम्परा चलाई थी वह थोड़े ही समय में बड़ी लोकप्रिय सिद्ध हुई और वह सभी लेखक जो ग्राम्य जीवन से परिचित थे उसी आधार पर चलने लगे। चुनांचे सुदर्शन, आज़म करेवी, अली अब्बास हुसैनी, उपेन्द्र नाथ "अश्क" इत्यादि पर उनका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें से हर एक ने अपने लिए अलग-अलग मार्ग बना लिए पर इनको प्रेरणा प्रेमचन्द ही से मिली।

अली अब्बास हुसैनी ग़ाज़ीपुर के रहने वाले हैं और अभी कुछ

समय पहले तक उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में प्रिन्सिपल थे। उन्होंने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व लिखना आरम्भ किया और इस समय तक बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कर चुके हैं। नाटक, उपन्यास और आलोचना में भी उनकी एक जगह है पर उनका मूल अधिकार कहानियों पर ही है। उनकी भाषा सरल, मीठी और प्रवाह-पूर्ण है। उनको हार्दिक और भावपूर्ण पात्रों के चित्रण में विशेष निपुणता प्राप्त है। उनकी प्रकाशित पुस्तकों में "रफ़ीक़े-तनहाई", "बासी फूल", "आई० सी०एस", "कुछ हंसी नहीं है" और "मेला घूमनी" बहुत लोकप्रिय हैं। उनके उपन्यासों में "शायद कि बहार आई" (जो हिन्दी में "कोमल नगरी" के नाम से छपा है) बहुत सुन्दर समझा जाता है। उन्होंने उर्दू उपन्यास का एक आलोचनात्मक इतिहास भी लिखा है जिसका नाम "उर्दू नाविल को तारीख़ और तनक़ीद" है। हुसैनी की प्रगतिशीलता उनके मानव प्रेम और सहृदयता से उत्पन्न होती है। आरम्भ में वह केवल आदर्शवादी जीवन-सुधार पर निर्धारित कहानियाँ लिखते थे, धीरे-धीरे राष्ट्रीयता और जनसाधारण की आर्थिक दुर्दशा उनकी कहानियों में जगह पाने लगीं। उनकी चेतना प्रेमचन्द की भाँति राजनीतिक नहीं है फिर भी वह अपनी सुन्दर शैली और मधुर शब्दावली के कारण बहुत बड़े कहानीकार समझे जाते हैं।

इस युग के दूसरे लिखने वालों में आज़म करेबी, मजनूं गोरखपूरी, ल० अहमद अकबराबादी इत्यादि भी प्रसिद्ध लिखने वालों में से हैं। पर इस समय उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता।

सन् १९३६ ई० में भारतवर्ष के प्रगतिशील लेखकों ने अपनी संस्था बनाई पर उससे कुछ समय पहिले ही राजनीतिक जाग्रति के बढ़ जाने और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों के फैल जाने के कारण कई नवयुवकों ने साहित्य में भी चेतनापूर्वक क्रांति पैदा करने के विचार प्रगट किये चुनांचे सज्जाद ज़हीर, रशीद जहां, अहमद अली और महमूदुज़-ज़फर ने अपनी कुछ कहानियों का एक संग्रह "अंगारे" के नाम से सन् १९३३ ई० में लखनऊ से प्रकाशित कराया। यह बम के गोले के समान भारतवर्ष के समाज पर फटा और लोग तिलमिला उठे। सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया पर उसके प्रकाशित करने का जो उद्देश्य था वह पूरा हो गया। उसमें असन्तुलित ढंग से धर्म, रीति-रिवाज, नैतिक आदर्शों और यौवन-सम्बन्धी विचारों पर खुल कर चोट की गई थी।

इसकी शैली भी नई थी और योरप का प्रभाव स्पष्ट रूप से देख पड़ता था। कला की दृष्टि से इन कहानियों में कई प्रकार की त्रुटियाँ थीं क्योंकि इनमें समस्याओं के समझने के बदले उन त्रुटियों की हँसी उड़ाई गई थी जो ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से उत्पन्न हुई थीं। परन्तु इसका प्रभाव यह पड़ा कि नए लेखकों ने उन कहानियों की निर्भीकता और वास्तविकता को अपना कर जीवन के मर्मों को खोलना आरम्भ किया और समस्याओं को उस पृष्ठभूमि में देखा जो राजनीतिक दास्ताँ और आर्थिक दुर्दशा ने पैदा की थी।

इन लेखकों में से कुछ समय पहिले तक अहमदअली को एक ऊँचा स्थान प्राप्त था। वह अंग्रेज़ी भाषा के एक अच्छे जानकार और लेखक हैं। उनकी जन्म-भूमि दिल्ली है और वहां की बोल-चाल की भाषा का प्रयोग वह बड़ी सुन्दरता से करते हैं। अब वह पाकिस्तान में हैं और बहुत कम लिखते हैं। उनके तीन संग्रह "शोले", "हमारी गली" और "क़ैदख़ाना" प्रकाशित हो चुके हैं। उनके विषय सामाजिक और मानसिक होते हैं और बहुधा वह प्रतीकों से काम लेते हैं। उन्होंने कभी-कभी योरप के प्रतीकवादियों का अनुसरण भी किया है। कला की दृष्टि से वह एक सफल लेखक हैं पर विचारधारा की दृष्टि से वह कभी-कभी अस्पष्टता की ओर बहक जाते हैं।

रशीद जहाँ, जिनकी मृत्यु अभी कुछ समय पहिले मास्को में हुई, उर्दू की एक बड़ी लोकप्रिय लेखिका थीं। वह जीवन की गुप्त कामनाओं और मनोभावों का उल्लेख बड़ी सफलता से करती थीं। समाज की बुराइयों पर उनकी चोट गहरी होती थी। उनका विचार था कि गन्दगी को छिपाने के बदले उसे सबके सामने रख देना चाहिए जिससे वह समाज की बिगड़ी हुई स्थिति को समझ लें और क्रान्ति के लिये तैय्यार हो जाएं। उनकी कहानियों में मनोरंजन के साथ-साथ एक प्रकार का व्यंग भी मिलता है जो पढ़नेवाले को बहुत प्रभावित कर देता है। मध्यम-वर्ग के पारिवारिक जीवन के चित्रण में उन्हें बड़ी निपुणता प्राप्त थी। उन्होंने लिखा तो बहुत पर उनका एक ही संग्रह "औरत" के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस युग के गल्प साहित्य के सबसे बड़े कलाकार कृष्णचन्द्र हैं। उनका जन्म पंजाब में हुआ, बालपन काश्मीर में बीता और ऊँची शिक्षा लाहौर में प्राप्त की। कुछ समय तक वकालत करते रहे और उसी

के साथ-साथ उर्दू और अंग्रेज़ी में कुछ लेखों की रचना भी की। आरम्भ में कुछ हास्य-जनक कहानियाँ और लेख लिखे। सन् १९३५ ई० के लगभग उनकी रोमानों से भरी हुई कहानियाँ पसन्द की जाने लगीं और वह अपना अधिक समय कहानी लिखने में बिताने लगे। जब उनकी कहानियों का पहिला संग्रह "तिलिस्मे-ख्याल" प्रकाशित हुआ तो उसमें लोगों ने आश्चर्यजनक नवीनता और मनोरंजक सरलता पाई। सभी कहानियाँ रोमानी थीं पर उनमें पता चलता था कि इनका लेखक-जीवन और मनोभावों के विश्लेषण के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण लेकर आया है। थोड़े ही समय में उन्हें बड़ी महत्ता प्राप्त हो गई और बिरली ही कोई पत्रिका ऐसी होगी जिसमें उनकी कहानियाँ न छपती हों। कुछ समय के लिए उन्होंने रेडियों में नौकरी कर ली थी। फिर उससे अलग होकर अपना सारा समय साहित्यिक कामों में बिताने लगे। जीविका के लिए फ़िल्मी कहानियां भी लिखते हैं।

कृष्णचन्द्र ने लगभग अट्ठारह वर्ष में कहानियों के अट्ठारह संग्रह प्रकाशित किए हैं। कई उपन्यास लिखे हैं और अच्छे लेखों का संकलन किया है। फ़िल्म और रेडियो के लिए बहुत से नाटक भी लिख चुके हैं। इस स्थान पर केवल उनकी कहानियों का उल्लेख किया जाता है। उनकी कहानियों के उल्लेखनीय संग्रह यह हैं, "नज़्ज़ारे", "ज़िन्दगी के मोड़ पर", "टूटे हुए तारे", "अन्नदाता", "तीन गुंडे", "समुन्दर दूर है", "अजन्ता से आगे", "हम वहशी हैं" और "मैं इन्तज़ार करूँगा"। जो भी कृष्णचन्द्र की कहानियों का अध्ययन करेगा उसे शीघ्र ही मालूम हो जाएगा कि वह एक उच्चकोटि के कलाकार हैं जो जीवन के ऊँच-नीच, उसकी तरंगों और कल्पनाओं, आशाओं और स्वप्नों, दुखों और वेदनाओं से भलीभाँति परिचित हैं। उनका एक सामाजिक दृष्टिकोण है जो उन्हें यह बताता है कि स्वतंत्रता, शान्ति और सुखभोग हर प्राणी के लिए आवश्यक है। आधुनिक सामाजिक स्थिति में वर्गों की विभिन्नता, जनता की आर्थिक दुर्दशा, शासन प्रबन्धकों के अत्याचार और पूँजीपतियों की लूट देखकर उनका क़लम विष में डूबकर चलता है। ऐसे अवसरों पर वह अत्याचारियों पर व्यंग के तीर भी बरसाते हैं। जनता के प्रति उनका सच्चा प्रेम, मानव जाति के भविष्य पर विश्वास और अत्याचार के विरुद्ध घृणा प्रगट करने की इच्छा उनकी कहानियों का विषय हैं। उनकी कला जीवन के परिवर्तित

साधनों के संग चलती है। जन-साधारण के हितों की रक्षा और करुणाजनक जीवन से उनके लिए अमृत निकाल लेने की चेष्टा कृष्ण चन्द्र का प्रिय विषय हैं। राजनीतिक और सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर वह दीप लिये खड़े हैं और वह राह दिखाना चाहते हैं जो उन्नति और शान्ति की ओर जाता है।

कृष्ण चन्द्र की भाषा बड़ी भावपूर्ण, रंगीन, मीठी और सजीव होती है। ऐसा जान पड़ता है कि वह अपने लेखों में जादू भर देते हैं और पाठक उनके साथ हो जाता है। कभी कभी उनका उद्देश्य उनकी कला पर छा जाता है और उनके लक्ष्य का प्रभाव पूर्ण रूप से नहीं पड़ता परन्तु वह इतने बड़े कलाकार हैं कि ऐसे समय में भी अपनी बात बना ले जाते हैं। उनकी कला में कमी देखी जा सकती है पर उनके विचार सदैव जनता के कल्याण के लिए होते हैं। और यही उनकी लोकप्रियता का आधार है।

सआदत हसन मंटू भी वर्त्तमान युग के बहुत बड़े साहित्यकार माने जाते हैं। पंजाब के रहने वाले हैं और बालपन ही से लिख रहे हैं। उनकी कहानियां कला की दृष्टि से कभी कभी कृष्ण चन्द्र और दूसरे लेखकों की कहानियों से भी समपूर्ण होती हैं। उन्होंने अपने विचारों को केवल विषयों में सीमित कर लिया है इसीलिए कभी कभी यह विचार प्रगट किया जाता है कि वह जीवन की बहुत सी महत्वपूर्ण समस्याओं से आँखें चुराते हैं। उनकी अधिकतर कहानियाँ अश्लील होने से बाल-बाल बच जाती हैं और कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि वह केवल लोगों को छेड़ने के लिए आग्रह पूर्वक इसी विषय पर लिखते हैं। अश्लीलता का दोष लगाकर उन पर कई दफ़ा मुक़द्दमा चलाया जा चुका है। उनकी कला की विशेषता यह है कि उनकी कहानियों में बहुत से नाटकीय मोड़ आते हैं जो साधारण समस्याओं और परिस्थितियों को जीवित और प्रभावपूर्ण बना देते हैं। एक ही विषय पर इतने अनुपम ढंग से बहुत सी कहानियाँ लिख डालना मंटू ही का काम है। वासनाओं में डूबे हुए युवकों और युवतियों, वेश्याओं और समाज के गिरे हुए लोगों का चित्रण मंटू से बढ़कर अब तक उर्दू का कोई कलाकार नहीं कर सका है। उन्होंने बहुत लिखा है और किसी समय भी उनके लिखने का वेग धीमा नहीं पड़ा है। उनके कुछ संग्रहों के नाम यह हैं, "धुँआँ", "मंटू के अफ़सानें", 'लज्जते-संग",

"नमरूद की ख़ुदाई", "ख़ाली डिब्बे ख़ाली बोतलें", "ठंडा गोश्त", "सियाह हाशिये", "यज़ीद", "चुग़द", "बादशाहत का ख़ातिमा" और "सड़क के किनारे" इत्यादि। मंटू ने बहुत से एकांकी नाटक और फ़िल्मी कहानियाँ भी लिखी हैं।

राजेन्द्र सिंह बेदी वर्त्तमान उर्दू लेखकों में एक विशेष स्थान रखते हैं। उनकी कहानियों के केवल तीन संग्रह "दानओ-दाम", "गरहन" और "कोखजली" प्रकाशित हुए हैं। वह कम लिखते हैं पर उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह कला की दृष्टि से शुद्ध और सम्पूर्ण होता है। उनकी कहानियों का विषय भी जन-जीवन की वही समस्याएँ हैं जो सुखों और स्वप्नों को भंग कर देती हैं और मनुष्य की आन्तरिक दुर्दशा उसके बाह्य जीवन को एक हास्यजनक अवस्था में पहुँचा देती है। उनकी कहानियाँ ऐसी सुन्दर, सजीव, गठी हुई और प्रभावपूर्ण होती है कि उनका एक एक शब्द और एक-एक वाक्य नपा-तुला जान पड़ता है। वह इस बात को कभी नहीं भूलते कि एक छोटी सी कहानी में कोई विचार और कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिये। यही कारण है कि वह भी उर्दू के तीन चार गिने-चुने कथाकारों मे गिने जाते हैं। वह बम्बई में रहते है और फ़िल्मों के लिए कहानियां लिखते हैं।

इस्मत चुग़ताई वर्त्तमान युग की सबसे लोक-प्रिय स्त्री लेखक हैं। वह जोधपुर की रहने वाली हैं, अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त की है और अब बम्बई के फ़िल्मी संसार में जीवन बिता रही हैं। अब से कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व अपनी पहली ही दो-तीन कहानियों में उन्होंने पढ़ने वालों को चौंका दिया और सबने इस मान लिया कि साहित्य क्षेत्र में एक नए कलाकार का आगमन है जिसके पास कहने को कुछ नई बातें हैं और वह उन्हें रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सकता है। इस्मत मध्यम-वर्ग के मुसलमान परिवारों के आन्तरिक जीवन की इतनी जानकारी रखती है कि उनकी कहानियाँ पढ़कर उस श्रेणी के परिवारों का नैतिक, आर्थिक और मानसिक जीवन आखों के सामने आ जाता है। उनके क़लम में जादू और उनकी शैली में विलक्षण शक्ति है। अपनी प्रारम्भिक कहानियों में कभी-कभी उन्होंने भी यौन-सम्बन्धी जीवन का चित्रण करते हुए अश्लीलता के सामने सर झुका दिया है पर उनकी वास्तविकता उनकी अश्लीलता पर पर्दा डाल देती है। स्त्रियों की बोल-चाल, उनका रहन-सहन, उनकी इच्छाओं और कामनाओं का

चित्रण इस्मत से अच्छा कोई और नहीं कर सका है। उनकी निर्भीकता आश्चर्यजनक है पर वह उससे समाज के नेताओं और ठेकेदारों को चोट पहुँचाने का काम लेती हैं। वह प्रथम श्रेणी की कलाकार हैं और जो भी उनकी कहानियाँ पढ़ेगा वह उनकी प्रगतिशीलता और मानव-प्रेम को सराहे बिना न रहेगा। उन्होंने नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं जिनका उल्लेख कहीं और होगा। उनकी कहानियों के चार संग्रह यह हैं, "कलियाँ", "चोटें", "एक बात" और "छुई मूई"।

उपेन्द्र नाथ 'अश्क' हिन्दी और उर्दू दोनों में सामान्य रूप से जाने जाते हैं। उन्होंने प्रेमचन्द से प्रेरणा लेकर कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था पर धीरे-धीरे अपना मार्ग आप बना लिया है। उनकी कहानियाँ भी विशेष कर मध्यम वर्ग के सामाजिक जीवन पर निर्धारित होती हैं। मानव जाति की आर्थिक स्थिति में सुधार और समाज के नैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन उनके प्रिय विषय हैं। वह कवि भी है और नाटककार भी। उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं और लेख भी। सभी आलोचक इस बात को मानते हैं कि कहानियों में उनको वह निपुणता न प्राप्त हो सकी जो नाटक लिखने में हुई है। उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें "कोंपल", "डाचा", "चट्टान" और "नासूर" उल्लेखनीय हैं।

अख़्तर अन्सारी उर्दू के एक बड़े साहित्यिक हैं, पर दुर्भाग्य से उनको जो यश प्राप्त होना चाहिए था वह न हो सका। कुछ लोगों ने उन्हें केवल कवि के रूप में देखा और कुछ ने आलोचक के रूप में, पर वास्तव में वह कवि और आलोचक से बढ़कर एक कथाकार हैं। अपनी कहानियों में वह सचाई, सादगी और कलात्मक सुन्दरता से बड़ी गहरी और विचारणीय समस्यायें प्रस्तुत कर जाते हैं। उनकी कहानियाँ जीवन की छोटी छोटी घटनाओं पर आधारित होती हैं। वह भी कला पर बहुत ध्यान देते हैं और एक समय में केवल एक घटना से एक ही प्रभाव पैदा करने की चेष्टा करते हैं। उनकी कहानियों के तीन संग्रह प्रसिद्ध हैं "अन्धी दुनिया" "ख़ूनी" और "नाज़ो"।

अख़्तर हुसैन रायपूरी ने सन् १९३५ ई० के लगभग थोड़ी-ही सी कहानियाँ लिख कर बड़ा यश प्राप्त कर लिया। जब वह अलीगढ़ में पढ़ते थे उसी समय उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था। वह संस्कृत, हिन्दी, बंगला और फ़ान्सीसी भी जानते हैं और इन भाषाओं

से उन्होंने कई महत्वपूर्ण अनुवाद भी किए हैं, विशेषकर "शकुन्तला" नाटक और क़ाज़ी नज़रुल-इस्लाम की कविताओं का अनुवाद बड़ा महत्व रखते हैं। कथाकार होने के अतिरिक्त वह एक अच्छे आलोचक भी हैं और प्रगतिशील आन्दोलन के आरम्भ में उनके लेखों से नवयुवकों को बड़ी प्रेरणा मिली पर कुछ समय बीतने के बाद वह धीरे-धीरे इस आन्दोलन से दूर होते चले गए और सरकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने लगे। अब वह पाकिस्तान में एक बड़े सरकारी नौकर हैं और उन्होने लिखना बहुत कम कर दिया है। बंगला और हिन्दी से प्रभावित होकर उन्होने जो कहानियाँ लिखीं वह उर्दू के साहित्य-क्षेत्र में बड़ी नवीन और सुन्दर समझी गईं। उनकी कहानियों के दो संग्रह "मोहब्बत और नफ़रत" और "ज़िन्दगी का मेला" प्रकाशित हो चुके हैं।

उर्दू के एक और प्रसिद्ध कहानी लेखक हयातउल्लाह अन्सारी हैं। उन्होंने पन्द्रह-सोलह वर्ष में बहुत कुछ लिखा है पर उनकी कहानियों का केवल एक संग्रह "भरे बाज़ार में" अब तक प्रकाशित हुआ है। वह उर्दू के प्रसिद्ध दैनिक "क़ौमी आवाज़" के सम्पादक हैं और बहुत सी राष्ट्रीय संस्थाओं में भाग लेते हैं। वह गांधी जी के साथ कुछ दिन उनके आश्रम में भी रह चुके हैं और गांधीवाद के बहुत बड़े उपासक में गिने जाते हैं। इसका प्रभाव उनके लेखों पर भी देखा जा सकता है। कम लिखने पर भी उनको उर्दू के कथाकारों में एक विशेष स्थान दिया गया है। मनोभावों के विश्लेषण और उनको जीवन की प्रत्यक्ष परिस्थितियों से सम्बन्धित करने में वह निपुण हैं इसीलिए लगभग उनकी प्रत्येक कहानी कला का एक अच्छा नमूना समझी जाती है। उनकी विचार धारा तर्कपूर्ण होती है और वहीं यह अनुमान नहीं होता कि वह कहानी में कृत्रिमता पैदा कर रहे हैं। जीवन के वास्तविक और सुन्दर चित्रण वह इस प्रकार करते हैं कि उनकी कहानियों में जीवन का समन्वय देख पड़ता है। उनकी भाषा सरल, शुद्ध और सरस होती है।

पंजाब के ग्रामीण जीवन का सबसे सुन्दर चित्रण करने वाले अहमद नदीम क़ासिमी और बलवन्त सिंह हैं। क़ासिमी ने अपनी कविताओं की भाँति आरम्भ में कहानियाँ भी रोमानी ढंग की लिखीं जिनमें प्रेम के जीते-जागते चित्र गीतों की मधुर भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं पर कुछ

समय बीतने के बाद उन्होंने प्रगतिशील सामाजिक विषयों को अपनाया और बड़ी महत्वपूर्ण कहानियों की रचना की। इन कहानियों में निम्न वर्ग के लोगों और समाज के पीड़ित जन-जीवों की करुणा जनक आत्मा जाग उठती है। उनकी भाषा बड़ी सुन्दर और रोचक है। कहानी कहने का ढंग ऐसा है जिसमें सरलता और भावुकता मिली-जुली हैं। उनके बहुत में संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें "चौपाल", "बगूले", "आबले", "सन्नाटा", 'आँचल" और "दरो दीवार" प्रसिद्ध है। बलवन्तसिंह में भी एक अच्छे कथाकार के बहुत से गुण एकत्र हो गए हैं पर उनके विचारों का प्रभाव बहुत गहरा नहीं पड़ा। उनकी सामाजिक चेतना उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचती जहाँ से वह पीड़ित जनों को प्रगति का पथ दिखा सकें। फिर भी उनकी बहुत सी कहानियाँ कला की दृष्टि से बड़ी सम्पूर्ण और सुन्दर हैं। उनके संग्रहों में से "जग्गा", "तारो-दूद", "सुनहरा देश" और 'पहला पत्थर" प्रसिद्ध हैं।

अख़तर ओरीनवी बिहार के प्रसिद्ध साहित्कार हैं। उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं और अलोचनाएँ भी, उपन्यास और नाटक भी, पर उन्हें जो यश कहानियाँ लिख कर प्राप्त हुआ वह किसी और साहित्य क्षेत्र में नहीं हो सका। उनके भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जैसे "मंज़र व पसमंज़र", "भूल भुलइयाँ और अनार कली", "कलियाँ और काँटे"। उनकी कहानियों में सामाजिक चेतना मनोभावों के रास्ते से प्रस्तुत होती है इसीलिए वह उन लेखकों में गिने जाते हैं जो जीवन के चित्रण में मानव विज्ञान से काम लेते हैं उनके विपरीत बिहार ही के एक और कथाकार सुहैल अज़ीमाबादी हैं जो सामाजिक विषयों पर लिखते हुए उस परम्परा का पालन करते हैं जो प्रेमचन्द ने चलाई थी। बिहार के ग्रामीण जीवन के सुन्दर चित्र सुहैल ही की कहानियों में देखे जा सकते हैं।

ख़्वाजा अहमद अब्बास जो एक प्रसिद्ध पत्रकार और लेखक हैं, कथा साहित्य के संसार में भी एक ऊँचा स्थान रखते हैं। उनकी कहानियाँ जीवन की साधारण घटनाओं और समस्याओं से जन्म लेती हैं। कहीं उनमें राजनीतिक और सामाजिक चेतना का अनुभव होता है और कहीं बड़े सरल ढंग से एक प्रेम कहानी कह दी जाती है। प्रगतिशील लेखकों में उनको भी बड़ा महत्व प्राप्त है। उनके संग्रहों में "एक

लड़की", "ज़ाफ़रन के फूल", "मैं कौन हूँ", और "कहते हैं जिसको इन्क़" बड़े लोक प्रिय हैं।

मुमताज़ मुफ़्ती और मोहम्मद हसन असकरी ने भी अवचेतन मनोभावों का विश्लेषण करते हुए कहानियाँ लिखी हैं और अधिकतर केवल अज्ञात और छिपी हुई भावनाओं और वासनाओं का चित्रण किया है। कभी-कभी इन कहानियों में सामाजिक चेतना का अंश भी मिल जाता है वरन् अधिकतर इनमें व्यक्ति जीवन को साधारण धारा से अलग केवल रोगियों और बीमारों के अनुभवों का पता चलता है। मुमताज़ मुफ़्ती के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें "अनकही", "चुप" और "गहमा गहमी" प्रसिद्ध हैं। हसन असकरी के दो संग्रह "जज़ीरे" और "क़यायत हम-रिकाब आए न आए" प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने कई अंग्रेज़ी और फ्रान्सीसी उपन्यासों के अनुवाद भी किए हैं। वह एक अच्छे आलोचक हैं और उनकी गद्य शैली बड़ी सुन्दर और सजीव है। विचार धारा की दृष्टि से वह फ्रांस के पतनशील लेखकों से बहुत प्रभावित हैं और प्रगतिशील विचारों के कड़े आलोचक माने जाते हैं।

अज़ीज़ अहमद ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं जिनमें अधिकतर वासना और यौनो जीवन की कामनाएँ अश्लीलता से बचते हुए प्रगट की गई हैं। उनकी कहानियों में एक प्रकार की मांसिक विचार धारा भी देख पड़ती है। उनके दो संग्रह "रक़्से-नातमाम" और "बेकार दिन बेकार रातें" प्रकाशित हो चुके हैं।

हंसराज रहबर उर्दू और हिन्दी दोनों में लिखते हैं। वह मार्क्स वाद और वास्तविकता के उपासक हैं और बड़ी सादगी से साधारण जीवन का चित्रण करते हैं। उनकी कहानियों के दो संग्रह प्रसिद्ध हैं, "नया उफ़क़" और "हम लोग"। उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं और आलोचनात्मक निबन्ध भी। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। इन लेखकों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे हैं जिनका उल्लेख कथा साहित्य के सम्बन्ध में करना आवश्यक है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो कुछ साल पहिले बड़ा यश प्राप्त कर चुके हैं पर अब नए लेखकों ने उनका स्थान ले लिया है, उनमें से कुछ के नाम यह हैं, एम० असलम, ल० अहमद, जलील क़िदवाई, मजनूं गोरखपुरी, मिर्ज़ा अदीब, हामिदुल्लाह अफ़सर,

हिजाब इस्माइल इत्यादि। इनमें से हर एक के कई-कई संग्रह विद्यमान हैं। स्थान की कमी के कारण उन नए लेखकों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना असम्भव है जो बड़े लोकप्रिय हैं और जिनकी कहानियाँ बड़े उत्साह से पढ़ी जाती है जैसे ग़ुलाम अब्बास (आनन्दी), महेन्द्रनाथ (चाँदी के तार, जहां मैं रहता हूँ, माई डारलिंग होटल, नई बीमारी, हिन्दुस्तान से पाकिस्तान तक), हाजरा मस्रूर (चरके, हाए अल्लाह) ख़दीजा मस्तूर (खेल, बौछार, चन्द रोज़ और), मुमताज़ शीरीं (अपनी नगरिया), कुर्रतुल-ऐन (सितारों से आगे, शीशे का घर), क़ुदरत्तुलाह शहाब (नफ़साने), अनवर (आग की आग़ोश में) प्रेमनाथ परदेसी (दुनिया हमारी) इब्राहीम जलीस (ज़र्द चेहरे, चालीस करोर भिखारी, तिकोना देस इत्यादि), ए० हमीद (ख़िज़ाँ का गीत) सिद्दीक़ा बेगम (हिचकियाँ, लरज़ते आँसू, रक़्से-बिस्मिल), रज़िया सज्जाद ज़हीर, शौकत सिद्दीक़ी (तीसरा आदमी), इन्तिज़ार हुसैन (गली कूचे), प्रकाश पंडित (मीरास) इत्यादि।

जिन लेखकों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं उनमें से कई आज के बहुत अच्छे लेखकों में गिने जाते हैं। वह भारतवर्ष के जीवन, वर्गों के संघर्ष, मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं और देश की दुर्दशा से भली-भाँति परिचित हैं और इनमें से अधिकतर ऐसे हैं जो बड़ी सुन्दरता से उन स्वप्नों और कल्पनाओं का चित्र खींचते हैं जो एक जनतन्त्र को मनुष्य के प्रति पूरा करना चाहिए।

उर्दू में उपन्यास साहित्य के आरम्भ का उल्लेख हो चुका है पर आधुनिक जीवन की सभी समस्याओं को लेकर और जन साधारण को उपन्यास का नायक बनाकर जिसने पहिले पहल उपन्यास रचना की वह प्रेमचन्द ही हैं। प्रेमचन्द के आरम्भ के उपन्यासों में वह निपुणता और कलात्मक सम्पूर्णता नहीं मिलती जो उनकी कहानियों में पाई जाती है पर उनके अन्तिम जीवन के लिखे हुए उपन्यासों में केवल गहरे अनुभवों ही का चित्रण नहीं मिलता बल्कि कला की दृष्टि से भी उनमें सुन्दरता पाई जाती है। आरम्भ के उपन्यासों में प्लाट में जो ढीलापन पाया जाता था वह बाद में दूर हो गया, विशेषकर अपने अन्तिम उपन्यास "गोदान" में उन्होंने कला और विषय दोनों का समन्वय इस प्रकार किया है कि उन्हें सदैव बड़े कलाकारों की श्रेणी में गिना जाएगा।

वैसे तो प्रेमचन्द ने लगभग एक दरजन नाविल लिखे, और १७-१८ वर्ष की आयु ही से लिखना आरम्भ कर दिया था पर उन्हें यश "बाज़ारे-हुस्न" लिखने पर प्राप्त हुआ। यह उपन्यास बाद में "सेवासदन" के नाम से हिन्दी में छपा। इसके अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण उपन्यासों में "बेवा", "चौगने-हस्ती" (रंग-भूमि), "मैदाने-अमल" (कर्म-भूमि) और "गोदान" हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के सम्बन्ध में भी विचारधारा की दृष्टि से वही बातें कही जा सकती है जो उनकी कहानियों के बारे में कही गई हैं। यहाँ भी वही जनता के सबसे बड़े उपन्यास-कार देख पड़ते हैं।

मिर्ज़ा रुसवा और प्रेमचन्द्र के अतिरिक्त उर्दू के कई लेखकों ने वेश्याओं के करुणाजनक जीवन का चित्रण बड़े हृदय विदारक ढंग से किया है। क़ारी सरफ़राज़ हुसैन के कई उपन्यास और सज्जाद हुसैन कसमंडवी का "नशतर" इसके उदाहरण हैं। परंतु नवीन मनोविज्ञान और सामाजिक चेतना को सामने रखकर जिसने इस समस्या को छेड़ा है वह क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार हैं जिन्होंने अपने अनुपम उपन्यास "लैला के ख़ुतूत" में एक वेश्या की करुण कहानी बड़े रोचक ढंग से कही है। समस्या का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है कि इसका अन्त दार्शनिक हो गया है। इस पुस्तक में भावुकता और गम्भीरता का ऐसा मेल है कि पढ़नेवाला आनंद भी प्राप्त करता है और प्रश्न की गम्भीरता से चिंतित भी होता है। उनकी भाषा सुन्दर और भावपूर्ण है। क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार एक बहुत प्रसिद्ध पत्रकार भी हैं और लेखक भी। उनकी बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से "हयाते-अजमल", "आसारे-अबुल कलाम", "आसारे-जमालुद्दीन अफ़ग़ानी", "अजीब", प्रसिद्ध हैं। १९४७ ई० से वह अनजुमन तरक़्क़ीए-उर्दू (हिन्द) के मंत्री का पद सम्भाले हुए हैं।

नए ढंग का पहिला उपन्यास "लन्दन की एक रात" सज्जाद ज़हीर ने सन् १९३९ ई० में लिखा। सज्जाद ज़हीर ने कई वर्ष लन्दन और पेरिस में बिताए थे और वहाँ के साहित्यिक प्रयोगों से प्रभावित थे। इस उपन्यास में उन्होंने योरप की कई साहित्यिक शैलियों का स्वयं प्रयोग किया है परंतु इसका महत्व केवल इसलिये नहीं है कि इसकी रचना में योरप से प्रेरणा मिली है बल्कि यह वह पहिला उपन्यास था जिसमें भारतवर्ष के युवकों की कल्पनाओं और कामनाओं को

यहाँ की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि में देखा गया। भारतवर्ष के कुछ विद्यार्थी जो लन्दन में उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए गए हैं और मध्यवर्ग के सम्पन्न परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं, संसार के बदलते हुए जीवन से प्रोत्साहित होकर भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं। उपन्यास के अधिकतर पात्र स्वप्नलोक के रहने वाले और आदर्शवादी प्रतीत होते हैं और यौनी जीवन के दुराचारों में फंसे हुए हैं। पर अपनी मातृ-भूमि की दशा से चिंतित होकर जब उनका स्वप्न टूटता है तो अंग्रेज़ों के प्रति घृणा की भावना उनमें जाग उठती है। नए उपन्यास कला में यह एक सफल प्रयोग था जिससे कई नए लिखने वाले प्रभावित हुए। सज्जाद ज़हीर जौनपुर के एक ऊँचे सुशिक्षित घराने से सम्बन्ध रखते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा लखनऊ में प्राप्त की फिर लन्दन चले गए। बैरीस्टरी की परीक्षा पास करके लन्दन में ही मुल्कराज आनंद और अन्य लेखकों के साथ मिलकर भारतीय प्रगतिशील लेखकों की संस्था स्थापित की और भारतवर्ष लौटकर यहाँ के राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी आन्दोलनों में सम्मिलित हुए। उर्दू तथा हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों के संगठन में उनका बड़ा हाथ है। कथा-साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने बहुत से महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। इसीलिए वह क्रान्तिकारी और प्रगतिशील लेखकों के नेता समझे जाते हैं। इस समय वह कम्युनिस्ट विचार रखने के अपराध में पाकिस्तान में बन्दी जीवन बिता रहे हैं।

कृष्ण चंद्र जिनका उल्लेख कहानी के लेखकों के साथ हो चुका है एक अच्छे उपन्यासकार भी हैं। इस समय तक उनके चार उपन्यास "शिकस्त", "जब खेत जागे", "तूफ़ान की कलियां" और "उल्टा दरख़्त" प्रकाशित हो चुके हैं। जब उनका पहिला उपन्यास "शिकस्त" छपा तो आलोचकों ने उसके मूल्यांकन में बड़े मतभेद प्रगट किए पर सच यह है कि काश्मीर के जीवन और वहाँ के कृषक जाग्रण का इससे सजीव, चैतन्य और सहानुभूतिपूर्ण उल्लेख और कहीं नहीं मिलता। उपन्यास कला की दृष्टि से इसमें त्रुटियाँ हैं पर इसे पढ़कर एक जीता जागता काश्मीर हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है। "तूफ़ान की कलियां" भी काश्मीरी जीवन और नवजाग्रण का सुन्दर चित्रण करता है। "जब खेत जागे" में तिलंगाना के किसानों के क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक साधारण नवयुवक किसान के जीवन

चरित्र में प्रस्तुत किया है। कृष्णचन्द्र की गद्य शैली असाधारण सुन्दरता और ताज़गी रखती है।

प्रसिद्ध कथाकार इस्मत चुगताई ने भी दो उपन्यास लिखे हैं जिनके नाम हैं—"ज़िद्दी" और "टेढ़ी लकीर"। ज़िद्दी की पृष्ठभूमि सामाजिक होने पर भी रोमानी जान पड़ती है। उसकी वास्तविकता में आदर्शवाद की एक ऐसी स्पष्ट झलक है कि उसका प्रभाव बहुत हल्का हो जाता है। "टेढ़ी लकीर" अवश्य एक महत्वपूर्ण रचना है। बालपन के मनोभावों और आन्तरिक उलझनों का इतना सुन्दर चित्रण किसी और उपन्यास में देखने में नहीं आता। मध्यवर्ग के एक मुसलमान परिवार का जीवन इसमें बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। अवश्य है कि इसका अंतिम भाग इसके आरम्भिक भाग से कुछ अच्छी तरह जुड़ा हुआ नहीं जान पड़ता क्योंकि राजनीतिक समस्याओं को जिस प्रकार इसमें लाया गया है वह वास्तविक होते हुए भी उस स्थान पर अनुचित जान पड़ती हैं। इस्मत को भाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त है और वह पात्रों की बातचीत ऐसे स्वाभाविक ढंग से लिखती है कि यथार्थता का अनुभव बढ़ जाता है। प्रगतिशील लेखकों में उनका स्थान बड़ा ऊँचा है।

अज़ीज़ अहमद वर्तमान युग के बहुत लोक प्रिय उपन्यासकारों में से हैं। इस समय तक उनके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें, "गुरेज़", ऐसी कुलटा ऐसी सती" "शबनम" प्रसिद्ध हैं। उनकी कहानियों की भाँति उनके उपन्यास भी कामदेव की आँख मिचौली से भरे हुए हैं। उनके लगभग सभी पात्र वासनाओं में अस्त होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास कला की दृष्टि से वह बड़े निपुण हैं। कई भाषाएँ जानने के कारण वह योरप की अच्छी शैलियों से प्रभावित हुए हैं पर उनकी सबसे बड़ी भूल यह है कि वह यौनी जीवन का विश्लेषण करते हुए जीवन की दूसरी बड़ी-बड़ी समस्याओं से आँखें बन्द कर लेते हैं।

जब १९४७ ई० में हिन्दू-मुस्लिम दंगों से रक्त की नदियाँ बह निकलीं तो उर्दू के सभी अच्छे लेखकों ने उस पर कुछ न कुछ लिखा। कई उपन्यास भी इसी समस्या को आधार बना कर लिखे गए। इनमें केवल रामानंद "सागर" की रचना "और इन्सान मर गया", क़ुदरतुल्लाह शहाब की "या ख़ुदा" और क़ुर्रतुल ऐन हैदर की "मेरे भी सनमख़ाने"

महत्व रखती हैं। सागर का उपन्यास लेखक की सहृदयता, मानव-प्रेम और अत्याचार के विरुद्ध घृणा का पता देता है पर इसमें भावुकता का अंश इतना अधिक है कि दुराचारों के विरुद्ध मनुष्य हार मानने के सिवा और कुछ नहीं कर सकता। शहाब की रचना कला की दृष्टि से सर्वोतम है अगर्चे उसमें कहीं कहीं साम्प्रदायिकता की झलक देख पड़ती है। क़ुर्रतुल ऐन ने "मेरे भी सनमख़ाने" लिख कर बड़ा यश प्राप्त किया। इसमें १९४७ के झगड़ों का उल्लेख कम है पर जितना भी है वह बड़े करुणा जनक ढंग से लिखा गया है। उन्होंने एक और उपन्यास "सफ़ीनए-ग़मे-दिल" भी लिखा जिसका अस्त्र बहुत ऊंचा नहीं है। अवध के उच्चवर्ग और मध्यमवर्ग के बुद्धि-जीवों के आचार-विचार और रहन-सहन का चित्रण जिस सुन्दरता से उन्होंने किया है वह कहीं और नहीं मिलता।

कुछ समय पूर्व डाक्टर अहसन फ़ारूक़ी ने "शामे-अवध" के नाम से एक उपन्यास की रचना की जिसमें ग़दर के बाद के लखनऊ की स्थिति और सामाजिक दुर्दशा का चित्रण बड़े वास्तविक ढंग से किया है और मिटती हुई नव्वाबी सभ्यता की तस्वीर खींची है पर इसमें किसी प्रकार की ऐसी गहराई पैदा नहीं हो सकी जिसमें स्थिति की गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता। फिर भी भाषा की सुन्दरता और पात्रों के सच्चे चित्रण के कारण यह उपन्यास अपना एक स्थान रखता है। उन्होंने कई और भी उपन्यास लिखे हैं जो कोई ऐसी विशेषता नहीं रखते जिसका उल्लेख हो सके।

इस अध्याय में बहुत से अच्छे उपन्यासकारों का वृतान्त नहीं हो सका। इनमें से कई तो ऐसे हैं जिन्होंने कई रचनाएं कीं और कुछ लोग उन रचनाओं पर मुग्ध भी हैं पर जब हम उनका अध्ययन साहित्य-आलोचना की दृष्टि से करते हैं तो वह बहुत लोकप्रिय होने पर भी महत्वपूर्ण नहीं देख पड़ते, जैसे, एम० असलम, रशीद अख़्तर नदवी, रईस अहमद जाफ़री, क़ैसी रामपूरी इत्यादि। इनके अतिरिक्त फ़ैय्याज़ अली के दो उपन्यास "शमीम" और "अनवर" वारम्बार प्रकाशित होते हैं और बहुत पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार पं० किशन प्रसाद कौल के उपन्यास "श्यामा", "मजबूरे-वफ़ा" और "साधू और बेसवा" भी लोक प्रिय हैं और सुधार की भावना से भरे हुए होने के कारण महत्व भी रखते हैं। आदिल रशीद, महेन्द्रनाथ और ए०

हमीद ने भी थोड़े दिनों में बड़ा यश प्राप्त किया है और जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

उपन्यास पूंजीवादी और नई स्थिति में नए मार्गों पर विकसित होती हुई सभ्यता का चित्रण जिस ढंग से करता है वैसे साहित्य के किसी और रूप में नहीं होता इसलिये संसार की सभी जीवित भाषाओं में उपन्यास कला को बड़ा महत्व प्राप्त हो गया है। इस समय उर्दू के बहुत से नए लेखक उपन्यास लिखने में नई शैलियों का प्रयोग कर रहे हैं। कुछ के प्रयोग सफल हैं और कुछ के असफल पर ऐसा जान पड़ता है कि उर्दू साहित्य के इतिहास में शीघ्र ही कुछ अच्छे उपन्यास-कारों को जगह मिल जाएगी। उर्दू में अंग्रेज़ी, फ्रांसिसी, रूसी और अरबी उपन्यासों के अच्छे अच्छे अनुवाद हुए हैं और इससे नए लेखकों को प्रेरणा मिल रही है।

उर्दू में नाटक की उन्नति इतनी नहीं हुई जितनी होना चाहिए थी। इसके कई कारण हैं पर मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि यहाँ ऐसे मंच का विकास नहीं हो सका जो नाटककारों को आकृषित करे। इसके अतिरिक्त अधिकतर नाटककार फ़िल्म और रेडियो के लिए लिख रहे हैं फिर भी इधर कुछ वर्षों में प्रो० मुजीब, इम्तियाज़ अली "ताज" "अश्क", बेदी, कृष्णचंद्र, इश्रत, अहमद अब्बास, मन्टू, मिर्ज़ा अदीब, रफ़ी पीर इत्यादि ने बहुत से नाटक लिखे हैं और प्रकाशित कराए हैं जिन्हें बड़े उत्साह से पढ़ा जाता है। अच्छे अच्छे विदेशी नाटकों के अनुवाद भी हो रहे हैं पर अभी उन्नति का पथ दूर तक फैला हुआ देख पड़ता है जिस पर इन नाटककारों को चलना है।

उर्दू साहित्य में हास्य जनक लेखों का एक अच्छा भंडार मौजूद है। गद्य और पद्य दोनों में हास्य रस के उत्तम श्रेणी के साहित्यकार जन्म ले चुके हैं इनमें से कुछ का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है और कुछ का संक्षेप में अब किया जाएगा। इस समय कुछ ऐसे अच्छे हास्यजनक लेखक एकत्र हो गए हैं कि इसे उसका स्वर्णयुग कहा जा सकता है इनमें से कुछ केवल हंसी के फूल बरसाते हैं और कुछ उसी के साथ व्यंग के तीर भी चलाते हैं। इनमें रशीद अहमद सिद्दीक़ी सर्वोत्तम हैं इनका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। इनके अतिरिक्त अज़ीम बेग चुग़ताई, पतरस बुख़ारी, शौकत थानवी, इम्तियाज़ अली "ताज" नाकारा हैदराबादी, हाजी लक़लक़, सिन्दबाद

जहाज़ी, कृष्ण चंद्र, कन्हैया लाल कपूर, शफ़ीक़ुर्रहमान इत्यादि ने बड़े उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं।

अज़ीम बेग चुग़ताई की मृत्यु सन् १९४१ ई० में समय से कुछ पूर्व हो गई पर उन्होंने कहानियों और उपन्यासों की लगभग २० पुस्तकें छोड़ी हैं। वह जोधपुर के रहने वाले थे, अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त की थी और जीविका के लिए वकालत करते थे। पहला लेख "शरीर बीबी" लिखते ही उनकी धूम मच गई और थोड़े ही समय में उन्होंने "कोलतार", "ख़ानम", "चमकी", "कमज़ोरी ","जन्नत का भूत" इत्यादि कई रचनाएँ प्रकाशित करा डालीं। ये पुस्तकें अब भी बड़े उत्साह से पढ़ी जाती हैं, इनमें से कई के हिन्दी और दूसरी भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके हैं। उनकी कहानियाँ अधिकतर मध्यवर्ग के मुसलमान परिवारों का जीवन प्रस्तुत करती हैं। उनके पात्र आवश्यकता से अधिक उछल कूद करने वाले देख पड़ते हैं। वह हास्य जनक घटनाओं से नाटकीय स्थिति पैदा करते हैं। कहा जाता है कि वह सदैव रोगी रहे इसलिए उन्होंने शय्या पर पड़े पड़े अपने जीवन के निकम्मेपन और आलस्य को अपने पात्रों को चंचल बनाकर मिटाने की चेष्टा की।

पतरस ने केवल कुछ ही लेख लिखे हैं, उन्हीं को एकत्र करके एक संग्रह "पतरस के मज़ामीन" के नाम से प्रकाशित कर दिया गया है। इसी एक संग्रह में उनको उर्दू के हास्य जनक लेखकों की पहली श्रेणी में रखा जाता है। उनके यहाँ हँसी अधिकतर बातों से पैदा होती है पर उनकी बातें एक प्रकार की गम्भीरता भी रखती हैं। उनके लेख कहानी और निबंध के मिश्रण से एक नई चीज़ बन जाते हैं। मनोविज्ञान की जानकारी और सुन्दर शैली दोनों से मिलकर उनकी रचनाएँ ऐसी नवीनता ग्रहण कर लेती हैं जो उर्दू के किसी और लेखक में नहीं पाई जाती।

शौकत थानवी की आयु अभी ५० वर्ष से कम ही होगी पर उनकी तीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके लिए भी यही हुआ कि सन् १९३२ के लगभग उन्होंने एक कहानी "स्वदेशी रेल" लिखी और उसी दिन से वह एक बड़े लेखक गिने जाने लगे। शौकत शब्दों के प्रयोग और वाक्यों से भी हँसी पैदा करते हैं और ऐसी हास्य जनक स्थिति का चित्रण भी करते हैं जो हँसने पर मजबूर करें। उनकी बुद्धि की तीव्रता साधारण बातों को भी मनोरंजक बना देती हैं। उनकी कुछ पुस्तकों के नाम यह हैं:—"मौजे-तब्बसुम", "तूफ़ाने-तब्बसुम",

"जोड़-तोड़", "सवतिया चाह", "कार्टून", "मा बदौलत", ससुराल" इत्यादि। वह कविताएँ भी लिखते हैं और रेडियो के लिए बड़े लोकप्रिय हास्यजनक नाटक भी लिखते हैं जिनके अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

नए लेखकों में कन्हैया लाल कपूर ने कई बहुत अच्छे हास्य-जनक और व्यंगपूर्ण लेख लिखे हैं। वह पंजाब के रहने वाले हैं और एक कालिज में अंग्रेज़ी भाषा के अध्यक्ष हैं। उनके लेखों में अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध हास्यजनक लेखकों का प्रभाव देखा जा सकता है। इस समय तक उनके लेखों के पांच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं :—"संगो-खिश्त", "शीशा-व तेशा", "चंगो-रबाब", "नोके-नश्तर" और "बालो-पर"। उनके लेखों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना के अंश व्यापक रूप से मिलते हैं। पढ़ने में उनके लेख बड़े सरल और साधारण देख पड़ते हैं पर उन्हीं शब्दों के नीचे हास्य और व्यंग के तीर छिपे होते हैं। दिन प्रति-दिन उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील और शैली रोचक होती जाती हैं।

शफ़ीक़ुर्रहमान भी पंजाब के रहनेवाले हैं और बड़े लोकप्रिय लेखकों में गिने जाते हैं। उनके सम्मुख कोई सामाजिक या राजनीतिक विषय नहीं है फिर भी उनके लेख साधारण जीवन से मनोरंजक कहानियाँ बना लेते हैं। उनकी लोकप्रियता का मर्म युवकों और युवतियों की साधारण भूल-चूक और ग़लतियों के उल्लेख में है। उनके विषय गम्भीर नहीं होते पर एक घुटन से भरे वातावरण में उनकी कहानियाँ आनन्दमयी स्वप्नों के रूप में आती हैं और जीवन के दुःखों का बोझ कम करती हैं। उनके कुछ संग्रहों के नाम ये हैं:—"परवाज़", "शिगूफ़े", "हिमाक़तें", "लहरें" और "किरनें" इत्यादि।

उर्दू में हास्यजनक गद्य-रचना की परम्परा १९वीं शती के अन्तिम वर्षों में अवध पंच ने आरम्भ की थी। और जैसे-जैसे भारतवर्ष में नए और पुराने का संघर्ष बढ़ता गया, नैतिक जीवन दुर्बल होता गया और राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति जटिल होती गई, उतना ही हास्य और व्यंग के लिए विषय मिलते गए। जब वास्तविक जीवन और विचारों में बड़ा अन्तर रहने लगा उस समय उर्दू के लेखकों ने सोच-विचार कर उसकी ओर ध्यान दिया और कहा जा सकता है कि भारत

वर्ष की अन्य आधुनिक भाषाओं को देखते हुए उर्दू में भी हास्यप्रिय साहित्य का कोष विस्तृत और उत्तम है।

वर्तमान युग में जिस साहित्यिक रूप ने सब से अधिक प्रगति की है, वह आलोचना है। पिछले अध्याय में इस ओर संकेत किया गया था कि नए लेखक जो किसी न किसी प्रकार से राष्ट्रीय और विश्व-प्रगतिशील आन्दोलनों से प्रभावित है, आलोचना के सम्बन्ध में भी नया दृष्टिकोण रखते हैं। इनमें से जो आलोचक हैं उनका विचार है कि साहित्य सामाजिक जीवन से प्रभावित होता है और जीवन को प्रभावित भी करता है। साहित्य के श्रोतों को जानना, साहित्यकार की चेतना के अस्त्र को समझना और जीवित रहने के लिए संघर्ष करते हुए आदर्शों से परिचित होना एक आलोचक के लिए आवश्यक है। रचनात्मक साहित्य का निर्माण करने वाले भी इन्हीं सीमाओं के अन्दर रह कर काम करते हैं। इसलिए यदि कुछ आलोचक उत्तरदायित्व का अनुभव रखते हुए जीवन और कला के सम्बन्ध पर ज़ोर देते हैं तो इसका यही अर्थ होता है कि उस रचना को दूसरी रचनाओं से अलग कर लिया जाए जो जीवन-धारा का विश्लेषण कर के उसे और प्रबल बनाने की प्रेरणा देती है।

वैसे तो मौलाना हाली के समय से ही साहित्य को थोड़ा बहुत समाज की पृष्ठि भूमि में देखने का सिलसिला शुरू हो गया था पर १६३० ई० के बाद से जिस प्रकार भारतवर्ष के समस्त जीवन में प्रगतिशीलता के चिह्न दिखाई देने लगे और साहित्य नए मार्ग पर बढ़ने लगा उसी प्रकार आलोचना में भी जांच-पड़ताल के नए सिद्धान्तों से काम लिया जाने लगा। इसमें सबसे अधिक सहायता उनको मार्क्सवाद के अध्ययन से मिली। इस सम्बन्ध में सबसे पहिला महत्वपूर्ण लेख अख्तर राएपूरी ने १६३५ ई० में "अदब और ज़िन्दगी" के शीर्षक से लिखा। आज उसमें बहुत सी त्रुटियां और बहुत कच्चापन देख पड़ता है, उसके तर्क अशुद्ध और उसके परिणाम ग़लत हैं पर उस लेख ने एक नया रास्ता अवश्य दिखाया। अख्तर ने और बहुत से लेख लिखे पर धीरे-धीरे वह मार्क्सवाद से दूर होते गए। उनकी आलोचनाओं के दो संग्रह "अदब और इन्क़िलाब" और "संगे-मील" प्रकाशित हो चुके हैं। अगर्चे एक सामाजिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण पहिले से मौजूद था परन्तु नई और विशेषकर

मार्क्सवादी आलोचना का आरम्भ भारतवर्ष के नए सामाजिक और आर्थिक जाग्रण के साथ हुआ और जब प्रगतिशील लेखकों ने अपने संघ की स्थापना की। यह वही समय है जब जनता की राजनीतिक चेतना ने जनतंत्र समाजवाद पर निर्भर स्वतंत्रता की मांग उठाई। सज्जाद ज़हीर, डा० अब्दुल अलीम, "फ़ैज़," सिब्ते हसन, सरदार जाफ़री, मुमताज़ हुसैन त्यादि ने मार्क्सवादी दर्शन-शास्त्र को सम्मुख रखकर साहित्य और जीवन के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की चेष्टा की। आलोचना का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण इतना व्यापक बन गया कि कुछ ऐसे लेखक जो पहिले केवल सौंदर्य-शास्त्र के आधार पर साहित्य का पाठ करते थे, आलोचना के नाम पर अपने आन्तरिक मनोभावों को प्रस्तुत करते थे, इस नयी आलोचना पद्धति की ओर चले आए। इनमें फ़िराक़ गोरखपुरी, मजनूं गोरखपुरी और डा० एजाज़ हुसैन उल्लेखनीय हैं। फ़िराक़ जिस प्रकार कविता में शृंगार रस में डूबी हुई गज़लों के घेरे को तोड़कर जीवन की नई चेतना की ओर बढ़े उसी प्रकार अपनी आलोचना में उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि को महत्व देना आरम्भ किया। पर यह बात स्पष्ट रूप से देख पड़ती है कि वह आलोचना में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पूर्णरूप से अपना न सके। उनकी विचारधारा नवीन होते हुए भी सौंदर्यशास्त्र के नीचे दबी रही। उनके निबन्धों के दो संग्रह "अंदाज़े" और "हाशिए" प्रकाशित हो चुके हैं और एक पुस्तक "उर्दू की इश्क़िया शायरी" भी छप चुकी है। इनके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वह जीवन और साहित्य में एक प्रकार का भावपूर्ण और रचनात्मक सम्बन्ध चाहते हैं पर मार्क्सवादियों की तरह उसे मानव जाति के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रतिविम्ब सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करते।

मजनूं उर्दू साहित्य के बड़े प्रतिभाशाली आलोचकों में से हैं। उनका विश्व साहित्य का अध्ययन बहुत गहरा है। एक दार्शनिक दृष्टि-कोण रखने के नाते साहित्य के बारे में उनकी बातें कभी साधारण और विचारहीन नहीं होतीं। आरम्भ में उन्होंने जो निबन्ध लिखे उनमें अधिकतर उन्होंने केवल सौंदर्य और भावनाओं के खोजने की चेष्टा की थी और कवि या लेखक की व्यक्तिवादिता पर बहुत ज़ोर दिया था। उनके ये लेख बड़े सुन्दर होते थे और साहित्य से आनंद प्राप्त करने में बड़ी सहायता करते थे किन्तु बाद में उन्होंने भी अपना मार्ग बदला

और साहित्य को मनुष्य के आर्थिक जीवन में संघर्ष करती हुई आत्मा का प्रतिबिम्ब समझने लगे। उनके लिखने का ढंग इतना अच्छा है कि वह भी उतनी ही रोचक और रचनात्मक होते हैं। एक कमी अलबत्ता कभी-कभी देख पड़ती है और वह यह है कि जब वह केवल सिद्धातों का विवरण करते हैं तो मार्क्सवाद को पूर्णतया अपनाते हुए जान पड़ते हैं पर जब किसी कवि या लेखक की रचनाओं की आलोचना करते हैं तो उनका पुराना दृष्टिकोण उनके लेखों में प्रवेश कर जाता है। आलोचना के सम्बन्ध में उनकी कुछ रचनाओं के नाम यह हैं:—"तनक़ीदी हाशिए", "अदब और ज़िंदगी" और "अफ़साना"।

डा० एजाज हुसैन इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उर्दू के मुख्य अध्यक्ष हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं। आरम्भ में उन्होंने भी आलोचनात्मक निबन्ध लिखते समय उसी रीति का पालन किया जो हाली, आज़ाद और शिबली के समय से चली आ रही थी। अंग्रेज़ी साहित्य की जानकारी के कारण उसकी सहायता से कभी-कभी एक प्रकार की नवीनता भी पैदा कर लेते थे पर उन लेखों में किसी प्रकार की राजनीतिक या सामाजिक चेतना का अनुभव नहीं होता था। पर प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर अब वह अपने लेखों में सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि अवश्य देते हैं। अब साहित्य उनके लिए भी जीवन-संघर्ष का प्रतिबिम्ब है। अब तक उनकी तीन रचनाएँ "आईनए-मारफत", "मुख़्तसर तारीख़े-अदबे-उर्दू" और "नए अदबी रुजहानात" प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी कई पुस्तकें छपनेवाली हैं जिनमें "उर्दू शायरी पर मज़हब का असर" बड़ी गंभीर और विचारशील रचना है।

अख़्तर अनसारी जिनका उल्लेख कथा साहित्य और काव्य-रचना के सम्बन्ध में हो चुका है एक अच्छे आलोचक भी हैं। "इक़ादी अदब" के नाम से उनकी एक छोटी-सी रचना प्रकाशित हुई है जो उनके प्रगतिशील विचारों का पता देती है। उन्होंने "एक अदबी डायरी" भी लिखी है जिसमें आलोचना के सिद्धान्तों पर गूढ़ विचार प्रगट किए गए हैं। अख़्तर ही नाम के एक और आलोचक पटना कालिज के अध्यक्ष हैं, उनका उल्लेख भी हो चुका है। उन्होंने बहुत से महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं जिनके दो संग्रह "तनक़ीदे-जदीद" और "तहक़ीक़ो-तनक़ीद" के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। वह भी मार्क्सवाद से प्रभावित हुए हैं पर उस विचार-धारा से उनके मतभेद भी हैं।

वर्तमान युग के प्रथम श्रेणी के आलोचकों में आले अहमद सरूर भी हैं। वह इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के मुख्य अध्यक्ष हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी-उर्दू साहित्य का बड़ा गहरा अध्ययन किया है। आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों को गवेषणापूर्ण दृष्टि से देखा है और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपना लिया है। आरम्भ से ही उनके लेख संतुलित और गहरे होते हैं। अन्य आलोचकों की भाँति वह भी धीरे-धीरे मार्क्सवाद के निकट आए हैं। उनकी बड़ी विशेषता यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए भी उनकी आलोचना रचनात्मक और साहित्यिक होती है। उनके विचार तर्कपूर्ण होते हैं पर कभी कभी उनकी शैली में भावुकता झलक उठती है। अंग्रेज़ी साहित्य का बहुत अच्छा अध्ययन होने के कारण वह अपने निबंधों में उससे बहुत काम लेते हैं और पश्चिम और पूर्व के साहित्य को वैज्ञानिक आलोचनात्मक सिद्धान्तों से रखने की चेष्टा करते हैं। वह यह बात कभी नहीं भूलते कि हर साहित्य अपनी एक परम्परा रखता है। यदि कोई लेखक उस परम्परा का उल्लंघन इस प्रकार करता है कि उसके मूल तत्व नष्ट हो जाएँ तो वह अपने साहित्य को ऊँचा नहीं उठा सकता। उनकी शैली बड़ी रोचक और साहित्यिक होती है। उनकी रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जैसे, "तनक़ीदी इशारे", "नए-पुराने चिराग़", "तनकीद क्या है ?" और "अदब और नज़रिया"। इनके अतिरिक्त, कई पुस्तकें प्रकाशित होने के लिए तैय्यार हैं।

नए लेखकों में पिछले आठ-दस वर्ष के बीच में मुमताज़ हुसैन ने असाधारण प्रगति की है। उनका दृष्टिकोण एकमात्र मार्क्सवादी है, और कहा जा सकता है कि जितना उन्होंने उससे साहित्य के समझने का प्रयास किया है, उर्दू के किसी दूसरे आलोचक ने नहीं किया। मार्क्सवादियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है पर मुमताज़ हुसैन के लेख पढ़कर उनकी व्यापकता और विस्तृत ज्ञान का अनुभव होता है। उनके लेख पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि जब तक कोई व्यक्ति विज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाज-शास्त्र और अन्य विद्याओं से भली भाँति परिचित न हो उसकी आलोचना में महानता नहीं पैदा हो सकती। उसके सम्बन्ध में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि कभी कभी उनकी भाषा कठिन और उलझी हुई होती है। अबतक उनके निबंधों के दो

संग्रह "नक़्दे-हयात" और "नई क़दरें" प्रकाशित हुए हैं। और कई रचनाएं प्रेस में हैं।

इधर कुछ वर्षों से डा० इबादत बरेलवी ने आलोचना-साहित्य में बड़ा नाम पैदा किया है। वह भी मार्क्सवाद से प्रेरणा लेते हैं किन्तु उसके सिद्धान्तों को उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से नहीं अपनाया है। वह साहित्य को सामाजिक जीवन पर निर्धारित समझते हैं पर उसे वर्ग-संघर्ष का परिणाम नहीं मानते हैं। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि वह कई विचार-धाराओं का समन्वय करते हैं। उन्होंने लखनऊ-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की और अब पाकिस्तान में उर्दू के अध्यापक हैं। उनकी तीन पुस्तकें "उर्दू तनक़ीद का इरतिक़ा," "रवायत की अहमियत" और "तनक़ीदी ज़ाविए" प्रकाशित हो चुकी हैं तथा कुछ और रचनाएँ प्रेस में हैं।

नए लेखकों में डा० मुहम्मद हसन ने थोड़े ही समय में बड़ी ख्याति प्राप्त की है। वह उपन्यास, नाटक और आलोचना सभी लिखते हैं पर उनका मूल-क्षेत्र आलोचना ही है। अभी उनकी केवल एक पुस्तक "अदबी तनक़ीद" प्रकाशित हुई है जिसके अध्ययन से उनके गहरे विचार, विस्तृत अध्ययन और तीव्र चेतना का पता चलता है। वह भी कई नए लेखकों की भाँति मार्क्सवाद से प्रभावित हुए पर उसे सम्पूर्ण रूप से कभी स्वीकार नहीं किया। सामाजिक विश्लेषण के साथ-साथ वह मनोवैज्ञानिक प्रभावों को भी महत्व देते हैं। उनके लेखों का अस्त्र ऊँचा और शैली सजीव है। उन्होंने भी पी० एच० डी० की उपाधि लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त की और अब अलीगढ़ में अध्यापक हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उर्दू के अधिकांश नए आलोचक किसी न किसी रूप में मार्क्सवाद से प्रेरणा लेते रहे हैं या कोई ऐसा सामाजिक दृष्टिकोण अपनाते रहे हैं जिससे साहित्य का विकास ऐतिहासिक प्रगति के सम्बन्ध में समझा जा सके। पर कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो केवल मनोवैज्ञानिक विचारधारा को ही ध्यान में रखते हैं। उनका विचार है कि साहित्य लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है, और उसकी रचनाओं को केवल कला के बने-बनाए सिद्धांतों की दृष्टि से परखना चाहिए। ऐसे आलोचकों में कलीमुद्दीन अहमद, डा० अहसन फ़ारूक़ी के नाम लिए जा सकते हैं। उन पर योरोपीय आलोचना-शास्त्र का जादू इस

प्रकार चल गया है कि वह उर्दू साहित्य को भी उन्हीं से परखना चाहते हैं। जब उनको इसमें सफलता नहीं होती तो वह झुंझलाते हैं और अपने आदर्शों को सन्मुख रख कर यह कह देते हैं कि इस साहित्य में कुछ भी नहीं है। इस स्थान पर मुहम्मद हसन अस्करी का उल्लेख भी किया जा सकता है जिनके आलोचनात्मक निबंध एक प्रकार की गम्भीरता रखते हैं, पर उन्होंने अधिकतर उन लेखकों और आलोचकों की निन्दा करना ही अपना कर्तव्य बना लिया है जो किसी प्रकार से साहित्य में मानव-प्रेम या प्रगतिशीलता के विचार प्रगट करते हैं। वह फ्रांस के पतनशील और प्रतीकवादी लेखकों से इतना प्रभावित हैं कि केवल उनसे मिलते-जुलते विचारों को साहित्य का मूल तत्व मानते हैं। उनके निबंधों का एक संग्रह "इंसान और आदमी" के नाम से कुछ समय हुए प्रकाशित हुआ।

स्थान की कमी के कारण यहाँ बहुत से अच्छे अच्छे आलोचकों का उल्लेख न हो सका, विशेषकर विक़ार अज़ीम, डा० अबुललैस सिद्दीक़ी और ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी का वर्णन होना चाहिए था। विक़ार अज़ीम ने कई पुस्तकें, जैसे "अफ़साना निगारी", "हमारे अफ़साने" और "नया अफ़साना" लिखी हैं जो लोकप्रिय हैं। अबुललैस ने "लखनऊ का दबिस्ताने-शायरी" और कुछ दूसरी रचनाएँ प्रकाशित कराई हैं। डा० ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी की रचनाएँ "क्लासिकी अदब" और "मीर तक़ी मीर" " लिखी हैं। इनके अतिरिक्त डा० नूरुल हसन हाशिमी, अज़ीज़ अहमद, डा० मसऊद हुसैन ख़ाँ, मुजतबा हुसैन और ख़लीलुर्रहमान के लेख भी गम्भीर होते हैं और बड़े उत्साह से पढ़े जाते हैं।

कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिनको केवल आलोचक नहीं कहा जा सकता बल्कि वह साहित्य, कला, शिक्षा, सांस्कृति, राजनीति और अन्य विषयों पर अधिकारपूर्ण लेख लिखते रहे हैं. जैसे डा० ज़ाकिर हुसैन, डा० आबिद हुसैन, प्रो० मुजीब और ख़्वाजा गुलामुस-सैय्यदैन। इन प्रभावशाली लेखकों की हर रचना उनके गूढ़ ज्ञान, मानव प्रेम और उदार विचारों का पता देती है। केवल साहित्य के क्षेत्र में नहीं वरन् भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में उनका एक ऊँचा स्थान है। इनमें से प्रत्येक ने उर्दू गद्य को ऊपर उठाया है। डा० आबिद हुसैन की "हिन्दुस्तानी क़ौमीयत और क़ौमी तहज़ीब" और "मज़ामिने-आबिद"

विचारशील और दार्शनिक महत्व रखते हैं। प्रो० मुजीब ने "रूसी अदब", "दुनिया की कहानी" और "तारीखें-फ़ल्सफ़ए-सियासियात" के नाम से बड़ी श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं। गुलामुस-सैय्यदैन ने "रूहे-तहज़ीब" और "उसूले-तालीम" लिखकर उर्दू के कोष में वृद्धि की है।

अन्त में लेखक कुछ पंक्तियों में अपना परिचय भी करा देना चाहता है क्योंकि बुरे-भले उसने भी उर्दू साहित्य की कुछ सेवा की है। मेरा जन्म १९१२ ई० में आज़मगढ़ (उ० प्र०) के एक गाँव में हुआ और मैंने शिक्षा आज़मगढ़ और इलाहाबाद से प्राप्त की। १९३२ ई० के लगभग लिखना आरम्भ किया और कहानी, नाटक, कविताएँ और अन्य विषयों पर लेख लिखता रहा। पर विशेष रूप से मैंने आलोचना-साहित्य के क्षेत्र में ही कुछ करने की चेष्टा की। साहित्य के सम्बन्ध में मेरे विचार इस पुस्तक में भी स्पष्ट हैं। केवल इतना और कहना चाहता हूँ कि मैं मार्क्सवाद को सबसे श्रेष्ठ दर्शन-शास्त्र समझता हूँ और उसी की सहायता से जीवन और साहित्य को समझने का प्रयास करता हूँ। मेरा विचार है कि आलोचना और आत्म-आलोचना के मार्ग पर चलकर हम उस सच्चाई को ढूँढ़ने में सफल हो सकते हैं जिससे जीवन के मर्म समझ में आ सकें। मेरा विश्वास है कि साहित्य के समझने में मार्क्सवादी दृष्टिकोण सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मेरी जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनके नाम यह हैं:— "वीराने" (कहानियों का संग्रह), "हिन्दुस्तानी लिसानियात का ख़ाका" (भाषा-विज्ञान), "तनक़ीदी जायज़े", "खायत और बग़ावत", "अदब और समाज", "तनक़ीद और अमली तनक़ीद", "समुन्दर और साहिल" (अमरीकी और योरप का यात्रा-वर्णन)।

यह हैं उर्दू भाषा और साहित्य के विकास का संक्षिप्त वृत्तांत। जो कोई भी इस कहानी को विचारपूर्वक पढ़ेगा उसे अनुभव होगा कि उर्दू साहित्य की उन्नति भारतवर्ष की सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति से बंधी रही है। उसमें त्रुटियाँ और कमियाँ भी रही हैं, विभिन्न उन्नतिशील और प्रतिक्रियावादी विचारों का संघर्ष भी रहा है परन्तु साधारणतः उसने प्रत्येक ऐतिहासिक मोड़ पर जीवन की परिस्थितियों का चित्रण और आशाओं, कामनाओं और स्वप्नों का उल्लेख किया है। भिन्न-भिन्न जातियों और धर्म के लेखकों ने उसकी पूँजी बढ़ाई है। उसने सदैव दासता के विरुद्ध स्वाधीनता का, अन्याय के

विरुद्ध न्याय का, साम्प्रदायिकता के विरुद्ध उदारता का, कठोरता के विरुद्ध सहृदयता का और असमानता के विरुद्ध समानता का साथ दिया है और उसकी साधारण गति अधिकतर प्रगति की ओर रही है। सामन्ती पतन के काल में उसने मानव-प्रेम और व्यक्ति की स्वतंत्रता के गीत गाए और जाग्रति के नए युग में देशभक्ति, मानव-प्रेम, स्वतंत्रता, जनतंत्र और सामाजिक न्याय पर ज़ोर दिया। इसलिए विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में उसका स्थान ऊँचा है। और जब कभी इस देश की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास लिखा जाएगा तो उर्दू साहित्य से उसमें बड़ी सहायता मिलेगी।

———

परिशिष्ट (१)

कुछ पारिभाषिक शब्द

१. **शेर:**—दो पंक्तियाँ, जिन की मात्राएँ बराबर हों, मिलकर "शेर" कहलाती हैं। हिन्दी के दोहे या चौपाई को शेर कह सकते हैं। हर पंक्ति को अलग-अलग "मिसरा" कहते हैं। ३ पंक्तियों से बने हुए छन्द को "मुसल्लस", ४ को "मुरब्बा", ५ को "मुख़म्मस", ६ को "मुसद्दस" कहते हैं। पंक्तियों के हर समूह को "बन्द" कहा जाता है। इनके अतिरिक्त भी बनावट की दृष्टि से कविता की क़िस्में होती हैं, जैसे "मुसम्मन", "मुसम्मत", "तरकीब बन्द" इत्यादि। इन रूपों में किसी विषय पर कविताएँ लिखी जा सकती हैं। अँग्रेज़ी के अनुसरण में १४ पंक्तियों के "सानेट" भी उर्दू में लिखे गए हैं।

२. **नज़्म:**—वैसे तो हर कविता को "नज़्म" कह सकते हैं पर साधारणतः ग़ज़ल को छोड़कर दूसरी कविताओं को नज़्म कहते हैं। वर्तमान काल में यह शब्द किसी विषय पर लिखी हुई नए ढंग की कविता के लिए प्रचलित है।

३. **ग़ज़ल:**—यह अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है "स्त्री से बात करना"। पर ग़ज़ल इसी में सीमित नहीं है। शृंगार रस और प्रेम-भावों के अतिरिक्त इसमें तसौव्वुफ़, दर्शन-शास्त्र, देश-भक्ति, नैतिक सिद्धान्त, राजनीति इत्यादि के विचार भी सरल, भावपूर्ण, सरस और मीठे शब्दों में प्रस्तुत किए जाते हैं। ग़ज़ल में अधिक-तर आन्तरिक भावों का उल्लेख होता है। प्रेमिका की सुन्दरता का वर्णन भी इसमें होता है। हर शेर अलग-अलग पूर्ण अर्थ रखता है और पूरी ग़ज़ल में आदि से अन्त तक एक ही विचार भी हो सकता है। इसमें गुल, बुलबुल, चमन, क़फ़स (पिंजड़ा) इत्यादि प्रतीक के रूप में आते हैं। ग़ज़ल का पहिला शेर "मतला" (उदय होने का स्थान) और अन्तिम शेर, जिसमें कवि का नाम होता है, "मक़ता" कहलाता है। हर शेर में पहिले शेर के तुक की पाबन्दी की जाती है। इसका रूप यह होता है:—

————क————क
————ख————क
————ग————क

४. क़सीदा:—उस कविता को कहते हैं जिसमें किसी धार्मिक या राष्ट्रीय नेता, बादशाह या किसी महान पुरुष की प्रशंसा की गई हो। इसके आरम्भ में भूमिका के जो शेर होते हैं उन में हर प्रकार के विषय हो सकते हैं किन्तु उनको किसी न किसी प्रकार से प्रशंसा के शेरों से सम्बन्धित हो जाना चाहिए। इस का रूप ग़ज़ल ही के ऐसा होता है पर ग़ज़ल के विपरीत इसका क्रमिक होना आवश्यक है। इसकी भाषा अधिकतर कठिन, विशाल और बनावटी होती है।

५. हज्व:—जिस कविता में किसी व्यक्ति, रीति, संस्था, समाज की निन्दा की गई हो उसको "हज्व" कहते हैं। इस में हास्य के साथ-साथ क्रोध और घृणा की भावना भी होती है। इसका कोई नियमित रूप नहीं है।

६. मसनवी:—लम्बी, क्रमिक कविता, जिसमें कोई कहानी कही गई हो या एक ही विषय पर विचार प्रगट किए गए हों, "मसनवी" कहलाती है। यह हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य से मिलती-जुलती चीज़ है। इसका छन्दिक रूप यह है:—

———क———क
———ख———ख
———ग———ग

७. मर्सिया:—करुण रस से भरी हुई उस शोकपूर्ण कविता को "मर्सिया" कहते हैं जिसमें किसी मरने वाले की प्रशंसा की गई हो। मर्सिया किसी का हो सकता है पर उर्दू में अधिकतर मर्सिये मुसलमानों के रसूल के नाती इमाम हुसैन और उनके परिवार के शोकजनक विनाश के सम्बन्ध में लिखे गए हैं। यज़ीद के सैनिकों ने बड़ी कठोरता से इमाम के मित्रों, बच्चों और नातेदारों को तीन दिन का भूखा-पियासा शहीद कर दिया और देवियों को लूट कर बन्दी बना दिया। मर्सिए में इसी का उल्लेख होता है। आरम्भ में मर्सिए का कोई नियत रूप न था पर अब अधिकतर मर्सिए मुसद्दस (६ पंक्तियों के बन्द) के रूप में लिखे जाते हैं। करबला की दुर्घटना पर कोई पुस्तक पढ़ ली जाए तो मर्सियों को भली-भाँति समझा जा सकेगा।

८. वासोख्त:—उस कविता को कहते हैं जिसमें प्रेमी प्रेम-जीवन के कष्ट और चिन्ताओं से घबरा कर प्रेमिका से जली-कटी बातें करने

लगता है। कहता है कि तुम में मैंने ही सुन्दरता खोज निकाली और पहिले-पहल प्रेम किया, अब तुम दूसरों की ओर झुक रहे हो, मैं भी किसी दूसरे से प्रेम करके तुमको जलाऊँगा।

९. **रेख़्ती:**—स्त्रीयों की भाषा में स्त्रीयों ही के सम्बन्ध में जो कविताएँ लिखी गई हैं, उनको "रेख़्ती" कहते हैं। इनमें स्त्रीयों के पारिवारिक जीवन और सामाजिक बन्धनों का वर्णन, और कभी अश्लील वर्णन होता है। इसके अध्ययन से भाषा की बड़ी जानकारी होती है। इसका रूप अधिकतर ग़ज़ल का होता है पर और रूपों में भी लिखी जाती है।

१०. **रुबाई:**—चार पँक्तियों की उस कविता को "रुबाई" कहते हैं जिसमें एक ही विचार प्रगट किया गया हो। इसमें हर प्रकार के विचार लाए जा सकते हैं पर अधिकांश दार्शनिक विचार होते हैं। इसी से मिलती-जुलती एक चीज़ और होती है जिसे "क़िता" कहते हैं। यह चार पँक्तियों से अधिक का हो सकता है। इसका रूप यह होता है:—

———क———क
———क/ख——क

"क़िते" का रूप ग़ज़ल के ऐसा होता है, कभी-कभी ग़ज़ल के बीच में भी "क़िता बन्द" शेर आ जाते हैं।

११. **दीवान**—अधिकतर ग़ज़लों के संग्रह को दीवान कहते हैं। इनमें पहिले (और कभी-कभी आजकल भी) ग़ज़लें अन्तिम अक्षर के हिसाब से लिखी जाती थीं। ऐसे अन्तिम अक्षर को "रदीफ़" कहते हैं। इस से ग़ज़लों के ढूँढने में सुविधा होती है। किसी कवि की समस्त रचनाओं के संग्रह को "कुल्लियात" (works) कहते हैं। साधारण रूप में दोनों शब्द एक ही अर्थ में बोले और लिखे जाते हैं।

१२. **तज़किरा:**—ऐसी पुस्तक जिस में कवियों की संक्षिप्त जीवनी और उनकी रचनाओं के उदाहरण दिए गए हों, "तज़किरा" कहलाती है। यह तज़किरे गवेषणात्मक नहीं होते पर इन से साहित्य का इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिलती है। उर्दू कवियों के तजकिरे भी अधिकतर फ़ारसी में लिखे गए हैं।

———

परिशिष्ट (२)

सहायक पुस्तकें

यह केवल सहायक पुस्तकों की एक संक्षिप्त सूची है इसमें साहित्य की मूल रचनाओं के नाम नहीं दिये गए हैं।

१. अंदाजे— रघुपति सहाय "फ़िराक़" गोरखपूरी
२. अदब और ज़िन्दगी— मजनूँ गोरखपूरी
३. अदब और इन्क़िलाब— अख़्तर राएपूरी
४. अदब और नज़रिया— आले अहमद "सुरूर"
५. अदब और समाज — एहतिशाम हुसैन
६. अदबीयाते-फ़ारसी में हिन्दुओं का हिस्सा—डा० स०मु० अब्दुल्लाह
७. अफ़साना— मजनूँ गोरखपूरी
८. अरबाबे-नस्रे-उर्दू— सैय्यद मुहम्मद
९. आबे-हयात— मौ० मुहम्मद हुसैन "आज़ाद"
१०. इन्तिक़ादियात (२ भाग)—नियाज़ फ़तहपूरी
११. उर्दू के असालीबे-बयान— डा० मुहीयुद्दीन "ज़ोर"
१२. उर्दूए क़दीम— शम्सुल्लाह क़ादिरी
१३. उर्दू की इश्क़िया शायरी— रघुपति सहाय "फ़िराक़" गोरखपूरी
१४. उर्दू ग़ज़ल— डा० यूसुफ़ हुसैन खाँ
१५. उर्दू ज़बान व अदब— स० ज़ामिन अली
१६. उर्दू में ड्रामा निगारी— बादशाह हुसैन
१७. उर्दू तनक़ीद का इर्तिक़ा— डा० इबादत बरेलवी
१८. उर्दू तनक़ीद पर एक नज़र—कलीमुद्दीन अहमद
१९. उर्दू मसनवी का इर्तिक़ा— अब्दुल क़ादिर सर्वरी
२०. उर्दू शायरी पर एक नज़र—कलीमुद्दीन अहमद
२१. उर्दू शहपारे— डा० मुहीयुद्दीन "ज़ोर"
२२. ख़ुतबाते गार्सां द तासी— गार्सां द तासी
२३. जदीद उर्दू शायरी— अब्दुल क़ादिर सरवरी
२४. तारीख़े-अदबे-उर्दू— रामबाबू सक्सेना
२५. तारीख़े-ज़बाने-उर्दू— डा० मसऊद हुसैन खाँ

२६. तनक़ीद और अमली तनक़ीद—एहतिशाम हुसैन
२७. तनक़ीद क्या है ?— आले अहमद "सुरूर"
२८. तनक़ीदी जाएज़े— एहतिशाम हुसैन
२९. तनक़ीदी हाशिये— मजनूँ गोरखपूरी
३०. तरक़्क़ी पसन्द अदब— अज़ीज़ अहमद
३१. तरक़्क़ी पसन्द अदब— अली सरदार जाफ़री
३२. दास्ताने-तारीख़े-उर्दू— हामिद हसन क़ादिरी
३३. दकन में उर्दू— नसीरुद्दीन हाशिमी
३४. दिल्ली का दबिस्ताने-शायरी— डा० नूरुल हसन हाशिमी
३५. नया अफ़साना— विक़ार अज़ीम
३६. नाटक सागर— मुहम्मद उमर नूर इलाही
३७. नाविल की तारीख़ और तनक़ीद— अली अब्बास हुसैनी
३८. नए अदबी रुजहानात— डा० एजाज़ हुसैन
३९. नए पुराने चिराग़— आले अहमद "सुरूर"
४०. मक़ालाते-गारसाँ द तासी गारसाँ द तासी
४१. मक़ालाते-शीरानी— हाफ़िज़ महमूद शीरानी
४२. मदरास में उर्दू— नसीरुद्दीन हाशिमी
४३. मुख़्तसर-तारीख़े-अदबे-उर्दू— डा० एजाज़ हुसैन
४४. मुक़द्दमाते-अब्दुल हक़ (२ भाग)—अब्दुल हक़
४५. मुक़द्दमए-शेरो-शायरी— मौलाना हाली
४६. मुवाज़नए-अनीस-व-दबीर— मौलाना शिब्ली
४७. रवायत और बग़ावत— एहतिशाम हुसैन
४८. लखनऊ का दबिस्ताने-शायरी— डा० अबुललैस सिद्दीक़ी
४९. शेरुल हिन्द (२ भाग)— अब्दुस्सलाम नदवी
५०. हमारी शायरी— सैय्यद मसऊद हसन रिज़वी
५१. हमारे अफ़साने विक़ार अज़ीम
५२. हिन्दुस्तानी क़ौमियत और क़ौमी तहज़ीब— डा० आबिद हुसैन
५३. हिन्दुस्तानी लिसानियात— डा० मुहीयुद्दीन "ज़ोर"
५४. हिन्दुस्तानी लिसानियात का ख़ाका—एहतिशाम हुसैन
55. Famous Urdu Poets and Writers
—*Sir Abdul Qadir.*

56. Influence of English on Urdu Literature
—*Dr. Abdul Latif.*

57. Some Characteristic & Tendencie of Modern Urdu Poetry— *Dr. Mohan Singh "Diwana"*

58 Spirit and Substance of Urdu Prose under the Influence of Sir Saiyed
—*Dr. S. M. Abdullah*

59. Urdu Literature—*Dr. Graham Bailey.*

60. Urdu Literature—*Dr. Mohan Singh "Diwana"*

६१. शेरो-शायरी (हिन्दी)— अयोध्या प्रसाद गोयलीय

६२. शेरो-सुख़न (हिन्दी) ५ भाग — „ „ „

———